सिद्धान्त विमर्श

सार्वदेशिक अ० भा० आर्य्य-प्रतिनिधि सभा,
देहली ।

ओ३म्

आर्य सिद्धान्त विमर्श

[प्रथम आर्य्य-विद्वत्सम्मेलन में पठित निबन्ध]

सम्मेलन तिथि—१६ से २२ अक्टूबर सन् १९३३ तक

सार्वदेशिक अ० भा० आर्य्य-प्रतिनिधि सभा, देहली
द्वारा प्रकाशित।

प्रथम वार १०००

सम्वत् १९९० विक्रमी

मूल्य १॥)

भूमिका

वैदिक धर्म, प्रकार की दृष्टि से दार्शनिक धर्म है, उसकी प्रत्येक शिक्षा दर्शन और विज्ञान से समर्थित है। ऐसा होते हुए भी, आर्य समाज के पुरुषार्थ का तुच्छ भाग भी उत्कृष्ट साहित्य के पैदा करने में व्यय नहीं होता। इस बात को लक्ष्य में रखकर अनेक बार विचार किया गया कि इस त्रुटि की पूर्ति करने के लिए सब से पहले किस साधन को काम में लाया जावे। अनेक विद्या प्रेमियों के साथ सलाह भी की गई और अन्त में सब की सम्मति से निश्चय किया गया कि "सार्वदेशिक विद्वत् आर्य सम्मेलन" का आयोजन किया जाय। सार्वदेशिक सभा की अंतरंग सभा में भी यह विषय पेश किया गया और प्रतिष्ठित सभा के विद्वान सदस्यों ने भी इस योजना को स्वीकार किया। प्रशंसित सभा के विद्या प्रेमी पुस्तकाध्यक्ष ला० ज्ञानचंद जी ठेकेदार ने पहले सम्मेलन का समस्त व्यय देना स्वीकार किया—सम्मेलन बुलाया गया और उसमें अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने अपने निबंध सुनाये और उन पर वादानुवाद भी हुआ। सम्मेलन की बैठक लगातार चार

दिन तक होती रही। सम्मेलन, अन्त में उत्तमत्ता के साथ विद्वानों के हृदयों में अपनी लोकप्रियता की छाया छोड़ता हुआ समाप्त हुआ और सभी उपस्थित विद्वानों ने इच्छा प्रकट की कि सम्मेलन को स्थिरता का रूप दिया जावे। अस्तु। उसी सम्मेलन में पढ़े गये कतिपय विद्वानों के निबन्ध विद्या-प्रेमी पाठकों की भेंट किये जाते हैं और आशा की जाती है कि उनसे अधिक लाभ उठाया जायगा।

बलिदान भवन,
देहली। } नारायण स्वामी

विषय-सूची

—:o:—

प्रथम

आर्य-विद्वत्सम्मेलन

स्वागताध्यक्ष

श्री० लाला ज्ञानचन्द जी आर्य्य

का

भाषण

पूज्य प्रधानजी तथा माननीय विद्वद्वृन्द !

मैं अपनी तथा देहली-निवासी आर्य समुदाय की ओर से आपका सहर्ष हार्दिक स्वागत करता हूँ। आप सब महानुभावों का सप्रेम तथा सादर सत्कार करता हूँ। इसमें सन्देह नहीं है कि भाषा का पण्डित न होने के कारण मैं ऐसे शब्दों में आपका स्वागत करने में असमर्थ हूँ जो कि आपके यथोचित मान, प्रतिष्ठा के लिए उचित हों। परन्तु मुझे तो इसमें भी सन्देह है कि

मैं किसी प्रकार के भी शब्दों से अपने उस हर्ष, प्रेम और आदर को प्रकट कर सकता हूँ, जो कि आपका स्वागत करने के लिये मेरे हृदय में हैं। क्योंकि प्रेम और हर्ष के समय तो मनुष्य शब्द-शास्त्र का पण्डित होते हुए भी गद्‌गद होकर मुग्ध सा हो जाता है। सच्चे प्रेम और आदर का प्रमाण शब्दों से नहीं, प्रत्युत अपने व्यवहार से ही दिया जा सकता है।

मैं तो सार्वदेशिक सभा का आभारी हूँ कि जिसकी कृपा से मुझे यह सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मैं तो इसमें अपना सौभाग्य समझता हूँ। यह हो सकता है कि हम देहली-निवासी हृदय से चाहते हुए भी आपके योग्य सम्मान देने और यथोचित आतिथ्य करने में कृतकार्य न हो सकें, परन्तु उसका कारण भी हमारी भूल अथवा अयोग्यता ही होगी, न कि प्रेम और उत्साह की न्यूनता। अतः यदि सेवा और सत्कार करने में कोई त्रुटि रह जाय तो आशा है कि आप महानुभाव उसको क्षमा करेंगे।

उद्देश्य

मेरी समझ में इस सम्मेलन का उद्देश्य यह है कि आर्य विद्वानों के पारस्परिक स्वतन्त्र विचार करने से वैदिक सिद्धान्तों तथा वैदिक-धर्म्म-सम्बन्धी कठिन समस्याओं का निर्णय होकर निर्णीत यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि हो, जिसके श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आर्य जनता के विचार और आचार सत्य, शुद्ध,

निश्चित और दृढ़ हों, उनके मन्तव्यों और कर्त्तव्यों के भेद दूर होकर उनमें एकता हो और आर्यसमाज में उत्कृष्ट साहित्य पैदा हो। जो सज्जन मत-मतान्तरों के भ्रमात्मक तथा द्वेष-जनक क्षुद्र मन्तव्यों और कर्तव्यों से निराश हो कर धर्म से भी विमुख हो गये हैं उनके सामने वैदिक धर्म की यथार्थता, सार्वजनिकता, उपयोगिता तथा आवश्यकता प्रकट हो, ताकि उनमें भी वैदिक धर्म अथवा मानवी धर्म का प्रचार हो। ऋषि दयानन्द-कृत भाष्य तथा ग्रन्थों का वास्तविक भाव जनता के सामने आये और उसके सम्बन्ध में होनेवाली आशङ्काओं का निवारण किया जाय, इत्यादि इत्यादि।

विचार-स्वातन्त्र्य और आर्यसमाज

सम्मेलन के उपर्युक्त उद्देश्य में मैंने विद्वानों के जिस पारस्परिक विचार को यथार्थ ज्ञान उपलब्धि का साधन बतलाया है, उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस समय जो वैदिक सिद्धान्त आर्यसमाज ने मान रखे हैं, उनमें परिवर्तन भी हो सकता है या नहीं। यदि सिद्धान्त निर्णीत और यथार्थ हैं और उनमें परिवर्तन नहीं हो सकता, तो फिर सम्मेलन की क्या आवश्यकता है। यद्यपि इसका स्पष्ट उत्तर देना विशेष कर ऐसे आर्यसमाजी के लिये बड़ा ही कठिन है जो कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों को निर्णीत और यथार्थ समझता हो; परन्तु सम्मेलन की आवश्यकता और उपयोगिता को भी अनुभव करता हो,

तथापि आर्यसमाज के नियम, धारा ४ अर्थात् "सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये", के आधार पर बिना संकोच यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन सम्भव भी है, और असम्भव भी। सम्भव उनमें कि जिनके रूप में मानवी भ्रान्त बुद्धि के हस्तक्षेप से अन्तर आ गया हो, असम्भव उनमें जो कि अभीतक निर्भ्रान्त अर्थात् नैसर्गिक सत्यों (Natural Truth) के रूप में ही विद्यमान हों। इसके अतिरिक्त स्मार्त विचारों और आचारों में भी काल और अवस्थाओं के अनुकूल परिवर्तन और समय समय पर सपक्षियों की भ्रान्ति तथा सन्देहों और विपक्षियों के आक्षेपों के निवारण की भी आवश्यकता रहती है। अतः इन सब कार्यों की पूर्ति के लिये विचार-शृङ्खला को जारी रखने के वास्ते विद्वत्-सम्मेलन की अत्यन्त आवश्यकता है।

उपर्युक्त उत्तर के मिलने के पश्चात् फिर यह प्रश्न होता है कि सम्मेलन में जो कुछ विचार होगा वह आर्यसमाज के माने हुए वैदिक सिद्धान्तों के बन्धन में बँधे रहकर केवल उनकी पुष्टि करने तक ही सीमित होगा, अथवा विद्वान् विचार करने में बिलकुल स्वतन्त्र होंगे, यदि बन्धन में बँधे रह कर ही यह विचार होगा, तब तक तो इसका कोई विशेष लाभ और नियम धारा ४ का अभिप्राय भी पूरा नहीं हो सकेगा, साधारणतया इसका यह उत्तर बड़ी सुगमता और शीघ्रता से दिया जा सकता है, कि विद्वान्

विचार करने में अवश्य स्वतन्त्र हैं। क्योंकि आर्यसमाज समूह-रूपेण विचार-स्वातन्त्र्य का मानने वाला है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होगा, कि यह प्रश्न भी इतना सुगम नहीं है कि जितना सुगम इसको समझकर ऊपर का उत्तर दिया गया है। क्योंकि आर्यसमाजियों में विचार-स्वातन्त्र्य का विषय भी निर्विवाद नहीं बल्कि विवादास्पद है, अथवा आर्यसमाजियों में भी विचार-स्वातन्त्र्य का अभिप्राय समझने में मतभेद है। इन मतभेद वालों को मुख्यतया चार प्रकार की निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१. प्रथम श्रेणी में वे सज्जन हैं जो कि विचार-स्वातन्त्र्य का यह अभिप्राय लेते हैं, कि आर्यसमाजी अपने विचार रखने में बिलकुल स्वतन्त्र हैं। वह चाहे किसी प्रकार के भी अपने विचार क्यों न रक्खें, यदि वह आर्यसमाज की आचार-पद्धति अथवा सदाचार के विरुद्ध आचरण नहीं करते तो वे आर्यसमाज के सभासद रह सकते हैं। कोई सभासद केवल विचार-विभिन्नता के कारण समाज से पृथक् किए जाने का दण्डनीय नहीं हो सकता, क्योंकि वैदिक धर्म आचार पर उचित बन्धन लगाते हुए भी मनुष्य की बुद्धि, और विचारों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। विचारों की परतन्त्रता दूसरे शब्दों में दिमाग़ी गुलामी है, कि जिसका ऋषि दयानन्द ने भी बलपूर्वक विरोध किया है। इसलिए आर्यसमाज को अपने सिद्धान्तों के मनवाने पर अधिक बल

नहीं देना चाहिये क्योंकि इससे स्वतन्त्र विचारों के सज्जन आर्यसमाज में प्रविष्ट नहीं हो सकते। यदि आर्यसमाज इसके विपरीत अपने सभासदों को विशेष मन्तव्यों के मानने के लिए बाधित करेगा, तो इससे आर्यसमाज को हानि पहुँचेगी, और आर्यसमाज भी एक प्रकार के विशेष मन्तव्यों के मानने वाला सम्प्रदाय बन जायगा।

२. द्वितीय श्रेणी में वे भाई हैं जो कि विचार-स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त आचार-स्वातन्त्र्य के भी पोषक हैं। इनके विचार में आर्यसमाज एक हस्पताल है कि जिसमें विचार और आचार हीनता के रोगियों को रहने का भी अधिकार है। इसलिए न केवल यह कि भिन्न-भिन्न विचार रखने वाले ही आर्यसमाज में रह सकते हैं, बल्कि भिन्न-भिन्न आचार रखने तथा आचार-हीन हो जाने वाले भी आर्यसमाज की सभासदी से नहीं हटाये जा सकते, अथवा यों समझिए कि इनका मत है कि जो मनुष्य एक वार आर्य-समाज में प्रविष्ट हो चुके हैं वे स्वयम् तो आर्य-समाज को छोड़ सकते हैं, परन्तु विचार और आचार विभिन्नता तथा हीनता आदि कोई भी ऐसा और कारण बिना मृत्यु के नहीं है, कि जिससे समाज इनको अपने में से निकाल सके।

३. तृतीय श्रेणी वाले भाइयों का मत है कि विचार-स्वातन्त्र्य का उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि आर्यसमाज की जहाँ

अपनी आचार-पद्धति है वहाँ उसके अपने कुछ मौलिक सिद्धान्त भी हैं, जिनका आचरण करना और मानना आर्यसमाजियों के लिए अनिवार्य है। जैसे कि आर्यसमाज के नियमों में वर्णित ईश्वर को सच्चिदानन्द तथा निराकार आदि मानना और वेद का पढ़ना-पढ़ाना आदि है।

इनका कथन है कि मुख्य सिद्धान्तों को छोड़ कर गौण सिद्धान्तों में मतभेद होने पर भी आर्य-समाज का सभासद रह सकता है। इनमें से कुछ भाई वेदों को अपौरुषेय मानने के सिद्धान्त को भी गौण समझते हैं, इनका ख़याल है कि ऋषि दयानन्द ने भी वेद को अपौरुषेय मानना अनिवार्य नहीं बतलाया।

४. चतुर्थ श्रेणी के वे महाशय हैं, जो कि आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि के बतलाये वैदिक मन्तव्यों और कर्त्तव्यों में ननु नच की गुंजायश ही नहीं समझते। वे ऋषि दयानन्द के लिखे हुए प्रत्येक अक्षर को ही श्रुति की भाँति सत्य मानते हैं। इनका मत है कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए यह अनिवार्य है, कि वह ऋषि के बतलाये छोटे-बड़े सभी वैदिक सिद्धान्तों और कर्तव्यों को पूर्णतया ज्यों का त्यों मानें, जो आर्यसमाजी ऐसा नहीं करता वह आर्यसमाज में नहीं रह सकता। यदि कोई आर्यसमाजी ऋषि के किसी विचार के विपरीत अपना विचार

प्रकट करता है तो उनके नज़दीक वह बाग़ी और अपराधी है। वह उसके आर्य-समाजी रहते हुए ऐसा करने की इजाज़त नहीं देते। ऐसे भाइयों के प्रकोप से डरते हुए ऋषि के कुछ एक निजी विचारों से मतभेद रखने वाले विचार-स्वातन्त्र्य के पक्षपाती भी अपने विचार प्रकट करने का साहस नहीं कर सकते। इन भाइयों के व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए इनके पक्ष में विचार-स्वातन्त्र्य का यही अभिप्राय हो सकता है कि आर्य-समाज से बाहर के लोग तो आर्य-समाज के माने हुए मन्तव्यों और कर्तव्यों की कड़ी से कड़ी समालोचना तथा इनसे मतभेद प्रकट करने वा कहने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं और इसी तरह आर्यसमाजी भी अन्य मतवादियों के विरुद्ध आचार विचार रखते हुए उनकी स्वतन्त्रता-पूर्वक समालोचना कर सकते हैं; परन्तु अपने माने हुए मन्तव्यों अथवा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार करने के लिए आर्य-समाजियों की स्वतन्त्रता सीमित है इत्यादि इत्यादि। यद्यपि उपर्युक्त मतभेद की विचार स्वातन्त्र्य के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से समालोचना करना अथवा उनके यथार्थ, अयथार्थ होने की व्यवस्था देना विद्वत्-मण्डल का ही काम है; मेरे जैसे साधारण व्यक्ति का नहीं। तथापि इस समय विचार-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मतभेद को प्रकट करके अपने आप को तटस्थ रखना भी न केवल यह कि उचित ही प्रतीत नहीं होता, बल्कि यथाबुद्धि अपनी सम्मति प्रकट करना मेरे लिये आवश्यक हो जाता है।

अतः निवेदन है कि मेरी सम्मति में आर्यसमाज के विचार-स्वातन्त्र्य के पोषक होने के यह अर्थ कदापि नहीं हो सकते, कि इसके सभासद् जिस प्रकार के चाहें अपने विचार रक्खें, अथवा नास्तिक, आस्तिक, एकेश्वरवादी, अनेकेश्वरवादी, ज्ञान, गङ्गा स्नान, तथा मद्यपान से मुक्ति और, वेद, बाइबिल व कुरान को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले आदि परस्पर विरोधी विचारों के रखने वाले भी आर्यसमाज के सभासद रह सकते हैं, क्योंकि आर्यसमाज के उपनियम धारा ३ के अनुसार वही मनुष्य आर्यसमाज के सभासद बने रह सकते हैं जो कि उसके नियमों में वर्णन किये गए मौलिक विचारों अथवा मन्तव्यों और आचारों को मानें, और आचरण में लायें। नास्तिक, वेद-विरोधी और मूर्ति-पूजक आदि आर्यसमाज के सभासद वैसे ही न बन सकते हैं, न रह सकते हैं जैसे कि शराब पीने वाले टैम्परेन्स सुसाइटी के। आर्यसमाज टैनिस क्लब तथा फ्री मेसन सुसाइटी जैसी कोई क्लब व सुसाइटी नहीं है कि उसमें इकट्ठे होने वालों की क्लब व लौज-सम्बन्धी क्रियापद्धति तो समान हो और धार्मिक विचार भिन्न-भिन्न भी हो सकें।

भिन्न-भिन्न विरोधी विचार वालों को आर्यसमाज का सभासद मानना दूसरे शब्दों में आर्यसमाज को बेअसूला मानना है। आर्यसमाज में जो समाज शब्द आता है, वह किसी दूसरे नियम रहित समाज में आये समाज शब्द की भाँति साधारण

अर्थों में नहीं, बल्कि विशेष अर्थों में आता है। क्योंकि वह नियमबद्ध और संगठनशील समाज है। इसके अपने मौलिक नियम और सिद्धान्त हैं। इनके मानने वाले ही इस के सभासद रह सकते हैं। समाज शास्त्र के विद्वान इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी विचारों-वाले मनुष्यों के समूह से क़भी कोई नियमबद्ध और संगठनशील समाज बन और संगठित रह ही नहीं सकता, और न इनकी अधिक से अधिक संख्या होने पर भी इनका कोई सामाजिक बल हो सकता है। चाहे वह सोशल, पोलिटिकल और धार्मिक, कोई भी समाज क्यों न हो, केवल निश्चित मन्तव्य और कर्तव्य ही हैं जो किसी नियमबद्ध समाज को बना, दृढ़ और संगठित रख सकते हैं। यह तो हो सकता है कि कोई नियमबद्ध संगठन-शील समाज भी अपने किसी नियम व सिद्धान्त को अशुद्ध और अनुपयोगी जान कर बदल दे, परन्तु यह कदापि नहीं हो सकता कि भिन्न-भिन्न तथा विरोधी विचारों वा निश्चित मन्तव्यों के रखने वाले परस्पर संगठित रह कर किसी नियमबद्ध समाज को बना और संगठित रख सकें। यदि केवल आचारपद्धति के अनुकूल आचरण अथवा सदाचार को ही आर्यसमाज के सभासद रहने का नियम मानेंगे, तो इस नियम की अतिव्याप्ति संसार भरके मत-मतान्तरों में रहने वाले सदाचारी मनुष्यों में हो जायगी, क्योंकि आर्यसमाज की आचारपद्धति

सार्वभौम सदाचार (आलमगीर अख़लाक़) के अनुरूप है, तो क्या वे आर्यसमाज के सभासद समझे या बनाये जा सकेंगे ऐसा मानना वास्तविकता से आँखें मूंदना है। सदाचारी होने के कारण इस अंश में वे आर्य तो हो सकते हैं; परन्तु आर्यसमाजी अथवा आर्यसमाज के सभासद नहीं हो सकते।

मुझे यह मालूम नहीं, कि विचारों में स्वतन्त्रता और आचारों में परतन्त्रता मानने वाले भाई किस हेतु के आधार पर यह मानते हैं, कि वैदिक धर्म्म मनुष्य के आचारों पर तो बन्धन लगाता है और विचारों अथवा बुद्धि पर नहीं। दूसरे शब्दों में वैदिक धर्म मानसिक गुलामी का तो समर्थक है, किन्तु दिमाग़ी गुलामी का नहीं। यदि इनका यह ख़याल हो कि मनुष्य के विचार करने और रखने की जो जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता है, वह इसके किसी समाज का सभासद और धर्म का अनुयायी होने पर भी रहनी चाहिये। जो समाज व धर्म इस स्वतन्त्रता पर बन्धन लगाता है, वह विचार-स्वातन्त्र्य का समर्थक नहीं हो सकता, तो वे फिर यह भी नहीं कह सकते कि आचारों पर बन्धन लगाना उचित है। क्योंकि फिर तो उन्हें यही मानना पड़ेगा कि समाज व धर्म को अपने सभासदों और अनुयायियों के विचारों पर ही नहीं; बल्कि आचारों पर भी बन्धन नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि मनुष्य को शुभाशुभ आदि कर्म करने की भी तो जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता प्राप्त है, फिर इसकी यह

स्वतन्त्रता क्यों छीनी जाय ? और यदि सामाजिक तथा धार्मिक मर्यादा की प्रवृत्ति और रक्षा के लिए समाज और धर्म का आचारों पर बन्धन लगाना उचित है, तो इनका विचारों पर भी बन्धन लगाना उचित ही नहीं बल्कि आवश्यक है। क्योंकि आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म की विचार-पद्धति का उसकी आचार पद्धति से वैसा ही घनिष्ठ तथा नैसर्गिक सम्बन्ध है जैसा कि, मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों का उसकी कर्मेन्द्रियों से; इसलिये इनको एक दूसरे से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। इनको एक दूसरे से पृथक् समझना इनके स्वरूप से अनभिज्ञता प्रकट करना है। यदि यह पृथक् हो जायँ तो दोनों ही व्यर्थ होजायँ। वैदिक धर्म केवल आचारों पर ही बन्धन नहीं लगाता, बल्कि विचारों पर भी उनके सत्य, शुद्ध, और पवित्र होने का बन्धन लगाता है। क्योंकि आचारों की भाँति विचार भी सत्यासत्य, तथा श्रेयस्कर और भयंकर हो सकते हैं।

परन्तु इस प्रकार अपने सभासदों पर विशेष मन्तव्यों व कर्तव्यों के मानने व करने का बन्धन लगाने पर भी आर्यसमाज सम्प्रदाय नहीं बन सकता, क्योंकि सत्य और व्यापक मन्तव्यों का मानना सम्प्रदाय होने का लक्षण नहीं है, चाहे वे विशेष ही क्यों न हों। यदि है तो काँग्रेस जैसे सार्वजनिक संगठन भी सम्प्रदाय बन जायँगे, क्योंकि इनके भी तो विशेष मन्तव्य होते हैं, और इनके मानने वाले ही उनके मेम्बर बने रह सकते हैं।

आर्यसमाज के अस्तित्व का निर्भर सम्प्रदायों की भाँति किसी व्यक्ति-विशेष तथा बुद्धिविरोधी विश्वासात्मक क्षुद्र साम्प्रदायिक विचारों और आचारों पर नहीं है, बल्कि बुद्धि-पूर्वक सार्वजनिक विचारों और आचारों पर है, इसलिये भी यह सम्प्रदाय नहीं है। और यदि इसके किसी विचार और आचार में परिवर्तन की आवश्यकता हो, तो, वह अपने नियम धारा ४ के अनुसार उसे बदल भी सकता है। इसलिये जब तक आर्यसमाज के नियमों में "सत्य-ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में उद्यत रहना चाहिये" की धारा ४ विद्यमान है तब तक वह अन्ध विश्वासी सम्प्रदाय नहीं बन सकता।

दूसरी श्रेणी वाले भाइयों का कथन तो आर्यसमाज के संगठन के नियमों तथा वैदिक शिक्षा के ही विरुद्ध है, क्योंकि आर्यसमाज के उपनियम धारा ३ व ४ के अनुसार इसके सभासद दो श्रेणियों में विभक्त हैं। एक आर्य जो कि नियमों को मानकर तदनुकूल आचरण करना स्वीकार करके अभी आर्य-समाज में सम्मिलित हुए हैं। दूसरे आर्य सभासद जो कि अपनी आय का शतांश देते और सदाचारपूर्वक रहते हुए वोट देने के अधिकारी बन चुके हैं, यदि विचारार्थ इस श्रेणी के महाशयों की इस अलौकिक परिभाषा को मान भी लिया जाय, कि आर्यसमाज हस्पताल है तो भी इसको केवल उसकी उपनियम धारा ३ अनुसार बनी हुई आर्य श्रेणी पर ही प्रयुक्त किया जा

सकता है कि जिसने अभी उपनियम धारा ४ के अनुसार आर्य-समाज के आचार-विचार की औषधि का सेवन करके अपने को स्वस्थ और योग्य बनाते हुए आर्य सभासदों की श्रेणी में परिणत होना है, न कि स्वस्थ आर्य सभासदों की श्रेणी पर।

आर्य श्रेणी में भी वही जिज्ञासु अर्थात् आध्यात्मिक स्वास्थ्य के इच्छुक रोगी ही रह सकते हैं, जो कि असाध्य तथा छूत रोग के रोगी न हों। जो भयंकर विचार तथा दुराचार रूपी प्लेगादि किसी असाध्य तथा छूत की बीमारी में ग्रस्त हों उन्हें तो आध्यात्मिक स्वास्थ्य के नियम उपनियम धारा ५ के अनुसार उपनियम धारा ३ के सेनीटोरियम से भी पृथक करना ही श्रेयस्कर होगा। ताकि वे दूसरों में भी वबा न फैला सकें, और यदि इस प्रकार के आचारहीन भी आर्यसमाज से पृथक नहीं किए जा सकते तब या तो आर्यसमाज का नाम बदल कर उसका नाम आर्यदस्यु-समाज रखना होगा, क्योंकि ऋ० १०।२२।८। के मंत्र "अकर्मादस्यु रभिनो अमन्तु रन्यव्रतो अमानुषः।" में ऐसे ही आदमियों को दस्यु कहा है अथवा उपर्युक्त विचार के महाशयों को ऐसे रोगियों के लिए अपना कारण्टीन आर्यसमाज से पृथक बनाना होगा, इसके अतिरिक्त यदि उपर्युक्त सम्मति को जीवन के इस अत्यन्त आवश्यक नैसर्गिक नियम की कसौटी पर भी जाँचेंगे कि जीवित शरीर वही हो सकता है जिसमें पाचन तथा विरेचन दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हों, तो यही ज्ञात

होगा कि उपर्युक्त सम्मति वाले महाशय जीवित जागृत आर्य-समाज को अपनी सम्मति से जीवित नहीं किन्तु मृत बतला रहे हैं। क्योंकि जीवित तथा स्वस्थ शरीर और समाज वही हो सकता है, कि जो अनुकूल को अपने में जज्ब कर ले और प्रति-कूल को बाहर निकाल दे। जो शरीर व समाज विरोधी मादे को भी अपने में से बाहर नहीं निकाल सकता वह मृत है। अथवा अपनी शक्तिहीनता की घन्टी से मृत्यु का आह्वान कर रहा है।

तीसरी श्रेणी के भाइयों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि ऋषि दयानन्द ने वेदों को अपौरुषेय मानना अनिवार्य नहीं बतलाया क्योंकि आर्यसमाजियों के लिए आर्यसमाज के सारे नियमों का मानना अनिवार्य है, और उसमें से नियम धारा १ व ३ को मिलाकर पढ़ने से पता लगता है कि नियम धारा १ में ईश्वर को जिन सब सत्य विद्याओं का मूल कारण बतलाया है, नियम धारा तीन ३ में वेदों को उन्हीं सब सत्य विद्याओं का पुस्तक माना है, जिससे स्पष्ट है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान अथवा अपौरुषेय हैं। इसके अतिरिक्त ऋषि ने स्वमन्तव्यामन्तव्य के दूसरे मन्तव्य में भी वेदों को निर्भ्रान्त और ईश्वर-प्रणीत माना है।

चतुर्थ श्रेणी के महाशयों का मुख्य और गौण तथा श्रुति और स्मृति में भेद न करना अथवा आर्यसमाज के आचार्य के

निजी लेखों को भी वेद-वाक्यों के सदृश ही समझना भी भूल है। क्योंकि ऋषि दयानन्द के निजी लेख श्रुति नहीं प्रत्युत स्मृति रूप हैं, वे भी अन्य स्मृतियों के लेखों की भाँन्ति वेदानुकूल और बुद्धि-पूर्वक होने पर ही ग्राह्य हैं। ऋषि के जो लेख विशेष सम्प्रदायों, अवस्थाओं और सामयिक रस्म व रिवाज आदि से सम्बद्ध हैं, उनकी श्रुति की भाँति सार्वजनिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक उपयोगिता भी नहीं हो सकती।

चूँकि गौण मन्तव्यों में आर्यसमाज जैसे विचारशील समाज के स्वतन्त्र विचारक सभासदों में कुछ न कुछ विचार-भेद होना आवश्यक ही है, इसलिए इनको सभासद रहने न रहने का हेतु बनाया ही नहीं जा सकता। मेरे उपर्युक्त कथन का अभिप्राय कदापि यह नहीं है, कि आर्यसमाज ने आर्यसमाजियों को बुद्धि और मन पर विशेष विचारों और आचारों के बन्धन का ताला लगा दिया है और वे स्वतन्त्रता से इनके सम्बन्ध में विचार कर ही नहीं सकते। अथवा स्वतन्त्र बुद्धि से इन पर विचार करना कुफ्र है। या यह भी कि वह आर्यसमाज को छोड़ ही नहीं सकते अथवा छोड़ने पर काबिलेकत्ल हैं और ऋषि दयानन्द के निजी लेख मानने के योग्य ही नहीं हैं।

बल्कि मेरा अभिप्राय इस वक्तव्य से यह है, कि जहाँ यह मानना स्वतन्त्रता की सीमा को उलङ्घन करके उच्छृंखलता को

प्राप्त होता है, कि आर्यसमाजी अपने विचार रखने में बिलकुल स्वतन्त्र हैं, वे जिस प्रकार के चाहें, अपने विचार अथवा मन्तव्य व सिद्धान्त रख सकते हैं। वहाँ यह कथन भी आर्यसमाज को अन्य सम्प्रदायों की भाँति अन्धविश्वासी ठहराता है कि आर्यसमाजियों के लिए ऋषि दयानन्द के लिखे हुए प्रत्येक अक्षर का ज्यों का त्यों मानना अनिवार्य है। क्योंकि न तो विचार-स्वातन्त्र्य के अर्थ उच्छृंखलता तथा निरँकुश होने के हैं और नहीं बिना सोचे समझे ऋषि दयानन्द के लेखों के प्रत्येक अक्षर को मान लेना विचार-स्वातन्त्र्य के अनुकूल है।

मेरी सम्मति में विचार-स्वातन्त्र्य का अभिप्राय विचार करने व रखने में स्वतन्त्र होने के हैं। वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज का कोई नियम उसका बाधक नहीं है। इसलिए प्रत्येक आर्यसमाजो जहाँ मत-मतान्तरों के मन्तव्यों और कर्तव्यों की सत्यासत्यता के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार कर सकता है वहाँ वह वेदों और ऋषि दयानन्द के लेखों तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में भी वैसा ही विचार करने में स्वतन्त्र है। यही विचार-स्वातन्त्र्य का गुण है, जो कि आर्यसमाज को सम्प्रदायों से ऊँचा और जीवित रख सकता है। यह विचार-स्वतन्त्रता का गुण आर्यसमाजियों को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है कि यदि किसी भाई को विचार करने पर आर्यसमाज के मौलिक नियमों अथवा मन्तव्यों और कर्तव्यों

की सत्यता में सन्देह हो, तो वह आर्यसमाज में रहता हुआ हो आर्य विद्वानों से मिल कर अपने सन्देह दूर करने का यत्न करे। और यदि उनसे इसके सन्देह दूर न हो सकें, बल्कि इसके विपरीत इसके अपने विचार सत्य निश्चत हो जाएं तो वह उनमें परिवर्तन कराने का यत्न करे और यदि समाज उसके साथ सह-मत न हो, तो वह अपने विचार बदल और आर्यसमाज को छोड़ सकता है। परन्तु आर्यसमाज में रहते हुए आर्यसमाज के मुख्य और मौलिक विचारों, सिद्धान्तों और आचारों के विरुद्ध अपने विचार और आचार नहीं रख सकता और न ही उनका प्रचार कर सकता है। क्योंकि इसका ऐसा करना समाज-संगठन के नियमों के विरुद्ध है। विचार-स्वातन्त्र्य शब्दों के अर्थ भी यह कदापि नहीं हो सकते, कि किसी समाज के नियमों अथवा मन्तव्यों और कर्तव्यों के विरुद्ध स्वतन्त्र विचार और आचार रखनेवाला मनुष्य भी उस समाज का सभासद रह सकता है। मेरा अभिप्राय निम्नलिखित उदाहरणों से और भी स्पष्ट हो जायगा। चूँकि आर्यसमाज एक नियमबद्ध समाज है। इस प्रकार नियम बद्ध कि जिस प्रकार सृष्टि नियमबद्ध है। इसके अस्तित्व को स्थिर और संगठित रखने के हेतु वैसे ही इसके मौलिक नियम हैं जैसे कि सृष्टि को स्थिर और संगठित रखने के हेतु इसके नियम। आर्यसमाज में रहते हुए आर्यसमाजी आर्य-समाज के मन्तव्यों के समझने तथा उनके सत्यात्य होने के

सम्बन्ध में वैसे ही स्वतन्त्रता से विचार कर सकते हैं, जैसे कि सृष्टि में रहते हुए मनुष्य सृष्टि-नियमों के समझने और उनकी सत्यता, असत्यता को जाँचने में स्वतन्त्रता से विचार कर सकते हैं। परन्तु जिस तरह मनुष्य पर मनुष्यत्व तथा प्राकृतिक नियमों के बन्धन हैं उसी तरह आर्यसमाजियों पर भी सामाजिक नियमों का बन्धन है, यह दोनों इनके तोड़ने में तो स्वतन्त्र हैं परन्तु तोड़ने के फल से नहीं बच सकते। सृष्टिनियमों के तोड़ने वाले अपने भौतिक शरीर और सामाजिक नियमों को तोड़ने वाले अपनी सामाजिक स्थिति को स्थिर नहीं रख सकते।

सम्भव है कि मेरे उपर्युक्त कथन पर यह आशंका की जाय कि उसमें आर्यसमाज को विचार-स्वातन्त्र्य का मानने वाला भी बतलाया है, लेकिन यह भी कहा गया है, कि यदि आर्यसमाज का कोई सभासद उसके माने हुए मौलिक नियमों और सिद्धान्तों को नहीं मानता तो वह आर्यसमाज में नहीं रह सकता यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि यदि आर्यसमाज विचार-स्वातन्त्र्य का मानने वाला है, तो भिन्न भिन्न विचार रखने वाले सभासद भी उसमें रह सकते हैं। और यदि नहीं रह सकते तो वह विचार-स्वातन्त्र्य का मानने वाला नहीं है। इसके उत्तर में निवेदन है, कि विचार-स्वातन्त्र्य जिसका अर्थ विचारों की स्वतन्त्रता है इसका अभिप्राय विचार करने और रखने में स्वतन्त्र होने के तो

लिये जा सकते हैं, परन्तु विचार-स्वातन्त्र्य का यह अभिप्राय कदापि नहीं लिया जा सकता, कि स्वतन्त्र विचार रखने वाले किसी ऐसी समाज में भी रह सकते हैं कि जिसके मौलिक (जिनपर इस समाज का निर्माण हुआ हो) नियमों अर्थात् मन्तव्यों और कर्तव्यों के विरुद्ध उसके विचार हों। क्योंकि समाज तो उन सभासदों के समूह का ही नाम होता है, कि जिन्होंने समाज निर्माण के हेतु उसके मौलिक नियमों और सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। यदि वह इनको न मानें और अपने अपने स्वतन्त्र विचार रक्खें तो वे समाज बना ही नहीं सकते; अथवा इनसे कोई समाज बन ही नहीं सकता। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि चूंकि विचार-स्वातन्त्र्य का यह अभिप्राय समाज-निर्माण शास्त्र के नियमों के ही विरुद्ध है, इसलिये सामाजिक संसार के लिये इसका प्रयोग में लाना ही असम्भव है। समाज-शास्त्र के विद्वान् इस बात को भली भाँति जानते हैं, कि किसी समाज की रक्षा, स्थिरता और दृढ़ता के लिये उसके सभासदों के समाज-सम्बन्धी विचारों और आचारों में समानता और दृढ़ता कितनी आवश्यक है। जो भाई यह कहते हैं, कि भिन्न भिन्न विचार रखने वाले भी आर्यसमाज या किसी भी नियम-बद्ध समाज में रह सकते हैं वे भाई स्वतन्त्रता की धुन में समाज निर्माण शास्त्र के नियमों को ही भूल जाते हैं जो कि उन्हें नहीं भूलने चाहिएं। इसके अतिरिक्त इस अभिप्राय में यह भी दोष है,

कि इससे स्वतन्त्र विचार रखने वाला व्यक्ति प्रत्येक समाज का अथवा सब समाजों का सभासद बन सकता है, परन्तु इसका क्रियात्मक रूप में लाना सम्भव ही नहीं है। अतः जब यह कहा जाता है, कि आर्यसमाज विचार-स्वातन्त्र्य का मानने वाला है, तो उसका अभिप्राय यही होता है, कि उसके सभासद आर्य-समाज के मन्तव्यों और कर्तव्यों पर स्वतन्त्रता से विचार भी कर सकते हैं और आर्यसमाज के मन्तव्यों का मानना छोड़ कर किसी अन्य समाज अथवा अन्य प्रकार के मन्तव्य मानने या रखने में भी स्वतन्त्र हैं न यह कि आर्यसमाज में रहते हुए वह आर्यसमाज के मौलिक मन्तव्यों और सिद्धान्तों के विरुद्ध अपने भिन्न भिन्न विचार भी रख सकते हैं।

मैंने विचार-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी जिन चार श्रेणियों का ऊपर वर्णन किया है, वह तो आर्यसमाज के अन्तर्गत हैं। उनके अति-रिक्त विचार-स्वातन्त्र्य के समर्थकों की एक और भी श्रेणी है। जो कि है तो ग़ैर आर्यसमाजी सज्जनों की परन्तु चूंकि आर्यसमाज का उससे मनुष्य-समाज के उत्थान के साधनों में मतभेद है इस-लिए आर्यसमाज को उससे भी निपटना और उसे भी विचार-स्वातन्त्र्य का वास्तविक अर्थ बतलाना है, इसलिये उसकी ओर भी आप महानुभावों का ध्यान दिलाना आवश्यक समझता हूँ।

यह श्रेणी नवीनता तथा स्वतन्त्रतावादियों की है जो कि प्राची-नता के कट्टर विरोधी हैं; यद्यपि इस श्रेणी के लोग प्राचीनतावादियों

के प्रतिद्वन्दी हैं और ये दोनों दल दो विरोधी सीमाओं पर खड़े हैं तथापि इनमें परस्पर कुछ गंगा-जमनी समानतायें भी हैं जो कि इस प्रकार हैं कि यदि प्राचीनतावादी महाशय बिना सोचे-समझे अथवा सत्यासत्य की परीक्षा किये पुराने सब ग्रन्थों की हर एक बात को सत्य, सार्थक और प्रामाणिक मानते हैं, तो नवीनतावादी भी बिना पढ़े और सोचे विचारे ही उनसे विपरीत उन सब ग्रन्थों को निरर्थक और अप्रमाणिक समझते हैं। यदि प्राचीनतावादी विश्वास के धनी हैं, तो नवीनतावादी अविश्वास तथा धुन के धनी हैं। यह दोनों ही प्राचीन ग्रन्थों पर बुद्धि पूर्वक विचार नहीं करते। नवीनता-वादी महाशय तो प्राचीनता और साम्प्रदायिकता के द्वेष तथा नवीनता व स्वतन्त्रता के आवेश में इतने मुग्ध हुए हैं कि अहर्निश क्रान्ति क्रान्ति का जाप करते हुये, न केवल यह कि वेदादि शास्त्रों की वात सुनना ही नहीं चाहते, बल्कि उन्हें क्रान्ति द्वारा संसार से ही मिटा देना चाहते हैं। इनकी यह मनोवृत्ति नीचे उद्धृत किये हुए इनके हृदय के उद्गारों से स्पष्ट विदित है।

"यहाँ क्रान्ति तभी होगी जब सबसे पहले हम वेद सब इलमी फुनून का खज़ाना है, इस बातिल यक़ीन पर कुल्हाड़ा चलावेंगे। मुसलमानों में हरगिज़ कोई सुधार नहीं हो सकता जब तक वह कुरान को इल्हामी ही मानते रहेंगे। श्रुति का ढकोसला, शरियत का हव्वा हमारी तरक्क़ी का कट्टर दुश्मन है योरुप में

कोई बात निकले, आर्यसमाजी चट वेदों के वर्क़ पलटने लगते हैं, झट मन्त्रों के नये अर्थ करने के लिये विचारे यास्क मुनि का गला दबाते हैं, और कहते हैं उगल। इसका गला रबड़ का है खूब लचकीला है सब अर्थ कर देता है.........ये मज़हबी किताबें अपना सिक्का लोगों पर जमाये बैठी हैं। सब ब्राह्मण उसी थैले से प्रमाण निकालते हैं। सब मुल्ला उसी के सहारे लोगों को लड़ाते हैं। इसीलिये क्रान्ति नया बिल्कुल नया रास्ता माँगती है। टाँके नहीं लगाये जा सकते, क्रान्ति के आशको! ग़ौर से मेरी बात सुन लीजिये। सबसे पहिले दिमाग़ी आज़ादी दरकार है। वेद और क़ुरान को इल्हामी मानने वाले दोनों ग़ुलामी की ज़ंजीरों में जकड़े हुए हैं। वे कभी आज़ादी नहीं दिला सकते, क्योंकि उनका सब कुछ वेदों में मौजूद है। अवाम वेद पढ़ नहीं सकते। बराबर ग़ुलामी के गढ़े में पड़े रहेंगे। जब आप इल्हाम को छोड़ देंगे तो संस्कृत लिटरेचर का सारा कूड़ा करकट आपको साफ़ दिखाई देने लगेगा। फिर महाभारत रामायण और गीता की नामुमकिन बातें साफ़ दिखाई देंगी, फिर सच और झूठ को परखने वाली बुद्धि से आप छाँट सकेंगे, कि क्या लेना है और क्या छोड़ देना है, उस वक्त यह पचड़ा नहीं रहेगा, कि फलाँ ऋषि है और फ़लाँ इन्सान है; फ़लाँ प्रमाण है और फ़लाँ नहीं है। उक्त सब इन्सानी दर्जे में आ जायेंगे और हर एक शख़्स को, सच झूठ को जानने का अधिकार प्राप्त हो जाएगा। क्रान्ति

के लिए आज़ाद-खयाली निहायत ज़रूरी है। वह आज़ाद-ख़याली हर एक शख़्स का पैदायशी हक़ है। इल्हाम; श्रुति, आयत वग़ैरह का माया-जाल अज़ादी का मुख़ालिफ़ है। सैकड़ों, हज़ारों वर्षों का संस्कृत लिटरेचर इसमें न जाने कितने ख़ुदग़र्ज़ मनुष्यों ने दूसरों के नाम पर क्या क्या मिला दिया है, अगर छाँटने बैठेंगे तो छाँटने वालों के गिरोह बन जायेंगे और वह बैठ कर लड़ने लगेंगे जैसे आर्यसमाजी और सनातनधर्मी वेदों के अर्थों पर लड़ते हैं। इस ग़ुलामी की फ़ैक्टरी के गिरा देने का वक़्त आ गया है। जब श्रुति या ऋषि प्रमाण का अड़ंगा निकल जायेगा तो फिर सब ग्रन्थों में से हम जो मानने लायक़ मालूम होंगे ले लेंगे, और जो मौजूदा जमाने के खिलाफ़ होगा, उसको छोड़ देंगे, और आगे शाहेराह तरक्क़ी पर गामज़न होंगे। अब जो उठता है वह गीता का तर्जुमा करने लगता है, जो निकलता है वह श्री कृष्ण की वंसरी बजाने लगता है, जो विद्वान् बनता है वही उपनिषद्, वही दर्शन लेकर बैठ जाता है। अरे भले आदमियो! हज़ारों वर्षों से जहाँ खड़े थे वहीं खड़े रहोगे या आगे भी बढ़ोगे? चबाए हुए को फिर चबाना, बराबर कपड़े उधेड़ कर सीना, यह अब छोड़ने का वक़्त आ गया है। उन ग्रन्थों को पढ़ो, लेकिन उनसे आगे बढ़ो वह आगे बढ़ने की अक़्ल तब तक हरगिज़ न आ सकेगी जब तक श्री कृष्ण ईश्वर बने रहेंगे, ऋषि निर्भ्रान्त समझे जायेंगे और वेद ईश्वर-वाक्य रहेंगे।

मुख्तसिर मेरा निवेदन यह है कि क्रान्ति नया बिल्कुल नया रास्ता माँगती है वग़ैरह वग़ैरह।"

ऊपर उद्धृत की गईं पंक्तियों पर कोई विशेष टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि यह युक्ति और प्रमाण से शून्य केवल वृथा प्रलाप मात्र है, जो कि स्वतन्त्रता और उन्नति के साधनाभास भ्रमात्मक क्रान्ति के आवेश में आकर किया गया है। मैं तो इस बात को ख़याल में भी नहीं ला सकता कि कोई बुद्धिवादी तथा विद्या-प्रेमी व्यक्ति ऐसे विद्याविरोधी, लज्जास्पद विचार भी प्रकट कर सकता है, कि जिनमें उस सारे संस्कृत साहित्य के इल्मी ख़ज़ाने को बिना उसके दोष दिखलाये, केवल उसके पुराना होने के कारण ही उसको कूड़ा कर्कट बतलाते हुए उसे त्याग देने की अपील की गई हो कि जिसके अन्तर्गत संसार भर के इल्मी ख़जाने के उच्चकोटि के ग्रन्थ-रत्न, वेद, उपनिषद्, दर्शन, आदि आदि भी हैं। इस प्रकार के विचार रखने व उनका प्रचार करने वाले भाई मुझे इस कथन के लिए क्षमा करेंगे कि उन्होंने अपने उपर्युक्त विचारों द्वारा न केवल यह कि संस्कृत-साहित्य के जलाने वाले आरम्भिक काल के निष्ठुर और क्रूर मुसलमान आक्रमणकारियों की उद्दण्डता की ही फिर से याद ताज़ा करा दी है बल्कि उनकी क्रियात्मक उद्दण्डता की अनुवृत्ति, विद्याविरोधी अपनी मानसिक वृत्ति का भयंकर चित्र भी प्रकाशित कर दिया है। अस्तु, सज्जनों! उपर्युक्त विचारों के

पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्राचीनता के भगत तो केवल विचार-स्वातन्त्र्य के ही विरोधी थे, और जहाँ खड़े थे उससे आगे बढ़ना नहीं चाहते थे; परन्तु आगे बढ़ो, आगे बढ़ो की दुहाई देने वाले यह नवीनता और स्वतन्त्रतावादी सज्जन तो सभ्य संसार की एकत्रित तथा निर्माण की हुई पिछली सारी बहुमूल्य साहित्यिक सम्पत्ति को ही निर्मूल करके मूर्खता फैलाना चाहते हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि विद्वत् संसार के पिछले अनमोल अनुभवों, परीक्षणों तथा निरीक्षणों पर पोंता फेर कर संसार को अज्ञता, अनिश्चितता, तथा अव्यवस्थिता की अवस्था में ले जाना चाहते हैं। उन्होंने बेअसूला अथवा निरंकुश होने का ही नाम आज़ादी रक्खा हुआ है। ये भाई अपने विचारों पर किसी प्रकार के भी बन्धन रखने के विरुद्ध हैं। सभा समाजों के नियमों का मानना भी इनके नज़दीक बन्धन और गुलामी है। यह तो आशा ही है कि जो आर्यसमाज प्राचीनता के अन्धे पुजारियों की भ्रान्ति को दूर करने के लिए अपने जन्म दिन से ही यत्न करता चला आ रहा है, वह इन नवीनता तथा स्वतन्त्रता के अन्धे भगतों की इस भयंकर धारणा का प्रतिवाद भी अवश्य ही करेगा, परन्तु मैं भी यहाँ पर उन भाइयों की सेवा में इतना अवश्य निवेदन करूँगा कि यदि वे विचार करके देखेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि वे अपनी इस प्रकार की विचार तथा आचार पद्धति से प्राचीनता तथा साम्प्रदायिकता का ही विरोध नहीं कर रहे; बल्कि वे अपनी भी

एक और नवीनता तथा स्वतन्त्रता वादियों का नवीन सम्प्रदाय खड़ा करके सम्प्रदायों का नम्बर बढ़ा रहे हैं। उनका सब प्रकार के प्राचीन धार्मिक साहित्य का विरोध जहाँ मनुष्य समाज के लिए भयंकर और पतन का हेतु है, वहाँ उनका सभा-समाजों के नियमों और सिद्धान्तों को बन्धन बतलाना भी समाज निर्माण शास्त्र के विरुद्ध होने से मनुष्य जाति के लिए हानिकारक है, क्योंकि उनका नवीनता का सिद्धान्त न केवल यह कि पुराने संस्कृत-साहित्य और साम्प्रदायिक विचारों पर ही लागू होगा, बल्कि आज जिस साहित्य और विचारों को वे नवीन समझते हैं कल उनके पुराना हो जाने के कारण उन पर भी वह लागू हो सकेगा। इसलिए जिस नवीनता के कुठार से आज वह प्राचीन धार्मिक साहित्य और साम्प्रदायिकता की जड़ें काटना चाहते हैं कल वही कुठार उनकी आज की नवीनता और उनके अपने इन विचारों के पुराना हो जाने पर उनकी जड़ें भी काटेगा। इस कारण यह सिद्धान्त जहाँ स्थिर साहित्य का मूल ही काट देता है वहाँ साहित्यिक उन्नति को भी असम्भव बना देता है अथवा प्रत्येक विद्वान के विचारों तथा अनुभवों के संग्रह को उसके जीवन के साथ ही समाप्त कर देता है। क्योंकि वह उसके पश्चात् उत्पन्न होने वालों के लिए पुराना हो जाता है, और उन्नति तब हो सकती है जब कि पिछले विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़कर उनके अनुभवों से लाभ उठाते हुए आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त की

जाय। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त मानवी प्रकृति से भी विरुद्ध है। क्योंकि मनुष्य का शरीर प्राकृतिक होने से जहाँ वह प्राकृतिक नियमों के बन्धन से बँधा हुआ है वहाँ मनुष्य के स्वभाव-सिद्ध, मननशील और सामाजिक व्यक्ति होने से उसके स्वतन्त्र विचारक होने पर भी उसके आचार-विचार पर मनुष्यत्व तथा सामाजिक अर्थात् पारिवारिक, नागरिक, देश-सम्बन्धी राष्ट्रीय और सार्वजनिक नियमों के बन्धन लगे हुए हैं। यह तो हो सकता है बल्कि होना चाहिए, कि यदि किसी सभा सुसाइटी अथवा समाज के नियम व सिद्धान्त मनुष्यत्व तथा सामाजिक हितों के विपरीत हों या कि नैसर्गिक सत्यों तथा सृष्टि के नियम के विरुद्ध हों, तो नवीनता तथा स्वतन्त्रतावादियों को ही नहीं बल्कि प्रत्येक को उनके मानने से इन्कार कर देना चाहिए, परन्तु मनमानी नवीनता तथा स्वतन्त्रता अर्थात् निरंकुशता के आवेश में उन्हें बन्धन बतलाना और उनसे द्वेष करना व उनके विपरीत घृणा फैलाना मनुष्यत्व तथा सामाजिक हितों के विपरीत और दुःख का कारण है। क्रान्ति उद्देश्य नहीं बल्कि वास्तविकता और सत्यतारूपी उद्देश्य की प्राप्ति के साधन हैं, और साधन भी वह क्रान्ति, नवीनता तथा स्वतन्त्रता जो कि प्राचीनता के मिटाने के लिए ही नहीं, बल्कि सुधार, सत्यता और वास्तविकता की स्थापना के लिए हो, क्योंकि यही सुधारकों के ध्येय हैं और इन्हीं से मानवी संसार का उत्थान और कल्याण होता है। यह

चाहे प्राचीन ग्रन्थों से मिले अथवा नवीन पुस्तकों से, ले लेने चाहिएं। सद्सत के निर्णय रूपी ध्येय से शून्य प्राचीनता, नवीनता तथा स्वतन्त्रता की उपासना अधोगति का ही कारण है। यदि प्राचीनता के प्रतिनिधि और नवीनता के भगत इस वैदिक सिद्धान्त को अपना पथप्रदर्शक बना लें तो परस्पर का विरोध भी मिट सकता है, और दोनों की अभीष्ट-सिद्धि तथा यथायोग्य सुधार और उन्नति भी हो सकती है।

ज्ञान का स्रोत

यह विषय सिद्धान्तात्मक, मौलिक और बड़ा गहन है। इसका समाधान करना आप सरीखे उच्च कोटि के किसी तत्वज्ञ पंडित का ही काम है, क्योंकि यह विषय दार्शनिक है। मेरे जैसे अल्पज्ञ का इस विषय पर कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा करना है। परन्तु ऐसा होते हुए भी मैं इस विषय पर कुछ लिखने का साहस इसलिए करता हूं कि मेरी सम्मति में वेद-सम्बन्धी अन्य निबन्धों के पढ़े जाने के पूर्व इस मुख्य विषय का वर्णन किया जाना भी आवश्यक है। आशा है कि पंडित महोदय मेरी इस धृष्टता पर ध्यान न देकर मेरी भूलों को सुधार लेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्राचीन आर्य विद्वानों ने एक स्वर से वेदों को अपौरुषेय माना है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान और सब सत्य

विद्याओं का भण्डार बतलाया है। परन्तु यह भी सत्य है कि वर्तमान काल के बहुत से विद्वान् किसी भी ईश्वरीय ज्ञान के क़ायल नहीं हैं, बल्कि इनमें से कई एक तो किसी अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय ज्ञान के मन्तव्य को न मानना विद्वत्ता का एक प्रमाण या सार्टिफिकेट समझते हैं और किसी भी ईश्वरीय ज्ञान के मानने को अन्धविश्वास बतलाते हैं। मेरी सम्मति में विशेष कर इसके दो ही कारण हैं :—

१. पहला कारण यह है कि उनमें बहुत थोड़े विद्वान हैं जो कि आरम्भिक ज्ञान की जटिल समस्या पर गम्भीरता से विचार करने का परिश्रम उठाते हैं। जो सज्जन कुछ विचार करते भी हैं वह विकास-वाद के बतलाए हुए ज्ञान की क्रमशः उन्नति के सिद्धान्त को ही मान कर सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु इस बात पर ध्यान नहीं देते कि इसका आरम्भ किससे हुआ।

२. दूसरा कारण यह है कि वेदों के जो भाष्य लिखे पढ़े लोगों के सामने आये हैं उनके बुद्धिपूर्वक तथा ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव व सृष्टि ज्ञान के अनुकूल न होने से वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में सन्देह होता है। मैं यह निवेदन करने में भी संकोच नहीं करूँगा कि कुछ आर्यसमाजी विद्वान् भी यह कहते सुने गए हैं कि यद्यपि ऋषि दयानन्द का वेद भाष्य दूसरे भाष्यकारों के भाष्यों से बहुत उत्तम है तथापि उसमें भी कई ऐसी सन्दिग्ध

बातें पाई जाती हैं कि जिससे मालूम होता है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान नहीं है। कुछ भाई तो यहाँ तक भी कह देते हैं कि जब तक जो व्यक्ति वेदों और उनके भाष्यों को नहीं पढ़ते उनकी श्रद्धा तो वेदों पर बनी रहती है परन्तु जो उन्हें पढ़ते हैं उनकी वह श्रद्धा नहीं रहती।

ज्ञान के आरम्भ की समस्या

यह सिद्धान्त तो निर्विवाद ही है कि सब नैसर्गिक तत्त्वात्मक तथा सिद्धान्तात्मक सच्चाइयाँ (natural truths) अनादि और नित्य हैं। वे न पैदा होती हैं और न उनका नाश होता है। मनुष्य उनको प्राप्त करते हैं, उत्पन्न नहीं करते। हाँ यह सत्य है कि प्रत्येक समय के विद्वानों ने मौलिक तत्त्वों तथा सिद्धान्तों के जानने का प्रयत्न किया है और उनके प्रयत्नों का परिणाम भी एक नहीं है, भिन्न भिन्न है। परन्तु यह भी एक स्वयंसिद्ध सच्चाई है कि अपने स्वरूप में एक-रस रहनेवाली स्वयंसिद्ध सच्चाइयों का प्रत्यक्ष में भाव है और अभाव का भाव नहीं हो सकता। अतः विद्वानों का भेद वास्तविक नहीं, भ्रान्त है जो कि उनकी अपनी ही भूल के कारण है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को इस प्रकार भी वर्णन कर सकते हैं, चूंकि कार्य रूप प्रत्यक्ष जगत अपने अनादि, नित्य कारण त्रयी (ब्रह्म-जीव-प्रकृति) के अस्तित्व और नित्यत्वका सूचक है और

अनादि नित्य वस्तुओं के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि और नित्य ही हुआ करते हैं। अतः यह निश्चित है कि इन समस्त पदार्थों से सम्बद्ध ज्ञान भी अनादि और नित्य ही है। यद्यपि यह ज्ञान न्यूनाधिक मात्रा में मानवी संसार में विद्यमान है और इसके अस्तित्व की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है तथापि यह जानना आवश्यक है कि वह मनुष्यों का स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक। स्वाभाविक इसको इसलिए नहीं कह सकते कि वह स्वभाव-सिद्ध नहीं है, बल्कि मनुष्यों का उपार्जित किया हुआ है, यदि स्वाभाविक होता तो उसको प्राप्त करने की आवश्यकता न होती और कोई भी मनुष्य अज्ञानी न होता। अतः यह मानना तो अनिवार्य्य है कि मनुष्यों का ज्ञान नैमित्तिक है परंतु इस सिद्धांत के जान लेने पर भी यह प्रश्न बना रहता है कि सृष्टि में इस ज्ञान का आरम्भ किससे हुआ। यह एक मौलिक प्रश्न है जो कि सब समय के विद्वानों के सामने रहा है अथवा यों समझिये कि ज्ञान और जुवान के आरम्भ का प्रश्न सब समय के आस्तिकों, नास्तिकों, साहित्यिकों तथा दार्शनिकों के सामने एक सा रहा है। अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सबने उसका समाधान करने का यत्न किया है। किसी ने ज्ञान की क्रमशः उन्नति, किसी ने ज्ञान को अनादि, और किसी ने मुक्तात्माओं द्वारा ज्ञान की पुनरावृत्ति मानी है, और कइयों ने यह प्रश्न अगम्य, और कुछ ने अनावश्यक समझ कर ही छोड़ दिया है।

इनमें से क्रमशः उन्नति मानने वाले विकासवादी हैं। क्रमशः उन्नति के अर्थ यदि इतने ही हों कि मनुष्य क्रमशः ज्ञान प्राप्त करता करता अपने ज्ञान को उन्नत करता है तो हमें भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। परन्तु इससे भी इस प्रश्न का हल नहीं होता कि सृष्टि में ज्ञान का आरम्भ किस से हुआ। और यदि ज्ञान की क्रमशः उन्नति का भाव यह है कि सृष्टि-आरम्भ के पश्चात् मनुष्य बिना किसी के सिखलाए-पढ़ाये स्वयं ही ज्ञान में उन्नति करते गये तो यह मन्तव्य अनुभवों, निरीक्षणों और परीक्षणों के विरुद्ध ठहरता है, क्योंकि उनके द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य बिना किसी के सिखाये स्वतः कुछ नहीं सीख सकता। इस प्रकार की क्रमशः उन्नति मानने वालों के पास इस अनुभव-सिद्ध घटना का कोई उत्तर नहीं है कि किसी उन्नत मनुष्य का छोटा सा बच्चा, युवावस्था तक शिक्षित और सभ्य मनुष्यों के संग और प्रभाव से दूर किसी निर्जन स्थान में रक्खा हुआ, क्यों वैसा ही हो जाता है जैसा कि आज से लाखों वर्ष पूर्व के किसी अवनत जंगली मनुष्य का बच्चा। और विकासवाद के विचार से सभ्य मनुष्य से लाखों वर्ष पूर्व माना हुआ अवनत जंगली मनुष्य का बच्चा २०, २५ वर्ष तक सभ्य मनुष्यों के प्रभाव में रह कर तथा पालन और शिक्षा पाकर क्यों वैसा ही बन जाता है जैसा कि उन्नत व सभ्य मनुष्य का बच्चा। या यों समझिये कि विकासवाद के मत

के अनुसार लाखों वर्ष की की हुई उन्नति को सभ्य मनुष्य का बच्चा आरम्भिक आयु के २०, २५ वर्ष जंगल में रह कर क्यों खो देता है। और लाखों वर्ष की उन्नति की न्यूनता को जंगली मनुष्य का बच्चा २०, २५ वर्ष सभ्य मनुष्यों में रह कर क्यों पूरा कर लेता है और अब तक जंगली जातियाँ किसी सभ्य जाति के संसर्ग में आने से पूर्व क्यों सभ्य नहीं बन सकीं। क्या लाखों वर्षों से अब तक उन्हें सभ्य बनने के अनुकूल जलवायु आदि प्राकृतिक साधन प्राप्त नहीं हुए ? और क्या जिस जलवायु आदि प्राकृतिक साधनों में अब वे रहते हैं वहाँ पर किसी भी साधन से उनके बच्चे शिक्षित नहीं हो सकते ? यदि हो सकते हैं (अवश्य हो सकते हैं) तो विकासवादी अपने क्रमशः उन्नति के मन्तव्य को सत्य सिद्ध नहीं कर सकते। शनैः शनैः अपने आप ज्ञान का होना मानने वाले इस बात की भी मीमांसा नहीं कर सकते कि एकदेशवासी, एक ही प्रकार के जल वायु में रहे और पले हुए समकालीन सब मनुष्यों को वैसा ही ज्ञान क्यों नहीं हुआ करता जैसा कि उनमें से विशेष व्यक्तियों को होता है। और यदि यह कहा जाय कि कारण तथा कार्यरूप ज्ञेय पदार्थों का भाव होने से उनके ज्ञान का भाव है; इस ज्ञान को मनुष्य क्रमशः प्राप्त करते हैं तो इस का उत्तर वही है जो कि पीछे दिया जा चुका है, अर्थात् ज्ञान का भाव होने पर भी मनुष्य उस वक्त तक स्वयं कुछ नहीं सीख सकता कि जिस वक्त तक उसे कोई कुछ न सिखलाये। इसके

अतिरिक्त यह मान लेने पर भी कि ज्ञेय पदार्थों के भाव से उनके ज्ञान का भी भाव है तो यह जानना ज़रूरी है कि उस भाव रूप ज्ञान का अधिकरण कौन है, क्योंकि उसी से वह ज्ञान मिल सकेगा। जड़ प्राकृतिक पदार्थ ज्ञान का अधिकरण नहीं हो सकते। इस लिये ज्ञानशून्य होने के कारण उनसे ज्ञान मिल भी नहीं सकता। ज्ञान का अधिकरण उसका चेतन ज्ञाता ही हो सकता है। परन्तु अल्पज्ञ और परिच्छिन्न होने के कारण चेतन जीवात्मा भी उस ज्ञान का ज्ञाता नहीं है अतः केवल एक सर्वगत, सर्वज्ञ, चेतन परम ब्रह्म ही उस ज्ञान का ज्ञाता है इस लिये उसी से वह ज्ञान मिल सकता है। अथवा वही ज्ञान का आरम्भक हो सकता है। पृथ्वी और तत्रस्थ पदार्थों को अनादि मानने वालों का भी यह कथन युक्तियुक्त नहीं है कि पृथ्वी और उसकी प्रत्येक वस्तु अनादि काल से इसी तरह चली आती है और अनन्त काल तक इसी तरह चली जायगी। इस लिये मनुष्यों में ज्ञान का आरम्भ हुआ ही नहीं क्योंकि वह भी अनादि काल से इसी तरह चला आता है—क्योंकि पृथ्वी परिमाणुओं के मेल से बनी हुई है। और जो वस्तु कई वस्तुओं के संयोग से बनती है वह किसी दशा में भी अनादि, अनन्त अथवा नित्य नहीं हुआ करती। महर्षि कणाद ने नित्य का लक्षण "सदकारणवन्नित्यम्" किया है अर्थात् जो वस्तु हो और अकारण (कई वस्तुओं से मिल कर न बनी हो) हो वह नित्य है और साइंस भी यही

बतलाता है कि पृथ्वी आदि सारे लोक लोकान्तर बनते और बिगड़ते रहते हैं। प्रत्यक्ष में भी पृथ्वी का एक अवयव (टुकड़ा) ले कर उसे छिन्न-भिन्न किया जा सकता है, जिससे उसके अवयवी पृथ्वी के नाश होने का प्रमाण मिलता है। अतः जब कि पृथ्वी ही अनादि नहीं वरन् आदि है तो उस पर जो भी पदार्थ मौजूद हैं उनको भी सदा से विद्यमान नहीं मान सकते। इस लिये पृथ्वी पर की प्रत्येक वस्तु का आदि होने से उस पर के ज्ञान का आरम्भ मानना ही पड़ेगा।

सृष्टि-आरम्भ में मुक्तात्माओं द्वारा ज्ञान की पुनरावृत्ति मानने वालों पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि मुक्तात्माओं का मुक्ति-प्राप्ति का हेतु ज्ञान उनमें स्वभाव-सिद्ध है अथवा उन्होंने मुक्ति-प्राप्ति से पूर्व उसे यत्न से उपार्जित किया था। यदि स्वभाव-सिद्ध मानें तो उन्हें कभी भी अज्ञान और बन्धन नहीं होने चाहिएं थे, बल्कि वह नित्य, ज्ञानी तथा नित्य-मुक्त होते। किन्तु न तो प्रत्यक्ष में ऐसा है और न ही इसका कोई प्रमाण मिलता है। मनुष्य प्रत्यक्ष में ज्ञान व मुक्ति प्राप्ति का यत्न करते और शास्त्र उनका साधन भी बतलाते हैं और मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त भी उनके नित्यमुक्त होने का निषेध करता है।

इसके अतिरिक्त कार्य रूप जगत का ज्ञान मनुष्य भौतिक इन्द्रियों से प्राप्त करता है और मुक्ति में भौतिक इन्द्रियों के न

रहने से कार्य्य रूप जगत् से भी उसका सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए मुक्ति में इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का अभ्यास भी नहीं रहता और यह बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि अल्पज्ञ जीव को जिस विषय का अभ्यास न रहे उसको वह कुछ काल के पश्चात् भूल जाता है। यह दूसरी बात है कि स्मरण कराने पर उसको थोड़ा बहुत याद आ जाता है। परन्तु स्मरण कराने वाला चाहिए। जब यह अवस्था है तो मुक्तावस्था के अत्यन्त दीर्घ काल में अभ्यास के न रहने पर कार्य्यरूप जगत का उपार्जित ज्ञान मुक्तात्माओं को क्यों स्मरण रह सकता है।

इस बात का सिद्ध करना भी असम्भव ही है कि अल्पज्ञ मुक्तात्माओं को जगत के सारे पदार्थों का ही यथार्थ ज्ञान होता है, अतः ऐसी दशा में यह कथन भी युक्ति-सिद्ध नहीं है कि सृष्टि-आरम्भ में ज्ञान का आरम्भ मुक्तात्माओं ने किया। अलबत्ता यह मानना सार्थक हो सकता है कि उस ज्ञान के ज्ञाता ईश्वर के ज्ञान का आरम्भ मुक्तात्माओं द्वारा हुआ।

जो लोग ज्ञान आरम्भ के प्रश्न को अज्ञेय कह कर ही छोड़ देते हैं उनके मत के विषय में विशेष रूप से कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि वह तो अनुसन्धान के क्षेत्र से ही पलायन कर चुके हैं।

कुछ विचारशील सज्जनों का यह भी मत है कि मनुष्य को कर्त्तव्य-परायण होना चाहिए। उस को ऐसी बातों के जानने की

आवश्यकता ही नहीं है कि ज्ञान का आरम्भ किस से हुआ। ईश्वर, जीव है या नहीं ? इनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि इत्यादि।

क्योंकि इनके जानने व मानने का प्रभाव उन के कर्त्तव्य कर्मों पर कुछ भी नहीं पड़ता। आश्चर्य की बात है कि ऐसे विचार उच्चकोटि के कुछ एक ऐसे दार्शनिकों के भी पाए जाते हैं जो कि स्वयं बाल की खाल उतारने वाले थे। मेरी सम्मति में ज्ञान तथा मन्तव्यों का मनुष्य के आचरणों पर कोई प्रभाव न मानना वास्तव में एक स्वयंसिद्ध दार्शनिक सचाई के मानने से इन्कार करना है। क्योंकि यह निश्चित है कि जो मनुष्य अपने स्वरूप और संसार में अपने आने के उद्देश्य को ही नहीं जानते वे अपने तथा अन्य मनुष्यों व प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्य कर्मों का भी निश्चय नहीं कर सकते। सर्वव्यापक ईश्वर के न मानने व जानने वाले न केवल यह कि उस के प्रति अपने कर्त्तव्य का ही निश्चय नहीं कर सकते बल्कि वह अन्य प्राणियों के प्रति भी मनुष्योचित व्यवहार नहीं कर सकते। उनका सिद्धान्त बहुधा (Might is right) बल ही अधिकार है, होता है। वह निर्बलों को बलवानों का भक्ष्य समझते हैं। उन की विद्या, बुद्धि तथा शारीरिक बल दूसरों की हानि और बल के नाश करने में ही ख़र्च होते हैं। बल, छल आदि के प्रयोग द्वारा परार्थ हानि और स्वार्थ सिद्धि उन का उद्देश बन जाता है। उन के सिद्धान्त में मर्य्यादा और न्याय के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः इस

बात के मानने में कुछ भी सन्देह नहीं है कि मनुष्य के जैसे मन्तव्य अथवा विचार होते हैं बहुधा उस के कर्म भी वैसे ही होते हैं। उदाहरण के लिये मुसलमान होने मात्र से अपने आप को स्वर्ग के अधिकारी मानने वाले भाइयों के व्यवहार को पेश किया जा सकता है। वह सदाचार की परवाह न करते हुए इस्लाम को छोड़ने वाले (मुर्तिद) और काफ़िरों के क़त्ल (वध) को अपना कर्त्तव्य और पुण्य समझते हैं। माननीय श्री पं० लेखराम जी तथा पूज्य श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि महानुभावों की हत्याएं ऐसे ही मन्तव्यों का परिणाम हैं। बलिदान अथवा कुर्बानी को अज्ञान-वश पुण्य मानने वाले प्रत्येक वर्ष लाखों प्राणियों के प्राण-हरण का पाप करते हैं। जन्म तथा सांसारिक शक्ति मात्र से श्रेष्ठ होने के मन्तव्य ने ही खानदानी बड़ाई छोटाई का बीज बो कर छूत-अछूत तथा जात-पाँत रूपी सामाजिक पाप की घृणित प्रथा चलाई है और अपने जैसे ही अपने भाइयों के साथ कुत्ते बिल्लियों से भी बुरा व्यवहार कराया है, इत्यादि बातों को दृष्टि में रखते हुए यह कहना बिल्कुल यथार्थ होगा कि मनुष्य के जैसे मन्तव्य होते हैं (अपवाद को छोड़ कर) उस के कर्म भी तदनुकूल ही हुआ करते हैं। अर्थात् जिस के मन्तव्य सत्य, उत्तम, और आदर्श ऊँचे होते हैं उस के आचार भी अच्छे ही होते हैं और जिस के मन्तव्य असत्य और बुरे होते हैं उसके आचार भी अच्छे नहीं होते। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी है—

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभि-सम्पद्यते ।"

अर्थात् मनुष्य अपने विचारों के अनुकूल ही बोलता और करता है ।

इस के अतिरिक्त यदि दार्शनिक दृष्टि से देखेंगे तो भी ज्ञात होगा कि वास्तव में विचारों का क्रियात्मक स्वरूप आचार और आचारों का ज्ञानात्मक रूप ही विचार हैं । उन को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता । विचार-पूर्वक ही आचार होने चाहिएं । विचार-शून्य आचार बहुधा गुमराही और अनर्थ का ही कारण होते हैं इत्यादि । विवेचना करने से यह समझ में आ जायगा कि मनुष्यों के लिए जहाँ यह जानना आवश्यक है कि शब्दार्थ और सम्बन्ध के ज्ञान का ज्ञाता कौन है ? सृष्टि में ज्ञान का आरम्भ किस से हुआ और वह आरम्भिक ज्ञान कौन सा है ? वहाँ इन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर भी यही मिलेगा कि उस अत्यन्त विस्तृत अपरोक्ष तथा परोक्ष वस्तु जगत के ज्ञान का स्वाभाविक ज्ञाता परिच्छिन्न तथा अल्पज्ञ जीवात्मा नहीं हो सकता । श्री व्यास मुनि ने भी जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान 'अहं प्रत्य' मात्र ही माना है और प्रत्यक्ष से भी यही सिद्ध

होता है कि मनुष्यों में ऐसा ज्ञान मौजूद नहीं है। जो है वह भी गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्त और प्रयत्न द्वारा सिद्ध किया हुआ है। परम्परा का क्रम सृष्ट्यारम्भ से आगे नहीं जा सकता। इस लिए यह मानना अनिवार्य्य हो जाता है कि कारण तथा कार्य्य-जगत के ज्ञान का स्वाभाविक ज्ञाता विना नित्य, बुद्ध, सर्वगत सर्वज्ञ और सब के नियन्ता परमात्मा के और नहीं हो सकता। अतः सृष्ट्यारम्भ में मनुष्योपयोगी और आवश्यक ज्ञान भी मनुष्यों को उसी से मिला। महामुनि पातञ्जलि ने भी—"स पूर्वेषामपि गुरु" इस सूत्र में यह कथन कर के ईश्वर को ही ज्ञान के आरम्भ करने वाला माना है। वह सब पूर्वजों का भी गुरु अथवा अनादि गुरु है। सृष्टि-आरम्भ में ज्ञान के आरम्भ करने वाले अनादि गुरु परमात्मा से जो ज्ञान मनुष्यों को मिला वह नैसर्गिक सच्चाइयों का भण्डार अथवा सर्वतन्त्र ज्ञान कर्म और उपासना रूप वेद ही है जो कि अपने नाम से ही अपने स्वरूप का द्योतक है और संसार के पुस्तका लयों में सब से प्राचीन तथा सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की सृष्टि विद्या के अनुकूल और सार्वजनिक है; जिस को दार्शनिक जगत के चमकते सितारों गौतम, कपिल, कणाद आदि ने भी ईश्वरीय माना है। चूंकि वेद साम्प्रदायिक जगत के जन्म से भी पहले के हैं इस लिए मतमतान्तरों के झगड़ों से भी रहित हैं और मनुष्य मात्र के लिए हैं।

वेदों के भाष्य

विद्वत् वृन्द !

वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने का दूसरा बाधक कारण वेदों के अशुद्ध भाष्य हैं। यह सत्य होने पर भी कि वेद वास्तव में अपौरुषेय हैं और दार्शनिक जगत के प्रसिद्ध कुशाग्र बुद्धि गुरु गौतम, कपिल, कणाद आदि महामुनियों तथा तार्किक ऋषि दयानन्द ने भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान माना है। उस वक्ततक न तो वेदों के ईश्वरीय होने सम्बन्धी आशंकायें और आक्षेप दूर हो सकते हैं और न ही वेदों से मनुष्य समाज को यथावत् लाभ पहुँच सकता है कि जब तक महर्षि कणाद के वाक्य—"बुद्धि पूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे" के अनुसार सरल भाषा में बुद्धि तथा सृष्टि विद्या के अनुकूल भाष्य करा कर विद्वत्-जगत् के सामने न रक्खा जायगा और जनता में उसका पूरे बल से प्रचार न किया जायगा। यह सत्य है कि आर्यसमाज बहुत से अच्छे और ज़रूरी काम कर रहा है परन्तु यह सब से ही ज़रूरी काम है जो कि आर्य-समाज को करना है। यह काम प्रतिनिधि सभाओं की सहायता से आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा के ही कराने का है। इ सके लिए जहाँ यह आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द कृत वेद भाष्य के हिन्दी अनुवाद की भाषा का इस प्रकार से संशोधन कर दिया जाय कि जिस से उस की मौजूदा समझ में न आनेवाली उलझनें

दूर हो कर वेद और ऋषि का अभिप्राय स्पष्ट और अच्छी तरह समझ में आ सके ताकि साधारण जनता भी उस से भली प्रकार लाभ उठा सके; वहाँ यह भी ज़रूरी है कि सब प्रकार की भिन्न भिन्न विद्याओं में दक्ष विद्वानों की मंडली द्वारा युक्तियुक्त मुकम्मल भाष्य करा कर उस को संसार में फैलाया जाय। जब तक आर्य-समाज ऐसा नहीं करेगा तब तक वह अपौरुषेय ज्ञान के सिद्धान्त की यथार्थता और वेद तथा वैदिक धर्म के महत्व और उपयोगिता का मण्डन भी उस के वास्तविक अर्थों में नहीं कर सकता। सम्भव है कि मेरे इस निवेदन पर भी ईश्वरीय ज्ञान के न मानने वाले भाई यह आक्षेप करें जैसा कि वह बहुधा किया करते हैं कि वेद वास्तव में जो कुछ हैं वह तो स्वामी दयानन्द और आर्यसमाजियों से इतर वेद के देशी तथा विदेशी भाष्यकारों के भाष्यों से विदित ही हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द और उन के अनुयायी आर्यसमाजी पंडित येन केन उनके बुद्धि अनुकूल भाष्य कर के और हर नये आविष्कार को उनमें से निकाल कर उन को धींगाधींगी ईश्वरीय ज्ञान तथा सर्व विद्याओं का भण्डार बनाया चाहते हैं। इस के उत्तर में इतना ही निवेदन है कि (१) ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाजी पंडित यदि वेदों को अपौरुषेय और सर्व विद्याओं का भण्डार बताते हैं तो वह उस के लिये वेद मंत्रों का वैदिक व्याकरणानुसार अर्थ करते हुए उनमें वर्णन की गई शारीरिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा भिन्न भिन्न प्रकार की ज्ञानात्मक

विद्यारूपी वेदों के अभ्यान्तरिक प्रमाण को भी पेश करते हैं और ज्ञान तथा ज़ुबान के आरम्भ की समस्या का दार्शनिक निर्णय भी उन के अपौरुषेय ज्ञान के मन्तव्य को पुष्ट करता है, इस लिए यह आक्षेप उस समय तक निःसार और व्यर्थ है कि जिस समय तक आक्षेप कर्ता अपने मत के प्रमाण के लिये ग़ैर आर्यसमाजी भाष्यों को यथार्थ और ऋषी दयानन्द के भाष्य और आर्य समाजियों के अर्थों को अयथार्थ तथा युक्ति व प्रमाण द्वारा अपौरुषेय ज्ञान के मन्तव्य को असत्य सिद्ध नहीं करते। (२) यह आक्षेप बहुधा ज्ञान की क्रमशः उन्नति मानने वालों की ओर से ही किया जाता है क्योंकि उन्हें यह भ्रम होता है चूंकि कि वेद संसार के पुस्तकालय में सब से पुरानी और सृष्टि के प्राचीन असभ्य काल की बनी हुई पुस्तकें हैं इस लिए उनमें सभ्य काल के ऐसे उत्कृष्ट ज्ञान का होना ही असम्भव है कि जिस को आर्यसमाजी पंडित वेदों का ज्ञान बतलाते हैं। किन्तु इन की इस निराधार भ्रमात्मक कल्पना का खण्डन ग़ैर आर्यसमाजी भाष्यकारों के भाष्यों से ही हो जाता है क्योंकि उन से भी वेदों में निराकार तथा एकेश्वरवाद आदि अनेक ऐसी शिक्षाओं की सिद्ध होती है कि जिन से ऊँचा ज्ञान आज तक भी किसी को नहीं हुआ। (३) यह कथन भी असत्य और ऐतिहासिक अज्ञता पर निर्भर है कि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाजी ही वेदों को अपौरुषेय और सर्व विद्याओं का भण्डार बतलाते हैं क्योंकि उन से पहले जितने भी

वेदों के प्राचीन भाष्यकार तथा उपनिषदों, दर्शनों और स्मृतियों के कर्त्ता ऋषि-महर्षि हुए हैं वह, और महानुभाव अरविन्द घोष सरीखे अर्वाचीन काल के बहुत से विद्वान भी एक स्वर से वेदों को ईश्वरीय और सब विद्याओं का भण्डार मानते हैं।
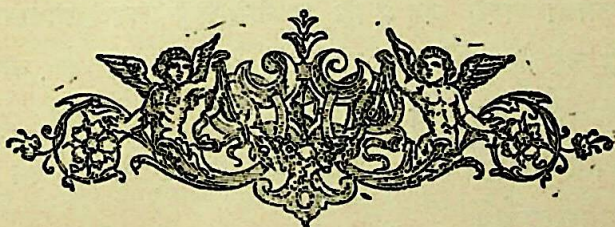
उपोद्घात

वेद का प्रादुर्भाव और उन के समझने का प्रकार

[लेखक—महात्मा नारायण स्वामी जी]

मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान पशुओं से कम है। गाय आदि पशुओं के बच्चे स्वभावतः तैरना जानते हैं; परन्तु मनुष्य सीखे बिना नहीं तैर सकता। मनुष्य को पशुओं से जो विशेषता प्राप्त है उसका कारण यह है कि वह नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त कर के उसकी वृद्धि करने की योग्यता रखता है। यही नैमित्तिक ज्ञान मनुष्यत्व की भित्ति ऊँची किया करता है। इसी योग्यता का लगभग अभाव पशुओं को ऊँचा होने से रोक दिया करता है।

स्वाभाविक और नैमित्तिक ज्ञान

स्वाभाविक ज्ञान जन्म सिद्ध होता है परन्तु नैमितिक ज्ञान वह है जो अन्यों से प्राप्त किया जाय। इस समय वह माता, पिता और अध्यापकवर्ग से प्राप्त किया जाता है परन्तु जगत के

प्रारंभ में, जिसे दुनिया की पहली नस्ल कहा जाता है अमैथुनि सृष्टि में होने के कारण उसे कोई शिक्षा दे कर नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त कराने वाला नहीं होता फिर उस समय वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो ? इसी प्रश्न का उत्तर न मिल सकने के कारण, ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति (इलहाम) की कल्पना की जाती है। इसी कल्पना का संकेत, "स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"[१] योग दर्शन के इस प्रसिद्ध सूत्र में किया गया है।

ऋषियों के दो भेद

ऋषि दो प्रकार के होते हैं:—(१) देव्य ऋषि (२) श्रुतऋषि—इन में से देव्य ऋषि वे हैं जिन पर वेद का प्रकाश होता है। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा। श्रुत ऋषि वे हैं जो देव्य तथा अपने से पहले श्रुत ऋषियों से शिक्षा पाकर ऋषि बनते हैं। इन्हीं दोनों प्रकार के ऋषियों को पूर्व और नूतन ऋषि भी कहा जाता है। यथा:—

अग्निः पूर्वेभि ऋषिभिरीड्योनूतनैरुत।
सदेवां एह वक्षति ॥ ऋ० १।१।२

---

(१) योग दर्शन २।३१—अर्थात् वह ईश्वर, जो समय से विभक्त नहीं हो सकता, पहले ऋषियों का भी गुरु है।

अर्थात वह अग्नि। ईश्वर पूर्व (दैव्य) और नूतन (श्रुत) दोनों प्रकार के ऋषियों से स्तुति करने के योग्य है। दैव्य ऋषियों का प्रादुर्भाव जगत के प्रारंभ ही में एक बार हुआ करता है। वे बार बार नहीं होते परन्तु श्रुतऋषि बराबर होते रहते हैं इसीलिये वेद में मनुष्यों को श्रुतऋषि होने योग्य ही पुत्र की प्रार्थना करने का विधान किया गया है :—

सुब्रह्माणंदेववन्तं बृहन्तमुरुं गंभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र। श्रुतऋषि मुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिंदाः ॥ ऋ० १०।४७।३

अर्थात् हे इन्द्र! हमें, वेद का प्रेमी, परमात्मा का भक्त, उदार, विशाल हृदय, गंभीर, फैली हुई जड़ों (यश) वाला, तेजस्वी, (इन्द्रिय रूपी) शत्रुओं का दबाने वाला, विचित्र शक्ति शाली श्रुत ऋषि पुत्र दे।

योग सूत्र में आए हुए "पूर्वेषाम्" शब्द का अभिप्राय दैव्य ऋषियों से है और इन दैव्य-ऋषियों का भी गुरु ईश्वर को कहा गया है, अस्तु! जगत के प्रारंभ में ज्ञान (नैमित्ति) ईश्वर की ओर से मिला करता है। यह सिद्धान्त जगत के प्रारम्भ से डार्विन के ज़माने तक सर्वसम्मति से बराबर माना चला आता रहा था। डार्विन ने इस सिद्धान्त के सर्व सम्मत होने में अपने विकासवाद के द्वारा आपत्ति उठाई जिसका विवरण इस प्रकार है :—

विकासवाद

डार्विन ने शिक्षा दी कि मनुष्य, योनि-विकास के द्वारा, पशुसे मनुष्य बना है। उसने योनि-विकास का क्रम इस प्रकार बतलाया:—

(१) प्रथम अमीवा आदि एक घटक जन्तु हुए।

(२) फिर आदिम मत्स्य।

(३) फिर फेफड़े वाले मत्स्य।

(४) फिर सरीसृप=मेंढक आदि जलचारी जन्तु।

(५) फिर स्तन्य जन्तु।

(६) फिर अंडज स्तन्य।

(७) फिर पिंडज=अजरायुज स्तन्य।

(८) फिर जरायुज स्तन्य।

(९) फिर किम्पुरुष=बन्दर, बनमानस, पतली नाक वाले वनमानसों में पहले पूँछ वाले कुक्कुटाकार, फिर बिना पूँछ वाले नराकार, फिर इन्हीं नराकार बनमानसों की किसी शाखा (लुप्त कड़ी) से जिसका अभी तक ज्ञान नहीं गूंगे मनुष्य फिर अन्त में उन्हीं से बोलने वाले मनुष्य उत्पन्न हुए। डारविन ने इस योनि विकास के साथ साथ ही मानसिक विकास (Mental evolution) की भी कल्पना करते हुए प्रकट किया कि मनुष्य में बिना किसी निमित्त पुरुष के स्वतः क्रमशः ज्ञान की वृद्धि हो जाती है।

इस वाद पर आक्षेप

पहला आक्षेप

एक विकासवादी प्राणी शास्त्रज्ञ के मतानुसार उद्भिदों से लेकर मनुष्य योनि तक पहुंचने में ६७ लाख योनियाँ बीच की कूती जाती हैं। परन्तु इन ६७ लाख योनियों का विवरण देकर उनमें योनि-विकास प्रमाणित करने की तो कथा ही क्या है उनके नाम भी वतलाना असंम्भव है। जर्मन के प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्रज्ञ अर्नेस्ट हैकल ने एक जगह लिखा है कि "मछली से मनुष्य होने तक, कम से कम, ५३ लाख ७५ हजार योनियाँ बीती हैं। सम्भव है कि यह संख्या इस (५३ लाख) से १० गुनी हो[1]"।

पुराणों में कुल योनियाँ ८४ लाख वर्णित हैं जिनकी तफ़सील एक जगह इस प्रकार मिलती है :—

स्थावर	योनियाँ	३०	लाख
जलचर	"	९	"
कृमि	"	११	"
पक्षी	"	१०	"
पशु	"	२०	"
मनुष्य	"	४	"
	योग	८४	"

1. Lost link by Ernst Haeckal with notes by Dr. H. Gada.

स्थावर योनियों को छोड़ कर जलचर से मनुष्य तक ५४ लाख योनियाँ पुराणों के अनुसार हैं परन्तु हैकल ने सैकड़ों वर्षों के बाद उन्हें केवल ५३$\frac{3}{4}$ लाख कूता है। फिर यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें क्रमशः ज्ञान का ह्रास तो माना जा सकता है परन्तु इसे ज्ञान का विकास किस प्रकार कहा जा सकता है ? फिर इन ५३$\frac{3}{4}$ लाख योनियों के विवरण देने में हैकल ने यह कह कर अपनी असमर्थता प्रकट की है कि "सम्भव है यह संख्या इससे १० गुनी हो।" थोड़े से मुट्ठी भर स्तन्य जन्तुओं का विवरण देकर, जिसके भीतर भी लुप्त कड़ी अभी तक बाकी ही है, योनि-विकास को प्रमाणित समझना, साहस मात्र है।

दूसरा आक्षेप

अब तक सैकड़ों जन्तु, योनि रूप में, अन्धे ही पैदा होते हैं। पता नहीं इनका विकास क्यों नहीं हुआ और पशुओं को छोड़ कर अनेक द्वीपों में अब तक मनुष्य-भक्षक मनुष्य पाये जाते हैं, इनके ज्ञान की, क्रमशः वृद्धि न होने का, समाधान क्या है ?

तीसरा आक्षेप

विकासवाद की पुष्टि में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मनुष्य के गर्भ की अवस्था भी इस वाद की पुष्टि करती है।

इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि गर्भ के प्रारम्भिक मासों में उस (गर्भ) का चित्र उन्हीं जन्तुओं से मिलता-जुलता होता है, जिनसे कि उन्नत होकर योनि-विकास द्वारा, मनुष्य बना हुआ, कहा जाता है। अन्त के मासों में उसमें मनुष्यत्व के चिह्न प्रकट हुआ करते हैं परन्तु यह कथन, अब हाल की खोजों से, ठीक सिद्ध नहीं होता है। "थियोसोफ़िकल पाथ" में डाक्टर वूड़ जौन्स के कथन का हवाला देते हुए, रियान (C. J. Ryan) ने लिखा है:—"हैकल का यह वाद, कि मनुष्य का गर्भ बन्दरों के गर्भ से लगभग अन्त के मासों तक पहचाना नहीं जा सकता, अशुद्ध और त्याज्य है। कुछेक आवश्यक अंग जैसे कि मनुष्य के पाँव, पाँव की एक माँस पेशी (by muscle) के साथ, जो मनुष्य से नीचे के जन्तुओं में नहीं पाये जाते, मनुष्य के गर्भ में यथा-सम्भव प्रारम्भ ही में प्रकट हो जाते हैं, यदि मनुष्य, चार पाँव वाले जन्तुओं आदि की योनियों से गुज़र कर बना होता तो वे अवयव अवश्य गर्भ के अन्त में प्रकट होते।" डाक्टर वूड जौन्स और रियान का भाव उनके ही शब्दों में समझा जा सके इसलिए इन दोनों सज्जनों के लेखों के उद्धरण फुटनोट में दे दिये गये हैं। वूड जौन्स ने अपने लेख में, जैसा कि उन के उद्धरण से मालूम होगा, इस बात को स्पष्ट रीति से वर्णन कर दिया है कि मनुष्य योनि विकास द्वारा नहीं बनी है किन्तु उसकी योनि इन सब से भिन्न

और स्वतन्त्र है[१]। जब दस मास में रज और वीर्य के मेल से मनुष्य बन जाता है तब उसे लाखों वर्षों में बना हुआ बताना ईश्वरी शक्ति (Nature) का अपमान करना है।

---

१. Dr. Wood Jones (The Problem of man's Ancestry p. 33.) " We are left with the unavoidable impression that the search for his ancesters must be pushed a very long way back. × × × It becomes impossible to picture man as being descended from any form at all like the recent monkeys × × × or from their fossil representatives. × × × He must have started an independent line of his own long before the anthropoid apes and the monkeys developed those specializations which shaped their definite evolutionary destinies."

Referring to Wood Jone's above view Mr. C. J. Ryan writes in the "Theosophical Path" He proves that Haeckals teaching that a human embryo can not be distinguished from that of monkeys until very late developments is wrong and must be abandoned, by showing that certain essentially human characters such as the human walking foot with a leg muscle found in none of the lower animals, are visible in the human embryo at the earliest possible time and not late in the formation as they would be if man had passed these the anthropoidal and quadrupadal stages. (Vedic magn. May 1926 p. 143.)

चौथा आक्षेप

यह (विकास) वाद प्रत्यक्ष के विरुद्ध और अवैज्ञानिक है। संसार में एक सार्वत्रिक नियम देखा जाता है कि जो चीज़ उत्पन्न होती है नष्ट हो जाती है, जो चीज़ बढ़ती है अन्त में घटने लगती है। सूर्य की गरमी बढ़ कर अब घट रही है। मनुष्य उत्पन्न होकर युवा होता है फिर बूढ़ा होने लगता और अन्त में मर जाता है। वृक्षों की भी यही अवस्था होती है। यह कहीं भी नहीं देखा जाता कि कोई चीज़ बढ़ती ही चली जाय और घटे नहीं। विकास के साथ ह्रास अनिवार्य्य है। परन्तु डार्विन का विकास वाद एक पहिये की गाड़ी है, ह्रास-शून्य विकास है, इसीलिए अस्वीकर्तव्य है।

पाँचवाँ आक्षेप

क्रमशः ज्ञान-वृद्धि का सिद्धान्त तो सर्वथा निराधार और क्लिष्ट कल्पना मात्र है। इस सम्बन्ध में अनेक समयों में अनेक व्यक्तियों के द्वारा परीक्षण किये गये और सब का एकही फल निकला और वह यह था कि क्रमशः ज्ञान वृद्धि का सिद्धान्त अप्रामाणिक है। परीक्षण करने वाले व्यक्तियों के नाम ये हैं:—

(१) असुरवानापाल लेयार्ड (Layard) और रौलिन्सन (Rowlinson) दो अन्वेषकों ने नैनवा और बैवलन (असीरिया)

के पुराने खंडरों को खुद्वाया और ईंटों पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले। उन पुस्तकों से बानापाल के परीक्षणों का हाल मालूम हुआ। पुराणों में इसी बानापाल को बानासुर लिखा है जिसने इस देश पर आक्रमण किया था और पराजित हुआ था।

(२) यूनान का राजा सेमिटिकल।
(३) द्वितीय फ्रेडरिक (Fredrick the Second)
(४) चतुर्थ जेम्स (Jaimes the 4th of Scotland)
(५) महान अकबर

इन राजाओं के आधिपत्य में अनेक विद्वानों ने १०—१० बारह-बारह (अकबर ने ३० बच्चों पर) छोटे-छोटे नवजात बालकों को शीशों के मकानों में रक्खा और उनकी परवरिश के लिए धाइयाँ रक्खीं और उनको समझा दिया गया कि वे बच्चों को खिला पिला कर प्रत्येक प्रकार से उनकी रक्षा करें; परन्तु उनको, किसी प्रकार की, कोई शिक्षा न दें, न उनके सामने कुछ बोलें। उन धाइयों ने ऐसा ही किया। इस प्रकार परवरिश पाकर जब बच्चे बड़े हुए तब जाँच करने से मालूम हुआ कि वे सभी बहरे और गूँगे थे[1], यदि बिना शिक्षा दिये स्वयमेव किसी में ज्ञान उत्पन्न हो सक्ता होता तो इन बच्चों

१. देखो Transactions of the Victoria Institute Vol. 15 p. 336.

को भी बोलना आदि स्वयमेव आ जाता। इनका बहरा और गूंगा रह जाना साफ़ तौर से प्रकट करता है कि स्वयमेव ज्ञान न उत्पन्न होता है न उसकी वृद्धि होती है।

छठा आक्षेप

वैज्ञानिक भी अब क्रमशः ज्ञान-वृद्धि के मन्तव्य का विरोध करने लगे हैं :—

(१) सर आलिवर लाज, क्रमशः ज्ञान वृद्धि के सिद्धान्त का विरोध करते हुए, ऐसा मानने वालों से प्रश्न करते हैं कि सूक्ष्म कला (Fine arts) फोटोग्राफ़ी आदि का, बिना शिक्षा प्राप्त किये, किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ ? एक दूसरे विद्वान बालफोर (Balfour) ने लाज के इस प्रश्न का समर्थन किया है[1]।

(२) डाक्टर वालेस ने जो विकासवाद के आविष्कारकों में से एक थे, अपने क्रमशः ज्ञान की वृद्धि वाले सिद्धान्त को छोड़ कर एक जगह लिखा है कि जो विचार वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं और जो उत्पन्न भाषा में प्रकट हुए हैं उनके लेखक उत्तम से उत्तम शिक्षकों और हमारे मिलटनों और टैनीसनों से न्यून नहीं थे। डाक्टर वालेस के शब्द ये हैं :—

" We must admit that the mind which concieved and expressed appropriate language,

---

1. Life and Matter by Sir Oliver Lodge p. 143.

such ideas, as are verywhere apparent in these Vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our religous teachers and poets to our Milton's and our Tennysons."[1]

(३) डाक्टर वालेस ने मिश्र और मेसोपटेमिया की पुरानी कलाओं और लेखों पर विचार करते हुए उनको भी आजकल की अच्छी से अच्छी कलाओं से कम नहीं ठहराया है। उन्हों ने इन और ऐसी ही अन्य बातों पर विचार करते हुए परिणाम यह निकाला है कि क्रमशः ज्ञान वृद्धि का कोई प्रमाण नहीं है:—

There is therefore no proof continuously increasing intellectual power.[2]

(४ क) गैलटन महोदय ने एक जगह लिखा है:—

It fo llows from this that theaverage ability of the Athenian race is on the lowest possible estimate very nearly two grades higher than our own; that is about as much as our own race is above

1. Social environment and moral progress by Dr. Wallace p. 14.

2. Social environment and moral progress by Dr. Wallace p. 8-26.

that of the African Negro (Heridity Genius by Galton p. 331). इसका सार यह है कि यूनानियों को सभ्य योग्यता नीची से नीची मात्रा में यदि वह कूती जावे तो भी हमारी सभ्यता से दो दरजे ऊपर थी अर्थात् लगभग उतनी ऊँची थी जितनी हमारी जाति अफ़्रीका के वहशियों से ऊँची है।

(४ख) प्रोफ़ेसर गोल्ड स्मिथ के एक पुस्तक (The laws of life) की समालोचना करते हुए "के" (W.E. Key) महोदय ने "गुड-हैल्थ" (Good Health) में लिखा है कि विकासवाद का, अर्थ समझने से पहले, यह बात अच्छी तरह से हृदयांकित कर लेना चाहिए कि यह वाद न तो यह कहता है कि ईश्वर नहीं है और न इसकी शिक्षा यह है कि मनुष्य वन्दरों से उत्पन्न हुआ है[१]

(५) पैरी ने अपने एक ग्रन्थ[२] में और इडवार्ड कारपेंटर ने भी अपने एक दूसरे ग्रन्थ में[३] डॉक्टर वालेस और प्रो० "के" की सम्मतियों का समर्थन किया है—

---

1. Before considering the meaning of evolution it neither eliminates God, nor does it teach that monkeys are the ancesters of man (Vedic Mag. Sept. 1923.)

2. The Children of the Sun by Perry.

3. The Art of Creation by Edward Carpentor p. 105.

(६) डारविन भी, जो विकासवाद का आविष्कारक था, अनीश्वरवादी नहीं था। उसनी अपने एक पुस्तक के पहले संस्करण में, जो योनियों के उत्पत्ति के संबंध में है, लिखा था:—

"I should infer from analogy that probably all the organic beings have descended from some one premordial form into which life was first breathed."

परन्तु उसी पुस्तक के दूसरे संस्करण में उसने उपर्युक्त वाक्यों को संशोधन करके इस प्रकार लिखा है :—

There is a grandeur in this view of life having been originally breathed by the creator into a few forms or into one."[१]

संशोधित वाक्य में जीवन फूँकने वाले ईश्वर को वर्णन करके डार्विन ने साफ़ शब्दों में प्रकट कर दिया है कि वह ईश्वर की सत्ता मानता था।

नोट—टिंडल ने अपने बेलफ़ास्ट के भाषण में, डार्विन के पहले संस्करण में प्रयुक्त किये हुये "आदिम योनि" (Premordial Form) शब्दों पर, आक्षेप किया था कि उस (डार्विन) ने किस आधार पर यह कल्पना की है[२]।

---

1 Origin of Species by Charles Darwin.

2 Lectures and Essays by Tyndall p. 30.

जो कुछ विकास-वाद के संबंध में ऊपर लिखा गया वह यह प्रकट कर देने के लिये पर्य्याप्त है कि यह वाद अनेक त्रुटियों और कमियों से पूर्ण है और इस वाद के दो सिद्धान्त तो अत्यन्त आपत्तिजनक हैं:—

(१) एक योनि से दूसरी योनि का उत्पन्न होना—

(२) क्रमशः ज्ञान की वृद्धि (Mental Evolution) और अधिकतर वैज्ञानिक भी अब इसके विरुद्ध हो गये और बराबर होते चले जाते हैं। इसलिए डार्विन ने ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के सिद्धान्त में, जो बाधा अपने विकासवाद की अन्वेषणा से पहुँचाने का यत्न किया था, वह यत्न निष्फल सा सिद्धहो रहा है। इस लिए उसके सम्बन्ध में अब और अधिक न कह कर फिर मैं असली विषय (ईश्वरीय ज्ञान) की ओर आता हूँ—

ईश्वरीय ज्ञान के सम्बन्ध में तीन कल्पनाएं

जो ज्ञान ईश्वर द्वारा प्राप्त होता है, उस के सम्बन्ध में तीन कल्पनाएं की जाती है :—

पहली कल्पना

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता जगत के प्रारम्भ में होती है। जब तत्कालीन मनुष्य-समाज में शिक्षकों का अभाव होता है उस अभाव की पूर्ति ईश्वरीय ज्ञान द्वारा होती है। भारतवर्ष के

ऋषि-मुनियों का ऐसा ही विचार था और अब भी ऋषि दयानन्द ने इस कल्पना की पुष्टि की है और आर्य-समाज इसी विचार का पोषक है।

दूसरी कल्पना

दूसरा विचार यह है कि समय समय पर विशेष विशेष पुरुषों के द्वारा विशेष विशेष पुस्तकों के रूप में ईश्वरीय ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ करता है। ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदि सम्प्रदाय इस विचार के समर्थक हैं।

तीसरी कल्पना

तीसरा विचार यह है कि विना किसी पुस्तक के माध्यम के, समय समय पर विशेष विशेष पुरुषों को ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता रहता है। ब्रह्म समाज और उनके अनुयाई तथा अन्य कुछेक पुरुष इस कल्पना को ठीक मानते हैं। जब जगत् के प्रारम्भ में मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हो चुका तब उसके बाद भी ऐसे ज्ञान प्राप्ति की कल्पना से ईश्वर की सर्वज्ञता में धब्बा आता है। इलहाम होकर फिर उसे रद्द कर करना अथवा उसमें संशोधन करना अथवा उसके स्थान पर नया ज्ञान देने से ईश्वर के ईश्वरत्व में बाधा पहुँचती है इसलिए दूसरी और तीसरी कल्पनायें अप्रतिष्ठित हैं—

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

पहली कल्पना के अनुसार इस देश में प्रारम्भ से अब तक बराबर वेद को अपौरुषेय मानते चले आते हैं। स्वयं वेद भी इस मन्तव्य की साची देते हैं :—

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत[1] ॥१॥

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से (जिसका पहले वर्णन हुआ है) ऋग्वेद, सामवेद, उत्पन्न हुए, (छन्दांसि) अथर्ववेद उत्पन्न हुए उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसोमुखं।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

(अथर्व १०। ७। २०)

अर्थात् ऋचायें (ऋग्वेद) जिससे निकली हैं, यजु (यजुर्वेद) जिससे उत्पन्न हुए हैं, साम (सामवेद) जिस के लोम (रोमों की सदृश) अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) जिसका मुख है, बताओ कि वह स्कंभ (ईश्वर) कौन है।

१—यह ऋग्वेद मंडल १० सूक्त ९० की ९ वीं ऋचा है। और यजुर्वेद ३१।७ तथा अथर्ववेद १९।६।१३ में भी इसी प्रकार विना किसी अन्तर के आई हैं।

स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद् ऋचोऽजायत ॥३॥

अथर्व १३।४।३८

अर्थात् वह (ईश्वर) ऋचाओं (वेदों) से प्रकट हुआ उस (ईश्वर) से ऋचाएं (वेद) प्रकट हुईं।

ऋग्वेद १०।९०।९ और अथर्व वेद १०।७।२० तथा अन्य अनेक स्थलों पर भी वेदों के ईश्वर से प्रकट हुआ होने का उल्लेख है[1]।

---

(१) Phillip ने अपने ग्रंथ Teachings of the Vedas. में देखो पृष्ठ २३१) लिखा है कि "वेदानुयायी आर्य्यों के उच्च और शुद्ध विचारों का केन्द्र प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान था"

(क) डाक्टर फ़िलीमिंग ने भी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

If we are to obtain more solid assurances it can not come to the mind of man groping feebly in the dim light of unassisted reason but only by a communication made directly from this Supreme Mind to the finite mind of man. "Science and Religion by seven men of science Lecture by Dr. Fleeming.)

(ख) स्वयं हैकल जैसे जड़ वादी ने भी, इलहाम की संभावना, स्वीकार की है। उसने लिखा है कि यदि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करली जावे तो उस ईश्वर के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने में कोई वैज्ञानिक वाधा नहीं हो सकती, उसके शब्द ये हैं।

They may or may not receive such information but there is no scientific ground for dogmatism on the subject nor any reason for asserting the inconceivability of such a thing. (T. O. Magzine quoted in the materialism by Dorab Dinsh Kanga p. 52.

(ग) एमरीका के प्रसिद्ध विद्वान् टामस पेन, जिसने बाइविल के इलहामी होने का प्रबल खंडन किया है और जिसने बाइविल के अनेक लेखकों के लिए प्रमाणित किया है कि वे जोड़ और बाक़ी तक नहीं जानते थे, इलहाम के सम्बन्ध में उसने जो सम्मति दी है वह वेदों पर पूर्ण रीति से चरितार्थ होगी। उसकी सम्मति इस प्रकार है:—

Revelation is a communication of something which the person to whom the thing is revealed, did not know before. For if I have done a thing, or seem it done it needs no revelation to tell me I have done it or seen it nor enable me to tell it or to write it. Revelation therefore can not be applied to any thing done upon earth of which man is himself actor or the witness and consequently all the historical part of the Bible which is almost the whole of it is not within the meaning and compass of the world revelation and therefore is not the word of God. (Age of Reason p. 10-11).

स्पष्ट है कि वेद में इतिहास न होने से वेद ही इलहाम के अर्थों में सार्थक होते हैं।

वेद का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ?

ऋग्वेद में वेद के प्रादुर्भूत होने के सम्बन्ध में एक जगह इस प्रकार वर्णन है :—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषाँ श्रेष्टं यदरि प्रमासीत् प्रेणातदेषांनिहितंगुहाविः

ऋ० १० । ७१ । १

अर्थात् "ईश्वर (वेद) वाणी का स्वामी है। वह वाणी ऋषियों(१) के हृदयों में उत्पन्न होती है। उसी वाणी को ऋषि अपने हृदयों से निकाल कर उस के द्वारा वस्तुओं के नामादि उच्चारण करते हैं।

इस मंत्र से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान प्राप्त होने की कार्य्य प्रणाली यह है कि ज्ञान वाणी के साथ ऋषियों के हृदयों में प्रकट होता है और वे ज्ञान के ग्राहक ऋषि उसे संसार में प्रचलित किया करते हैं। हम इस कार्य्य प्रणाली को अन्तःकरण की प्रेरणावत् समझ सकते हैं। मनुष्य जब कोई अच्छा काम करना चाहता है तो उस के संकल्प मात्र से उस के हृदय में उत्साह और

---

(१) ऋषियों से अभिप्राय उन्हीं देव्य ऋषियों से है जिन का पहले वर्णन हो चुका है और जिस के शिक्षा पाकर श्रुत ऋषि बना करते हैं।

प्रसन्नता उत्पन्न होती है। और जब कभी कोई बुरा काम करना चाहता है तो उस के संकल्प मात्र से भय, शंका और लज्जा उत्पन्न होती है। दोनों सूरतों में मनुष्य के भीतर जो उत्साह और अनुत्साह उत्पन्न होता है इसे कोई ज़ुबान से नहीं कहता न वह (ग्राहक) मनुष्य उसे कानों से सुनता है। यह भाव हृदय ही में उत्पन्न होता है और हृदय ही के माध्यम से मनुष्य उसे सुन और समझ लिया करता है। इसी अन्तःकरण की प्रेरणा (Conscience) की भाँति, ईश्वरीय ज्ञान भी ग्राहक ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होता है और ऋषि उसे हृदय ही से समझ लिया करते हैं[१]—

इपीक्यूरस इसका समर्थक है

ग्रीक दार्शनिक इपीक्यूरस (Epicurus) ने उपर्युक्त भाँति ज्ञान प्राप्ति का समर्थन किया है—उस ने एक जगह लिखा है—

---

(१) ऋषि दयानन्द अन्तःकरण की प्रेरणा (Conscience) को ईश्वर प्रेरणा मानते थे। पाइथा गोरस भी ऐसा ही मानता था:—

" But there is a voice of conscience within us the utterance of a a divine law independent of human statues and traditions, selfevident irrefragable.Science of language by Max Muller Vol. IIp. 396.

"सब से प्रथम भाषा के प्रकट करने में, ईश्वरीय प्रेरणा से मनुष्य ने अबोंधता के साथ (सोते में बोलने बड़बड़ाने के सदृश) काम किया जिस प्रकार से वह (बिना इरादे के) खाँसा, छींका या आह भरा करता है—इत्यादि (Materialism by D. D. Thanga P. 52)

उपनिषदों का समर्थन

बृहदारण्यकोपनिषद में लिखा है—

"अस्य" महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदयद् ऋग्वेदः॥"

अर्थात् उस महाभूत (ईश्वर) के श्वास से यह जो ऋग्वेद है, प्रकट हुआ।

भाषा भी ईश्वरीय थी

अस्तु! ज्ञान प्राप्ति का प्रकार समझने के बाद यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह प्राप्त ज्ञान भाषा के साथ था। बिना भाषा के कोई (नैमित्तिक) ज्ञान समझा नहीं जा सकता। ध्यान पूर्वक अपने हृदय में विचार कर देखो कि क्या कोई बात, जो शब्दों में न हो, ख्याल में आ भी सकती है। उत्तर यही मिलेगा कि "नहीं"। इसी लिये इस देश के विचारकों में से, महामुनि पतंजलि, जैमिनि, आदि सज्जनों ने, शब्द को नित्य माना है। प्लैटो ने भी इस का समर्थन किया है। मैक्समूलर ने पाईथा

गोरस, प्लेटो आदि का हवाला देते हुए प्रमाणित किया है कि ज्ञान बिना भाषा के और भाषा बिना ज्ञान के नहीं हो सकती[1] शीलिंग ने भी इसका समर्थन किया है[2]।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछेक वाद

एक वाद का आविष्कारक लाक और ऐडम स्मिथ (Adam-smith) समर्थक था उस वाद को (Theory of Convention कहते हैं। वह वाद यह है कि प्रारंभ में मनुष्य गूँगे थे। विचार-परिवर्तन शरीर के अवयवों के संकेत से करते थे। कभी मुँह बनाकर और कभी उँगलियों के संकेत से। पीछे कुछ चिह्न निश्चित कर के उन के अर्थ परस्पर की सलाह से कल्पना कर लिये। इस पर आक्षेप हो सकता है कि जब शब्द और अर्थ अनिश्चित थे तो सलाह कैसे की और अर्थ किस भाषा में नियत किये क्योंकि उस समय भाषा तो कोई थी नहीं।

I therefore declare my conviction as explicitly as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language. (Science of language by Prof, Max Muller P. 99).

2. Without language says Schelling, it is impossible to concieve philosophical nay even any human conscieousness Do. p. 98.)

एक दूसरा वाद है जिसे (Onomato poetic theory) कहते हैं। इस वाद का विवरण यह है। "सबसे प्रथम मनुष्य ने जब बोलना शुरू किया तो अपने समीपवर्ती जीवित प्राणियों की आवाज़ की नक़ल की और जिन की आवाज़ की नक़ल कर के बोलना शुरू किया था पीछे वे शब्द, उन्हीं जन्तुओं के नाम हो गये। इस प्रकार के अनेक[१] छोटे मोटे वाद हैं जो भाषा का प्रारंभ प्रकट करने के लिये गढ़े गये हैं परन्तु उनका मूल्य तुक बन्दियों से अधिक नहीं। इन और इस प्रकार की अन्य तुक बन्दियो से, भाषा की उत्पत्ति जैसे जटिल प्रश्न के हल करने का यत्न, मृगतृष्णा से प्यास बुझाने की सदृश है। भाषा की उत्पत्ति के इस प्रकार के यत्नों को निस्सार समझते हुए, स्वीकार करना पड़ता है कि ज्ञान के सदृश, भाषा भी दैवी महिमा है और ईश्वर ही की देन है।

वेद का नित्यत्व

ऋग्वेद में एक जगह एक मंत्र इस प्रकार आया है:—

---

(१) दो और वादों का विवरण इस प्रकार है:—

(१) Introjectional Theory। मांसिक भावों के

(२) Bow-Vow Theory। प्रकट करने के आवेश में मुँह से अचानक शब्दों का निकल पड़ना जैसे हा! हा!! या वाह! वाह!! इत्यादि

"तस्मैनूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया ।
वृष्णो चोदस्व सुष्टुतिम् ॥

(ऋग्वेद ८।७६।६।)

इस में वेद को ईश्वरीय वाक्य और नित्य कहा है। इसी की पुष्टि वेदान्त दर्शन में "अतएव च नित्यत्वम् ॥ (वेदान्त १।३।२९) सूत्र द्वारा की गई है। महाभारत में एक जगह इसी प्रकार की बात कही गई है:—

अनादि निधना नित्यावागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयो दिव्यायतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

(म० भारत १२।२३३।२४)

अर्थात् सृष्टि के आदि में स्वयंभु परमात्मा से ऐसी वाणी-वेद निकले जिनका न आदि है, न अन्त, जो नित्यनाश रहित और दिव्य हैं। उन्हीं से जगत में सब प्रवृत्तियों का प्रकाश हुआ है।

फिर एक जगह कहा गया है:—

स्वयम्भुदेव भगवान वेदोगीतस्त्वया पुरा ।
शिवाद्या ऋषि पर्य्यन्ताः स्मर्तारोऽस्यनकारकाः ॥

अर्थात् हे स्वयम्भु भगवान ! पुरातन काल में वेद आप ही के द्वारा गाया गया था। शिवि से लेकर ऋषियों तक उस (वेद) के स्मरण करने वाले ही हैं। कर्त्ता नहीं।

कुल्लूक भट्ट ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उस के वाक्य ये हैं:—प्रलय कालेऽपि सूक्ष्म रूपेण परमात्मनि वेद राशिः स्थितः" अर्थात प्रलय काल में भी वेद सूक्ष्म रूप से ईश्वर में स्थित रहते हैं।

"मेधा तिथि" ने भी लिखा है "नैव वेदाः प्रलीयन्ते महा प्रलयेऽपि ॥ अर्थात् महाप्रलय में भी वेद उपस्थित रहते हैं।

गीता में भी इसी का समर्थन किया गया है:—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ॥

(गीता ३।१५)

अर्थात कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म=वेद से हुई और वेद ईश्वर से उत्पन्न हुये हैं॥

सांख्य ने भी वेद को अपौरुषेय कहा है (देखो सांख्य ५।४६) और पूर्व मीमांसा में उसके नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। (देखो पूर्व मीमांसा १।१।२९)

क्या वेद में ऋषियों के नाम हैं ?

जमदाग्नि, वाशिष्टादि शब्द वेदों में आये देख कर किन्हीं को सन्देह होता है कि उन (वेदों) में ऋषियों के नाम आये हैं इस का समाधान महर्षि जैमिनि ने निम्न सूत्रों के द्वारा किया है:—

आख्या प्रवचनात् ॥ पूर्वमीमांसा ॥ १ । १ । ३०

परन्तु श्रुति सामान्य मात्रम् ॥ १ । १ । ३१ ।

अर्थात् वेद में जमदग्नि आदि शब्द सामान्य (यौगिक) शब्दों के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं पीछे से यह लोगों के नाम भी पड़ गए।

शतपथ और जमदग्नि आदि शब्द

शतपथ में वेद में आये जमदग्ति आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये गये हैं :—

जमदग्नि = आँख (शतपथ ८।१।२।३।)
वशिष्ठ =प्राण (,, ८।१।१।६)
भारद्वाज =मन (,, ८।१।१।९।)
विश्वामित्र =कान (,, ८।१।२।६।
विश्व कर्मन=वाक (,, ८।१।२।९)

इसी प्रकार से शुनः शेप के अर्थ निरुक्त में विद्वान् किये गये हैं। देखो निरुक्त ३।२।

ऋषि दयानन्द प्रतिपादित वेदार्थ शैली और मैक्स मूलर

ऋषि दयानन्द ने निरुक्त, पूर्व मीमांसा और शत पथादि ग्रन्थों का, उपर्युक्त भाँति अनुकरण करते हुए, प्रकट किया है कि वेद में इतिहास नहीं इस लिए कि वेद के सभी शब्द यौगिक हैं मैक्समूलर ने एक जगह आश्चर्य है कि पश्चिमी विद्वानों की निर्धारित शैली के विरुद्ध ऋषि दयानन्द की शैली

का समर्थन किया है, उसने लिखा है कि वेदों में आये हुए, ऐसे शब्द जो आज ऋषियों के नाम के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं व्यक्तियों के नाम या ख़िताब आदि नहीं हैं[1]।

राथ भी इस शैली के समर्थन में

राथ ने अपने प्रसिद्ध कोश के सात भागों में से पहले भाग के ४ से ६ पृष्ठों में जो कुछ लिखा है उसका सार यह है :—वेदार्थ का उद्देश्य सायणादि कृत अर्थों का ग्रहण करना नहीं वल्कि उन अर्थों का जो वैदिक ऋषियों के मन में था, ढूँढ़ना है। सायणादि अपने समय के विचारों के प्रतिविंब, वेदों में देखते हैं:—सत्य वेदार्थ प्रायः सभी विद्वान् चिरकाल से भूल गये थे, अतः अपने अपने समय के धार्मिक विचारों का समावेश वेदार्थ में करते आये हैं।"

राथ की इस सम्मति पर गोल्डस्टकर तो बहुत अप्रसन्न हुआ था परन्तु ह्विटनी On the translation of the Veda by Whitnay) जे. म्यूर (On the Interpretation

---

१. Names are to be found in the Vedas as it were, in a still fluid state they never apear as appelatives nor yet as proper inames ; they are organic nor yet broken or smoothed down. (Ancient Sanskrit Literature p. 287.)

of the Veda by j. muir) और वीवर (Indian wisdom by Weber) ने अपने अपने ग्रन्थों में राथ के उपर्युक्त आशय को एक प्रकार से स्वीकार किया है।

"मन्त्र कृत" शब्द पर विचार

वेद मंत्रों के साथ जो मन्त्र दृष्टा ऋषियों के नाम लिखे चले आते हैं उन को कई विद्वान् मंत्र दृष्टा नहीं अपितु मन्त्र कर्ता मानते हैं। मूर ने अपने एक ग्रन्थ (Original sanskrit Text vol III) के तीसरे प्रकरण में ८० के लगभग मन्त्र दिये हैं जिनमें "कृ" और "तत्त" बनाना धातुओं के प्रयोग हुए हैं।

"पंच विंश" ब्राह्मण (देखो १३। ३। १४) और एतरेय ब्राह्मण (देखो ६। १। १) में भी मंत्र कृत शब्द का प्रयोग हुआ है :—

तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक ४ अनुवाक एक में भी मंत्र कृत शब्द आया है। उपर्युक्त विद्वान् अपने पक्त की पुष्टि में ये और इसी प्रकार के हवाले दिया करते हैं। परन्तु सायणादि पौराणिक विद्वान् तक इन विद्वान के पक्ष का समर्थन नहीं करते। यहाँ दो एक उदाहरण दिए जाते हैं :—

(१) उपर्युक्त तैतिरीयारण्यक (४। १७ में प्रयुक्त वाक्य इस प्रकार है:—

"नमो ऋषिभ्यो मन्त्र कृद्भ्यो मन्त्र पतिभ्यः" ॥

इस का भाष्य करते हुए सायणाचार्य्य ने इस प्रकार लिखा है:—

"मंत्र कृद्भ्यः मंत्रं कुर्वन्तीति मंत्र कृतः। यद्यप्य पौरुषेय वेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरा नुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मन्त्र कृत्युच्यन्ते" ॥

स्पष्ट है कि मन्त्र ग्रहण कर्ता (अग्नि, वायु आदि) ऋषियों को सायण मन्त्र कर्ता शब्द से ग्रहण करता है। उसने उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि में किसी स्मृतिकार का निम्न वाक्य भी दिया है:—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लभिरेतपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयं भुवा ॥

अर्थात् युगान्त में लोप हुए वेदों को, ऋषिगण अपने पूर्व संचित तप से प्राप्त करते हैं। इस वाक्य को उद्धृत करते हुए सायण लिखता:—

"त एव महर्षयः (अग्नि वायु आदि)
संप्रदाय,प्रवृत्त्या मंत्राणां पालनां मन्त पतयेन्युच्यन्ते ॥

अर्थात् उन्हीं वेदों को प्राप्त करनेवाले ऋषियों को "मंत्र-पति" भी कहते हैं।

(२) सर्पऋषिर्मन्त्र कृतः" । ऐ० ब्राह्मण ६।१।१

इस पर सायणाचार्य्यों ने टीका करते हुए लिखा है:—

"ऋषिः अतीन्द्रियार्थं मन्त्र कृत" ('कृ' धातुस्त्वत्र दर्शनार्थः) मंत्रस्यद्रष्टा ।

अर्थात् इस वाक्य में 'कृ' धातु दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्प ऋषि मन्त्र कृत=मंन्त्र द्रष्टा है ।

(३) यास्काचार्य्य ने भी सायण के उपर्युक्त भाव का समर्थन किया है :—

"ऋषि दर्शनात्स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद् यदेनांस्तस्तपस्यमानां ब्रह्म स्वयम्भव भ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तद्दषाणामृत्वमिति विज्ञायते ॥ (निरुक्त २।३।२)

अर्थात् (पश्यतिह्यसौ सूक्ष्मान् अर्थान्) ऋषि मंत्र के सूक्ष्म अर्थों को देखता है इस लिए उसे ऋषि कहते हैं । औपमन्यव का मत है कि जो स्तोम=वेद मंत्रों को तपश्चर्य्या से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा देखे उसे ऋषि कहते हैं ।

(४) तै० आ० २ । ९ । १ में भी औपमन्यव के वाक्य इसी प्रकार के मिलते हैं:—

अजान ह वै पृश्नींस्तपस्यमानां ब्रह्म स्वयम्भभ्यानर्षत्त दृष्ययोऽभवत् तद्दषीणामृषित्वम् ॥

अर्थात् वेद (ब्रह्म) को (स्वयंभू) जो बिना किसी के रचे, स्वयं (ईश्वर द्वारा) प्रकट होनेवाले, (आभ्यानर्षत) विना पढ़े, अपने विशेष तप के कारण ऋषियों ने देखा यही ऋषियों का ऋषित्व है।

(५) ऋषि गतौ धातु से ऋषि शब्द बनता है—ऋषि दयानन्द ने उणादि कोश में उसका अर्थ इस प्रकार किया है:—

ऋषति गच्छति, प्राप्नोति जानाति वा स ऋषिः ॥

(उणादि कोश ४ । १२ ।)

(६) निरुक्त में एक जगह लिखा है :—

"साक्षात्कृत धर्माणाऋषियो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽ साक्षात्कृतधर्मेभ्यःउपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः ॥"

(निरुक्त १ । ६ ५ ।

अर्थात् धर्म का साक्षात करने वाले ऋषि होते हैं और जिन्हों ने धर्म को साक्षात नहीं किया है। ऐसे लोगों के लिये मंत्रों का उपदेश किया है।

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट करते हैं। ऋषि मन्त्र कर्ता नहीं थे अपितु मंत्रों का साक्षात करके उसका उपदेश और प्रचार करने वाले थे और यह कि "मंत्र" कृतं" में "कृ" धातु दर्शन अर्थ में हैं और इस लिए मंत्र कृत शब्द के अर्थ मंन्त्रद्रष्टा ही हैं।

मन्त्रक्रम

निरुक्त में लिखा है—

"श्रुति तोऽपितर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एवतु निर्वक्तव्याः ॥

(निरुक्त २३ । १२)

भाव इस का यह है कि चाहे मंत्रार्थ ब्राह्मण ग्रंथों आदि के प्रमाण से करें चाहे युक्ति और तर्क का आश्रय लेकर करें परन्तु प्रत्येक दशा में, प्रकरण से अलग कर के, मंत्रों का अर्थ न करें। इस से साफ़ ज़ाहिर है कि मंत्रों का जो क्रम है। उसी के अनुसार प्रकरण को देख कर ही मंत्रार्थ ठीक हो सक्ता है। क्रम और प्रकरण से अलग करके नहीं।

—नारायण स्वामी

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली

लेखक

श्री पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालंकार

विद्यावाचस्पति बंगलोर

किसी सुप्रसिद्ध मान्य आचार्य के वेदभाष्य की आलोचना करना सामान्य मनुष्यों के लिये बड़े साहस का कार्य है। ऋषि दयानन्द जैसे योगिराज महाविद्वान् के भाष्य के गुणदोषों का विवेचन करना मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं इस बात को मैं भली भान्ति जानता हूं। इस प्रकार की विवेचना के लिये जितनी योग्यता की आवश्यकता है मुझ में उसका अभाव है; तथापि अपने वेदभाष्य के स्वाध्याय के परिणाम को संक्षेप से कुछ आप के सामने रखना उचित समझता हूं जिससे स्वाध्याय शील विद्वान् आशा है कुछ लाभ उठा सकेंगे।

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली पर विचार करने से पूर्व ऋषि के वेद विषयक मन्तव्य का निर्देश करना अनुचित न होगा।

(१) प्राचीन सब शास्त्रकारों की तरह ऋषि दयानन्द का यह विश्वास था कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका मङ्गलमय करुणा-सागर भगवान् ने मनुष्यमात्र के हित के लिये उपदेश किया, अतः वेद धर्म और विज्ञान का मूल है जिस के अन्दर मनुष्य की वैयक्तिक पारिवारिक सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति के सूचक सब तत्त्व पाये जाते हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि ऋषि ने अनेक प्रबल युक्तियों के द्वारा भी की है।

(२) वेद ईश्वरीय ज्ञान होने और सृष्टि के प्रारम्भ में उनका प्रकाश होने के कारण नित्य हैं, अतः उनमें अनित्य इतिहास नहीं हो सकता। वेद में पाये जाने वाले वसिष्ठ विश्वामित्र अत्रि जमदग्नि भरद्वाज आदि शब्द व्यक्ति विशेष वाचक नहीं किन्तु गुण विशिष्ट वाचक हैं।

(३) वेदों में उपर्युक्त शब्द यौगिक वा योगरूढ़ि हैं केवल रूढ़ि नहीं। लौकिक संस्कृत के अनुसार रूढ़ि मान कर उन की व्याख्या करना ठीक नहीं।

(४) वेदों की शिक्षाएं अत्यन्त पवित्र उच्च और सार्वभौम हैं।

यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त सिद्धान्त स्वामी दयानन्द जी के कपोल कल्पित नहीं किन्तु सभी प्राचीन शास्त्रकारों ने उन को स्वीकार किया है। "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" 'अतएव च नित्यत्वम्' (वेदान्त) "धर्मं जिज्ञासा मानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥" (मनु) "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनुः) इत्यादि

सैंकड़ों वचनों द्वारा इन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन होता है। "तत्र नामान्याख्यातजानीति नैरुक्त समयः" "नामजधातुजमाह निरुक्ते" (महाभाष्य) इत्यादि वचनों में सब वैदिक शब्दों को यौगिक स्पष्टतया बताया गया है और यही वेदों के व्याख्यान की प्राचीन शैली है जिसे नैरुक्तिक पद्धति के नाम से कहा जाता है। पूर्वमीमांसा के "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः" (१।१।२७) अनित्यदर्शनाच्च (१।१।२८) इत्यादि पूर्व पक्ष रख कर उसका स्पष्ट उत्तर दिया गया है कि 'आख्या प्रवचनात्' (१।१।३०) "परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्" अर्थात् वेदों में जो नाम प्रतीत होते हैं वे व्यक्ति विशेष वाचक नहीं हैं किन्तु तत्तद्गुण विशिष्ट किसी भी व्यक्ति के लिये उन का प्रयोग हो सकता है। इससे ऋषि दयानन्द के इस विषयक मन्तव्य की निस्सन्देह पुष्टि होती है। अन्य मन्तव्यों के समर्थन में भी सैंकड़ों शास्त्रीयप्रमाणों को उद्धृत किया जा सकता है किन्तु विषय विस्तार के भय से यहाँ ऐसा करना उचित नहीं प्रतीत होता। यहां यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि सायणाचार्य उव्वटादि पौराणिक भाष्यकार भी इस विषय में सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय और नित्य हैं। श्रीसायणाचार्य ने अथर्व भाष्य के उपोद्घात में स्पष्ट लिखा है कि "तस्मादपौरुषेयत्वानित्यत्वाद् विवक्षितार्थत्वाच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेर्ब्रह्मवेदस्यापि व्याख्येयतासिद्धिः॥" इतना ही नहीं वेद भाष्य के प्रारम्भ में प्रायः सर्वत्र उन्होंने। यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत

निर्मम तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ इस श्लोक का उल्लेख किया है जो वेदों को ईश्वर का निश्वास रूप बताता है। ऊपर मैंने जिन मीमांसा सूत्रों का निर्देश किया है श्रीसायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्‌घात में उन्हीं को उद्धृत करते हुए लिखा है।

"यदप्युक्तं प्रमगन्दाद्यनित्यं संयोगान्मन्त्रस्यानादित्वं न स्यादिति तत्रोत्तरं सूत्रयति—उक्तश्चानित्यसंयोग इति। तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं युक्तं काठकं कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धाभि-धानं हेतूकृत्यानित्यदर्शनाच्चेति हेत्वन्तरं सूचितं तस्यायमर्थः—बबरः प्रावाहणिरकामयत इत्यनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शना-त्ततः पूर्वमसत्त्वात्पौरुषेयो वेद इति। तस्योत्तरमेवं सूचितम्—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् इति। तस्यायमर्थः यत् काठकादि समाख्यानं तत्प्रवचननिमित्तं, यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तच्छब्द-सामान्यमात्रं नतु तत्रानित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः किन्तु बबर इति शब्दानुकृतिः तथा सति बबर इति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते स च प्रावाहणिः—प्रकर्षेण वहनशीलः; एवमन्यत्रा प्यूहनीयम् ॥

ऊपर के उद्धरण में श्रीसायणाचर्य ने स्पष्ट बताया है कि वेदों में अनित्य किसी व्यक्ति का नाम नहीं पाया जाता उनके इतिहास की तो बात ही अलग है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि वेदभाष्य भूमिका में इस प्रकार लिख कर भी वेदभाष्य करते हुए सायण वेदों में हज़ारों अनित्य इतिहासों का प्रतिपादन करते हैं

और सैकड़ों असम्बद्ध और अश्लील कथाएं लिखते हुए वे तनिक भी सङ्कोच नहीं करते। ऋ० १।१२६ के आगधिता: परिगधिता उपोपमे परामृश ऋ० १०।९५ के त्रि: स्म माह्न: श्नथयो वैतसेन ऋ० १०।८६ के न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते। इत्यादि सूक्तों के सायण कृत भाष्य इतने अश्लील और अनाचार पूर्ण हैं कि उनको किसी सभ्यमण्डली में उद्धृत नहीं किया जा सकता;। अन्य बातों को छोड़ भी दिया जाए तो परस्पर विरोध के कारण ही सायणाचार्य की इस तरह की व्याख्या सर्वथा अमान्य है इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। सायणादि भाष्यों में एक और बात को देख कर किसी भी विचारशील निष्पक्षपात सज्जन को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता वह यह है कि यद्यपि सायणाचार्य तथा उव्वट महाधीरादि वेदों को अपौरुषेय नित्य तथा ईश्वर के निश्वास रूप मानते हैं तथापि उनके भाष्य के अनुसार वेदों में कोई सार्वभौम उच्च शिक्षाएं नहीं पाई जातीं। वे हज़ारों देवी देवताओं की पूजा और यज्ञ यागादि (जिनमें पशु यज्ञ भी शामिल हैं) से भरे हुए हैं जिनका फल स्वर्ग बताया जाता है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द जी वेदों में मनुष्य मात्र की सर्वतो मुखी उन्नति के द्योतक अत्यन्त उदात्त तत्त्वों का अपने वेद भाष्य में स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। उनके सम्पूर्ण वेद भाष्य में कहीं भी अपने मन्तव्यों का विरोध नहीं पाया जाता। इस दृष्टि से श्री सायणाचार्य और स्वामी दयानन्द जी के वेद भाष्यों की तुलना करते हुए वर्तमान काल के सुप्रसिद्ध

विचारक श्रीयुत अरविन्द घोष ने ठीक लिखा था If ever there was a movement of arbitrarily erudite ingenuinty, of great learning divorced from sound julgment and fine taste and a faithful critical and comparative observation from direct seeing and often even from plainest common sense or of a constant fitting of the text into the Procrustion bed of preconceived theory it is surely this commentary, otherwise so imposing so useful as first crude material so erudite and laborious, left to us by the Acharya Sayan."

इस उद्धरण में सायणाचार्य की विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए श्रीयुत अरविन्द ने बताया है कि उनके भाष्य का सामान्य बुद्धि से प्रायः विरोध पाया जाता है उनकी विद्वत्ता निर्णायक शक्ति और समालोचनात्मक निरीक्षण से पृथक हो गई है और वेद मान्त्रों के अर्थों को पूर्व कल्पित कथाओं में चरितार्थ करने का वहाँ यत्न पाया जाता है। श्रीयुत अरविन्द जैसे स्वतन्त्र विचारक सायणभाष्य के विषय में क्या विचार रखते हैं इसे दिखाने के लिये यह उद्धरण दिया गया है। स्वामी दयानन्द जी के भाष्य क्रम की वे बड़ी प्रशंसा करते हैं और उनके समालोचकों को मुँह तोड़ जवाब देते हुए वे कहते हैं कि वेद भाष्य वैदिकधर्म विषयक कल्पना की सत्यता पर निर्भर है। यहाँ स्वामी दयानन्द का विचार विल्कुल

स्पष्ट और अखण्डनीय है कि वेद एकेश्वर वाद का प्रतिपादन करते हैं जिसके स्पष्ट प्रमाण एक सद्विप्राबहुधा वदन्ति इत्यादि सहस्रों वेद मन्त्र हैं जो सारे वेद में स्थान २ पर पाये जाते हैं। इसलिए यह सब स्वामी दयानन्द की अपनी कपोल कल्पना नहीं। "Here Dayanand's view is quite clear, its foundation inexpungable."

इस विषय में अधिक उद्धरण देने के प्रलोभन का त्याग करते हुए मैं ऋषि दयानन्द की वेद भाष्यशैली की विशेषता और उसकी समालोचना पर प्रकाश डालना चाहता हूँ।

ऋषि के वेदभाष्य देखने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि वे प्रायः प्रत्येक मन्त्र के आध्यात्मिक और भौतिक ये दो अर्थ मानते थे। इनमें से आध्यात्मिक अर्थ के ब्रह्मपरक होने के कारण उसकी प्रधनता कही जा सकती है। क्योंकि अग्नि इन्द्र मित्र वरुण जातवेदा आदि शब्द प्रधानतया परमात्म-वाचक हैं जैसे कि "इन्द्रं मत्रं वरुण अग्नि माहुरथो दिव्यः स सुवर्णं गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान-माहु ॥" (ऋ० ११६४।४७) "तदेव अग्निस्तदा दित्य स्तद् वायुस्तादु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपःस प्रजापतिः ॥" (यजु ३२।१) इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की व्याख्या करते हुए जिसका देवता अग्नि है स्वामी जी ने स्पष्ट लिख दिया है अत्राग्नि शब्देन परमार्थ व्यवहार विद्यासिद्धये परमेश्वर भौतिकौ द्वावर्थं गृह्येते ॥"

(पृ० १४) अग्नि देवता वाले प्रायः सारे सूक्तों की व्यख्या में ऋषि ने आध्यात्मिक आधिभौतिक अथवा आधिदैविक अर्थ का निर्देश किया है। वस्तुतः मन्त्रों में इस बात के स्पष्ट चिन्ह पाये जाते हैं कि ये सब मन्त्र जिनका अग्नि देवता है भौतिक अचेतन अग्नि परक नहीं हो सकते उदाहरणार्थ "ईडे अग्निं विपश्चितंगिरायज्ञस्य साधनम्। श्रुष्टीवानमधितावानम् ॥ (ऋ० ३।२७।२) "अग्निं होतारं प्रवृणे मियेधे गृत्सं कविं विश्वविदमूरम् ॥ (ऋ० ३।१९।१) अग्निनाग्निः समिध्यते कविगृहपति युवा साकं हि शुचिना शुचिः प्रशास्ता क्रतुना जनि। विद्वां अस्य व्रता ध्रुवा वया इवा नुरोहते ॥ (ऋ० २।५।४) होता पावकः प्रदिवः सुमेधा देवो देवान् यजत्वग्निरर्हन् ॥ (ऋ० २।३।१) इत्यादि मन्त्रों में अग्नि के लिये विपश्चित, गृत्स (मेधावी) विश्ववित् (सर्वज्ञ) अमर अर्थात् विद्वान् सुमेधा अथवा बुद्धिमान् इन विशेषणों का प्रयोग पाया जाता है। ये विशेषण यदि निरर्थक और मूर्खता पूर्ण न माने जाएं तो यही स्वीकार करना पड़ेगा कि अग्नि शब्द का प्रयोग भौतिक अग्नि के अतिरिक्त वेद में ईश्वर जीव विद्वान् नेता विशेषतः ब्राह्मण इत्यादि के लिये भी होता है। स्वामी दयानन्द जी ने अग्नि के इसी प्रकार के अनेक अर्थ अपने भाष्य में दिये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अग्नि, शब्द के बहुत से अर्थ दिये हैं जिनमें से मुख्य ये हैं। आत्मैवाग्निः ॥ श० ६।७।१।२०॥ अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः ॥ श० १।६।९।२०॥ अग्निर्वै

रेतोधा ॥ तै० २।१।२।११॥ इयं पृथिवी ह्यग्निः ॥ श०६।१।१।१४॥ वागेवाग्निः श०३।२।२।१३ ॥ अग्निर्वै पाप्मनोऽवहन्ता ॥ श०२।३।३। १३॥ पुरुषोऽग्निः ॥ श०१४।४।१।६ योषा वाग्निः ॥ श०१४।९।१।१६ मन एवाग्निः ॥ श०१०।१।२।३ प्राणो वाग्निः ॥ श०९।५।१।६८ वीर्यं वाग्निः ॥ तै०१।७।२।२॥ ब्रह्माग्निः ॥ श०१।३।३।१९॥ अग्ने महा असि ब्राह्मण भारत ॥ कौ० ३।२॥ श०१।४।२।१२॥ एषवा अग्नि वैंश्वानरो यद् ब्राह्मणः ॥ तै० २।१।४।५॥ इस प्रकार और भी अग्नि शब्द के बीसों अर्थ हैं जिनसे ऋषि दयानन्द के ही भाष्य की पुष्टि होती है। यहाँ केवल निर्देश कर दिया गया है जिससे ज्ञात हो जाए कि वैदिक शब्दों के कितने भिन्न २ अर्थ हो जाते हैं। जो लोग लौकिक संस्कृत के आधार पर वेद मन्त्रों का अर्थ करना चाहते हैं अथवा ऋषि दयानन्द के भाष्य में अग्नि आदि पदों के अनेक अर्थ प्रकरणानुसार देख कर उसकी समालोचना करने में ज़रा भी नहीं हिचकचाते और उसे स्वामी जी की मन घड़न्त कल्पना मानते हैं उन्हें अग्नि के इतने भिन्न २ अर्थों पर ध्यान देना चाहिये।

वास्तव में यह वैदिक शब्दों और मन्त्र रचना की बड़ी विशेषता है (जो ऋषि दयानन्द के भाष्य से स्पष्ट विदित होती है) कि उनके द्वारा एक ही समय में अनेक अध्यात्मिक अधि-भौतिक और अधिदैविक विषयों का ज्ञान हमें उपलब्ध हो सकता है यदि हमें वैदिक शैली का ज्ञान हो। ऋषि दयानन्द ने बहुत

जगह इस विषय को अपने भाष्य में स्पष्ट किया है उदाहरणार्थ ऋ० १।११३ को जिसका देवता उषा है ऋषि ने स्त्री विषयक भी लगाया है।

म० १२ यवायद् द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती। सुमङ्गली बिभ्रती देववीतिमिहाद्योपः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥ इस मन्त्र की व्याख्या में उन्होंने लिखा है। यथोषास्तमो निवार्य प्रकाशं प्रादुर्भाव्य धार्मिकान् सुखयित्वा सर्वान् प्राणिनः आल्हादयति तथैव विद्याधर्मप्रकाशवत्यः शमादिगुणान्विता विदुष्यः स्वपतिभ्योऽपत्यानिकृत्वा सुशिक्षयाऽविद्यान्धकारं निवार्य विद्यार्कं प्रापय्य कुलं सुभूषयेयुः॥ इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि उषा देवता वाले मन्त्रों में इस प्रकार के प्रायः विशेषण आते हैं जो स्त्रीपरक हीं सुसङ्गत होते हैं। उपर्युक्त मन्त्र में प्रयुक्त यावयद् द्वेष (को दूर करने वाली) ऋतपाः (सत्य की रक्षा करने वाली) सूनृता ईरयन्ती (सत्य और मधुर वाणी का उच्चारण करने वाली) सुमङ्गली (उत्तम सुरमङ्गल देने वाली) इत्यादि विशेषण ऐसे ही हैं। इसलिये ऋषि दयानन्द ने उषा का अर्थ जहाँ प्रातः काल किया है वहाँ 'सुखे निवासिनी विदुषी' इस व्युत्पत्ति को लेकर विदुषी स्त्री भी किया है। शत० ६।१।३।७ के 'उषाः पत्नी' इस वाक्य से उस अर्थ का स्पष्ट समर्थन होता है। इसी सूक्त के म० १४ व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः। प्रबोधयंत्यरुणेभिरश्वै रोषा याति सुयुजारथेन॥ इसकी व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि 'यथा उषाः काष्ठासु

(दिशासु) व्याप्तास्ति तथा कन्या विद्यासु व्याप्नुयुः यथेयमुषा अन्धकार निवारण प्रकाशं जनयति तथैवैता मौर्ख्यं निवार्य सुसभ्यतादिगुणैः प्रकाशन्ताम् ।" इसी प्रकार अन्य मन्त्रों की व्याख्या है जो अत्यन्त हृदयङ्गम और भावापूर्ण है।

कई स्थानों पर वाचक लुप्तोपमा को ले कर ऋषि दयानन्द ने पृथिवी' आपः इत्यादि देवता वाले मन्त्रों की स्त्री परक व्याख्या की है उदाहरणार्थ यजु० ३६।१३ के 'स्योना पृथिवि नोभवनृक्षरा निवेशनी । यच्छानः शर्म सप्रथा । इस मन्त्र का देवता 'पृथिवी' है। ऋषि ने इस मन्त्र का प्रतिपाद्यविषय यों लिखा है 'पतिव्रता की दृशी स्यादित्याह' पृथिवी का अर्थ भूमि लेते हुए भी 'हेपृथिवीव वर्तमाने स्त्री' इस प्रकार करते हुए भावार्थ में "यथा सर्वेषां भूतनां सुखैश्वर्यं प्रदा पृथिवी वर्तते तथैव विदुषी पतिव्रता स्त्री पत्यादी-नामनन्द प्रदा भवति ।" ऐसा उन्होंने लिखा है। "प्रथयति सुखमिति पृथिवी" इस व्युत्पत्ति के आधार पर सीधे तौर पर भी पृथिवी शब्द स्त्री वाचक हो सकता है पर वेद मन्त्र में दोनों अर्थ विद्यमान हैं यह ऋषि के भाष्य से भी स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण ५।३।१।४ के 'मातेव वाइयं पृथिवी मनुष्यान् बिभर्ति' इत्यादि वाक्यों से ऋषि कृत भावार्थ की स्पष्ट पुष्टि होती है। यजु० ३६।१४—१६ तक के मन्त्रों में 'आपः देवता है । ऋषि दयानन्द ने उसका विषय भी पूर्ववत् "पतिव्रता की दृशीस्यात्" यही लिखा है। किन्तु 'आपः इस पद के जल विषयक स्पष्ट

अर्थ को भुलाया नहीं बल्कि "आपः" की व्याख्या 'जलानीव शान्तिशील विदुष्यः सत्स्त्रियः' यह करते हुए आपोहिष्ठा मयोभुव स्तानऊर्जे दधातन का भावार्थ यथा सत्यः पतिव्रतः स्त्रियः सर्वतः सर्वान् सुखयन्ति तथैव जलादयः पादार्थाः सुखकराः सन्तीति वेद्यम् । इन शब्दों में बताया है। इसमें भी वाचक लुगन्तोपमा का आश्रय लिया गया है । कई समालोचक इस प्रकार के अर्थों को स्वामी दयानन्द जी का मन घड़न्त समझते हैं पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह वेद मन्त्रों की महत्ता और गौरव का एक स्पष्ट प्रमाण है जिसको ऋषियों की सूक्ष्म बुद्धि ही इतने उत्तम रूप से प्रकट कर सकती है सामान्य पुरुषों को तो इन मन्त्रों में केवल भूमि और जल का वर्णन ही प्रतीत होता है। यहाँ इस बात का निर्देश कर देना भी अनुचित न होगा कि 'आपः' का स्त्री विषयक अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर वर्णित है यथा शतपथ १।१।१।१८ में 'योषा वा आपः' यह स्पष्ट है "अग्नि नावा आपः सुपत्न्यः" शं० ६।८।२।३ में भी ऐसा ही भाव है। आप्यते सुखमाभ्याः इस व्युत्पत्ति से भी उर्युयक्त अर्थ का समर्थन होता है। अब मैं संक्षेप से यह दिखाना चाहता हूँ कि स्वामी दयानन्द जी के वेदभाष्य पर कौन २ से आक्षेप प्रायः किये जाते हैं और उनके अन्दर कितना सार है।

(१) सबसे मुख्य आक्षेप ऋषि के वेदभाष्य पर यह किया जाता है कि उन्होंने देव, इन्द्र, अग्नि, अश्विनौ, रुद्र, मरुत्, सर-

स्वती आदि शब्दों के, जो देवता वाचक थे, अर्थ अपनी कल्पना से ईश्वरमनुष्यादिपरक लगा दिये हैं।

(२) दूसरा मुख्य आक्षेप यह होता है कि एक ही देवता-विषयक मन्त्रों का स्वामी जो उसी सूक्त में भिन्न भिन्न रीति से व्यख्यान करते हैं इन्द्र का अर्थ एक ही सूक्त में कहीं ईश्वर, कहीं सूर्य, कहीं वायु, कहीं सभापति कहीं सेनापति आदि किया है। इसी प्रकार 'अश्विनौ' का अर्थ एक ही सूक्त में (उदाहरणार्थ ऋ० १।११७ में) कहीं सभासेनेशों, कहीं कृषिकर्मविद्याव्यापिनौ शिल्पिनौ, कहीं कृतविद्यौ स्त्रीपुंसान् और कहीं अध्यापको पदेशकौ इत्यादि किया है। इस प्रकार की व्याख्या बड़ी असङ्गत प्रतीत होती है।

(३) स्वामी दयानन्द जी ने वेदों में विज्ञान का मूल दिखाने का व्यर्थ श्रम किया है। वेदों को धर्म का मूल कथञ्चित् माना जा सकता है किन्तु उनमें विज्ञान सिद्ध करने भी चेष्टा स्वामी दयानन्द की अपनी कपोल कल्पित है। वेद का सम्बन्ध तो केवल पारलौकिक या आध्यात्मिक विषयों के साथ ही है।

(४) स्वामी दयानन्द ने यज्ञ शब्द का प्रयोग जो शिल्प कर्म अध्ययनाध्यापनादि तथा सभा सम्मेलनादि और कहीं कहीं जगत् वा उसके व्यवहार के लिये किया है वह ठीक नहीं है।

(५) स्वामी जी के अर्थों में खैंचातानी बहुत है। कई जगह अर्थ बिल्कुल अस्पष्ट हैं तथा उनमें परस्पर सङ्गति नहीं। उनमें

पुनरुक्ति दोष भी बहुत पाया जाता है। इसी प्रकार के अन्य अनेक दोष ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर लगाये जाते हैं जिन पर मैं अति संक्षेप से कुछ विचार प्रकट करना पर्याप्त समझता हूं।

सबसे प्रथम खैंचातानी विषयक आक्षेप के सम्बन्ध में हमें इस बात को याद रखना चाहिये कि वैदिक संस्कृत का लौकिक संस्कृत से बहुत अधिक भेद है। कुछ उदाहरणों से जो वैदिक कोश निघण्टु से यहां उद्धृत किये जाते हैं यह बात स्पष्ट हो जाएगी। (१) लौकिक संस्कृत में पृथिवी शब्द भूमिवाचक हो किन्तु निघण्टु में उसे हम अन्तरिक्ष के नामों में भी पाते हैं। (२) समुद्र शब्द लौकिक संस्कृत में सागर-वाचक ही है निघण्टु में वह भी अन्तरिक्ष नामों में पठित है। (३) लौकिक संस्कृत में अद्रि पर्वत गिरि आदि शब्द पर्वत वाचक हैं किन्तु निघण्टु में उनका मेघ के नामों में पाठ है। वराह चमस ओदन अश्मा और असुर शब्द का भी जो लौकिक संस्कृत में केवल सूअर, चमचा, चावल, पत्थर और राक्षस के वाचक हैं निघण्टु में मेघ के नामों में पाठ है। (४) पुरीषं, विषं नभः, हेम, इन्दुः, सत्यम, आयुधानि इन शब्दों का निघण्टु में जल के नामों में पाठ है यद्यपि सब जानते हैं कि लौकिक संस्कृत में इनके अर्थ सर्वथा पृथक् हैं। लौकिक संस्कृत में अश्व का केवल घोड़ा अर्थ है पर वैदिक साहित्य में उसके 'वीर्यं वा अश्वः' (श० २।१।४।२३) 'यजमानो वा अश्वः' (तै० ३।९।१७।४) इन्द्रो वा अश्वः (कौ० १५।४) "असौ वा

आदित्योऽश्वः" (तै० ३।९।२३।२) अग्निरेष यदश्वः (शत० ६।३।३।२२) इत्यादि ब्राह्मण वचनों के अनुसार वीर्य, यजमान, विद्युत्, सूर्य अग्नि इत्यादि अनेक अर्थ हैं।

आज्य शब्द का लौकिक संस्कृत में केवल घृत ही अर्थ है किन्तु वैदिक साहित्य में सत्यमाज्यम् (शत० ११।३।१।१) रेत आज्यम् (तै० ३।८।२।३) प्राण आज्यम् (तै० ३।८।१५।२) (श० १।३।१।१८) छन्दांसिवा आज्यम् (तै० ३।३।५।३) पशव आज्यम् (तै० १।६।३।४) "आत्मा वै यजमानस्याज्यम्" (कौ० १४।४) इत्यादि ब्राह्मण वचनों के अनुसार सत्य, वीर्य, प्राण, छन्द, पशु, आत्मा इत्यादि अनेक उसके अर्थ हैं। इस लिये लौकिक संस्कृत की दृष्टि से वैदिक शब्दों के अर्थ का निर्णय करना और भिन्न अर्थ करने वालों पर खैंचातानी का दोष लगाना सर्वथा अनुचित है। हां, यदि स्वामी दयानन्द जो केवल अपनी कल्पना के बल पर देव अग्नि इन्द्र अश्विनौ आदि के अर्थ कर डालते उन अर्थों की पुष्टि में ब्राह्मणग्रन्थादि के प्रमाण न पाये जाते तो आक्षेप की बात होती किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है।

अग्नि इन्द्र मित्र वरुणादि शब्द प्रधानतया परमेश्वर वाचक हैं इस बात को कुछ प्रमाणों द्वारा पहले बताया जा चुका है। "यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्या।"

इत्यादि और भी अनेक स्पष्ट प्रमाण इस विषय में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'इन्द्र' 'देव' शब्द का प्रयोग वेदों में सदाचारी

सत्यनिष्ठ विद्वानों के लिये हुआ है यह स्वामी दयानन्द जी की कपोल कल्पना नहीं है अपितु विद्वांसो हि वै देवाः (शत०३।७।३।१०) सत्यसंहिता वैदेवाः (ऐ०१।६) सत्यमया उ देवाः (कौ०२।८) अपहतपाप्मानो देवाः (श०२।१।३।४) धर्म इन्द्रो राजेत्याह तस्य देवा विशस्त इम आसत इति श्रोत्रिया अप्रतिग्राहका उपसमेता भवन्ति यदस्मिन् विश्वे देवा असीदंस्तस्मात सदो नाम तउ एवा स्मिन्नेते ब्राह्मणा विश्वगोत्री सीदन्ति" (शत०३।५।३।५) (शत० १३।४।३।१४) इत्यादि वचनों से स्पष्ट उसकी पुष्टि होती है। देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा इस निरुक्ति को भी यहां ध्यान में रखना चाहिये। अब इन्द्रादि शब्द मनुष्य वाचक होते हैं वा नहीं इस विषय की थोड़ी सी विवेचना की जाती है। सायणाचार्यादि पौराणिक भाष्यकार इन्द्र को देवाधिपति और स्वर्गलोक वासी मानते हैं किन्तु स्वामी दयानन्द जी ने उसके अर्थ परमात्मा आत्मा सभापति (राजा) सेनापति सूर्य विद्युत् इत्यादि के किये हैं। परमात्म-वाचक इन्द्र शब्द है इसके लिये प्रमाण दिये ही जा चुके हैं इन्द्रियादि शब्दों को देखते हुए जिनकी व्युत्पत्ति पाणिनि मुनि के अनुसार इन्द्रियमिन्द्र लिङ्गमिन्द्र दृष्टमिन्द्र सृष्टमिन्द्र जुष्टमिन्द्र दत्तमितिवा इस प्रकार है। इन्द्र के आत्मवाचक होने में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता और इसलिये काशिका में भी 'इन्द्र आत्मा' यह साफ़ लिख ही दिया है। एष वा इन्द्रो य

एष सूर्यः तपति ।। शत: २।३।४।१२।। अयं वा इन्द्रो योऽयं वातः पवते ।। शत १४।२।२।६।। क्षत्रं वा इन्द्रः ।। कौ० १२।८।। तैत्ति० ३।९।१६।३। इन्द्रो वै यजमानः ।। शत० २।१।२।११।। इन्द्रोऽग्रं देवतानां पर्यैत् । अगच्छत् स्वाराज्यम् ।। तै० १।३।२।२।। इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः ।। ऐ० ७। १६।। अशनिरिन्द्रः ।। कौ० ६।९ इत्यादि से ऋषि दयानन्द-कृत सब अर्थों का स्पष्ट समर्थन होता है । सेनापति इस अर्थ के लिये 'सेनेन्द्रस्य पत्नी ।' गोपथ उ० २।९ इत्यादि वाक्य देखने योग्य हैं जहां सेना को इन्द्र की पत्नी बताया है अर्थात् उसे इन्द्र की आज्ञा पर चलने वाला कहा है जिससे इन्द्र का सेनापतित्व स्पष्ट सिद्ध होता है । अब 'अश्विनौ' शब्द को लीजिये । पौराणिक भाष्यकार इसका अर्थ वैद्य अश्विनीकुमार करते हैं जिन्हें यमज (जोड़ा) माना जाता है । स्वामी दयानन्द जी ने इस का अर्थ सभासेनेशौ, दम्पती, शिल्पिनौ, अध्यापकोपदेशकौ, इत्यादि किया है । इसे प्रायः स्वामी जी की मनघड़न्त कल्पना माना जाता है किन्तु निरुक्त ब्राह्मणग्रन्थ आदि देखने से स्वामी जी के अर्थों की समीचीनता स्पष्ट ज्ञात होती है उदाहरणार्थ निरुक्त में 'अश्विनौ' की 'यद् व्यश्नुवाते सर्वम्' यह व्युत्पत्ति बताते हुए द्यावापृथिव्यौ, सूर्याचन्द्रमसौ अहोरात्रौ इत्यादि अर्थ बताये गये हैं । आधिदैविक में जो 'द्यावापृथिव्यौ' आधिभौतिक में वही 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्' इत्यादि विवाह-प्रकरणोक्त मन्त्र के अनुसार स्त्रीपुरुष हैं

इसलिये ऋषि दयानन्द का वह अर्थ निराधार नहीं। "अश्विनौ वै देवानां भिषजौ" (ऐतरेय १।१८) के अनुसार अध्यापकोपदेशकों के मानसिक रोग के वैद्य के समान होने के कारण वह अर्थ करना अनुचित और कल्पित नहीं कहा जासकता। इस विषय में निम्न वाक्य भी द्रष्टव्य हैं।

अश्विनावध्वर्यू" (ऐत० १।१८); (शत० १।१।२।१७); गोपथ उ० २।६ (तै० ३।२।२।१) यहां अश्विनौ का अर्थ अध्वर्यु बताया है जिसकी निरुक्ति यास्काचार्य ने 'अध्वर्युः अध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेताध्वरं कामयत इति वा॥ (नैगम का० १।३) इन शब्दों द्वारा की है। अध्वर का अर्थ अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत् प्रतिषेधः' कह कर हिंसारहित श्रेष्ठ कर्म के लिये किया है। इसलिये ब्रह्मयज्ञ (अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। शत० ११।५।६।२) इत्यादि के संयोजक और नेता अध्यापकोपदेशकों के सिवाय कौन हो सकते हैं? क्या अब भी इस अर्थ को स्वामी दयानन्द जी की मन घड़न्त कहा जाएगा?

ऋ० १।१२० के २ य और ३ य २५ मन्त्र इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं। विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेदविद्वानित्थापरो अचेताः॥ ता विद्वांसा हवामहे ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य अध्यापकोपदेशकौ इस अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हैं। 'अश्विनौ' देवतावाले मन्त्रों में मनसोजवीयान् (मन से भी अधिक वेगवान् रथ) अनश्व, विद्युद्रथ इत्यादि का वर्णन बार बार पाये जाने से

अश्विनौ का 'शिल्पिनौ' अर्थ स्पष्ट तथा ज्ञात होता है। 'अश्विनौ' यह शब्द अश्व से भी बनता है जिसके अर्थ 'वीर्यं वा अश्वः।' (शत० २।१।४।२३) 'वज्रोऽश्वः' (शत० १३।१।२।९) इत्यादि हैं अतः सभासेनापति आदि के लिये उसका प्रयोग हो सकता है। 'अग्निरेष यदश्वः' (शत० ६।५।३।२२) के अनुसार अश्व का अग्नि अर्थ भी है अतः अग्नि विद्या जानने वाले शिल्पियों के लिये उसका प्रयोग करने में कुछ भी दोष नहीं है विशेषतः जब कि वेद मन्त्रों में उस विषय का स्पष्ट प्रतिपादन हो। अब मैं 'सरस्वती' शब्द को लेता हूं जिसे पौराणिक भाष्यकार एक विशेष देवी का नाम मानते हैं किन्तु स्वामी दयानन्द जी ने उसका अर्थ वेदवाणी और उत्तम विदुषी स्त्री यह किया है। निघण्टु में वाणी नामों में 'सरस्वती' शब्द का पाठ है। 'वागेव सरस्वती'। (ऐ०२।२४) इत्यादि ब्रह्म ग्रन्थों के वचनों में भी उस अर्थ का निर्देश स्पष्ट पाया जाता है। "योषा वै सरस्वती वृषा पूषा॥" श० २।५।१।११ इत्यादि वचनों में उसके स्त्री अर्थ का स्पष्ट प्रतिपादन है। इसी प्रकार अन्य शब्दों पर विचार करने से हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि ऋषि दयानन्द ने अग्नि इन्द्र अश्विनौ सरस्वती आदि शब्दों के जो आर्थ किये हैं उनकी पुष्टि न केवल वेद मन्त्रों में दिये हुए निर्देशों से होती है बल्कि ब्राह्मण ग्रन्थादि वैदिक साहित्य से भी उनकी पुष्टि होती है। यहाँ यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि निघण्टु में 'अग्नि

इन्द्र अश्विनौ' आदि को 'पद नामसु' पाठ है जिस का अर्थ यौगिक और ज्ञान गमन् प्राप्ति है। विस्तार के भय से इस विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त है (२) दूसरे आक्षेप के विषय में कि 'इन्द्र' आदि शब्दों के एक सूक्त में अनेक अर्थों का करना कैसे ठीक हो सकता है वक्तव्य यह है कि जब इन्द्र अग्नि अश्विनौ आदि शब्दों के वैदिक साहित्य में बीसों अर्थ हैं जैसे कि ऊपर दिखाया जा चुका है तो एक सूक्त में उन अर्थों का होना कुछ भी आश्चर्य जनक नहीं है। भिन्न भिन्न अर्थ वाचक होते हुए भी अग्नित्व, इन्द्रत्व आदि उनमें सर्व सामान्य (Common) होने के कारण एक देवता का निर्देश सम्भव है। यह बात लौकिक साहित्य के लिये कुछ नवीन होने के कारण विचित्र मालूम होती है किन्तु वैदिक साहित्य की यह एक विशेषता ही समझनी चाहिये। इस पर यह कहा जा सकता है कि प्रकरण के आधार पर अर्थ करना भी सम्भव नहीं होगा किन्तु इस शैली को समझ लेने पर उसमें कुछ आश्चर्य नहीं होता। 'परमेश्वर आत्मा, सभापति राजा, विद्युत' इत्यादि भिन्न भिन्न पदार्थों का एक सूक्त में वर्णन होने पर भी इन्द्रत्व (परमैश्वर्य सम्पन्नत्व आदि) सामान्य होने के कारण इसे अप्राकरणिक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ ऋ० १।५ को लीजिये जिसका देवता इन्द्र है। इस सूक्त में १० मन्त्र हैं जिन में से प्रथम तीन की व्याख्या स्वामी जी ने ईश्वर और वायु परक, चतुर्थ और पञ्चम की ईश्वर और सूर्य

परक, षष्ठ और सप्तम की विद्वान् जीव परक और ८ से १० तक की ईश्वर परक की है। ऐसा करना उपर्युक्त दृष्टि से असङ्गत नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन्द्रत्व सामान्य इन सब के अन्दर है जैसे कि श्रीस्वामी जी ने इन्द्र के पदनामों में पाठ के आधार पर ज्ञान गमन प्राप्ति उसके अर्थ लिये हैं और उसे इन सब अर्थों में घटाया है। इस विषय पर निस्सन्देह अधिक विचार की अपेक्षा है। (३) वेदों में विज्ञानादि के सम्बन्ध में स्वामी जी का विचार कोई नवीन नहीं है। यह विचार कि वेद केवल आध्यात्मिक और पारलौकिक विषयों से सम्बन्ध रखते हैं सर्वथा अशुद्ध है। वेदों में राज्य सत्ता, प्रजातन्त्र शासन, मातृ भूमि के प्रति कर्तव्य इत्यादि विषय पाये जाते हैं यह बात सर्व सम्मत है यहां तक कि सायणाचार्य ने अथर्व भाष्य भूमिका में अथर्व वेद के विषयों का कौशिक सूत्रादि के आधार पर निर्देश करते हुए उनमें "सेनापत्यादि प्रधान पुरुष जय कर्माणि, शत्रूत्सादितस्य यज्ञः पुनः स्वराष्ट्र प्रवेशकानि, राज्याभिषेकः, कृषिपुष्टिकरापि, शस्त्राद्यभिघातज रुधिर प्रवाहनिरोधकानि, वातपित्त श्लेष्म भैषज्यानि, शिरोक्षिनासिका कर्णजिह्वा ग्रीवादिरोग भैषज्यानि, सुख प्रसवकर्माणि, जनानामैकमत्य सम्पादकानि सांमनस्यानि" इत्यादि का उल्लेख किया है। ये विषय आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक नहीं यह बात स्पष्ट ही है। वेद ज्ञान मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये सृष्टि के प्रारम्भ में करुणामय परमेश्वर की ओर से दिया

गया इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर (जैसे कि प्रायः सभी आर्य वा हिन्दू स्वीकार करते हैं) वेद में विज्ञान का भो मूल मानना उचित ही प्रतीत होता है क्योंकि मनुष्य की व्यावहारिक उन्नति के लिये विज्ञान अत्यावश्यक है। वेदों के अन्दर सब विद्याओं का बीज पाया जाता है यह मनुस्मृति के "चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ (१२।९७) शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः। वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूति गुणकर्मतः ॥" (१२।९८) इत्यादि श्लोकों से भी स्पष्ट ज्ञात होता है। आयुर्वेद धनुर्वेद गान्धर्ववेद और अर्थवेद का उपवेद होना तथा ज्योतिष आदि का वेदाङ्ग होना भो इसी सिद्धान्त का समर्थक है। वस्तुतः निष्पक्षपात दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर उनमें पृथिवी के गोल होने, उसके सूर्य की प्रदक्षिणा करने, चन्द्र के सूर्य रश्मि द्वारा प्रकाशित होने, जल के मित्र और वरुण (Hydrogen and Oxygen) नामक दो वायुओं से मिलकर बनने, विमान नौका यानादि द्वारा तीनों लोकों की यात्रा करने इत्यादि का वहां स्पष्ट वर्णन प्रतीत होता है जिसके लिये "आयंगौः पृश्निरक्रमीत्, दिवि सोमो अधिश्रितः" (१०।८५।१) मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिषादसम्। (ऋ० १०।१८९।१) धियंघृताचीं साधन्ता ॥" (ऋ० १।२।७) "अर्वा रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृडीकः स्ववां यात्यर्वाङ्। यो मर्त्यस्य मनसो जवीयात्त्रिबन्धुरो वृषया वातरंहाः ॥ (ऋ० १।

११८।१) "अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः। महत् तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥" (ऋ०४।३६।१) इत्यादि सैंकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेदों में विज्ञान का मूल पाया जाता है इस बात को और भी अनेक सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वानों ने (जो आर्य समाजी न थे) अपने त्रयी परिचय, Riks, Message of the 20th Century Vedic Fathers of Geology इत्यादि ग्रन्थों में स्वतन्त्र रीति से सिद्ध किया है। इनमें से स्वर्गीय प० सत्यव्रत सामाश्रमी का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने पदार्थ विज्ञान का मूल वेदों में अनेक मन्त्रों द्वारा सिद्ध करते हुए सायणादि भाष्य करों के इस विषयक अज्ञान पर शोक प्रकट किया है "वस्तुतो ध्वान्ताच्छन्न विज्ञान कालिकानां तेषां सायणमही धरादीनामधिदैवतार्थतोऽपि मन्त्राभिप्रेतं प्रकृत विज्ञानं नैव स्फुरितं सम्यगिति तच्छोच्यमेवाभवत् (ऐतरेयालोचनं॥) ऋषि दयानन्द ने जिन मन्त्रों से वैज्ञानिक तत्व निकाले हैं उनके अर्थों में मतभेद सम्भव है किन्तु इसके आधार पर उनकी भाष्य शैली पर आक्षेप अनुचित प्रतीत होता है।

(४) चतुर्थ आक्षेप ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य पर यज्ञादि शब्दों के विस्तृत अर्थों में प्रयोग पर है। इसे भी स्वामी दयानन्द की कल्पना शक्ति का परिणाम माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस विषय में सायणाचार्यादि भाष्यकारों और ऋषि दयानन्द

का बड़ा भारी भेद है। सायणभाष्य में वेद मन्त्रों से केवल कर्म काण्ड परक अर्थ लगाने के लिये शब्दों को संकुचित अर्थों में लिया है यहाँ तक कि कई वार इतने संकुचित अर्थ को देख कर सचमुच आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। उदाहरणार्थ नर शब्द का अर्थ ऋ० वेद १।३१।१५, १।६९।४, २।१।९, ५।७।२।। इत्यादि सैंकड़ों स्थानों पर सायण केवल यजमान करते हैं। जन शब्द का अर्थ भी ऋ० १।१४०।१२, ५।१६।२, ६।१।५। आदि में यजमान वा ऋत्विक् किया है मनुष्य और मानुष शब्दों का भी ऋ० १।६०।४, १।१२८।७, १।१८९।७, २।२।७। में केवल यजमान यह अर्थ किया है। सूरि कवि मातरिश्वा धीर, पितर गर्भ इत्यादि शब्दो के भी सायणभाष्य में प्रायः सर्वत्र ऋत्विक् वा यजमान ये अर्थ किये गये हैं। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द जी के भाष्य में यज्ञ शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ पाया जाता है और अध्ययनाध्यापन शिल्प सभा सम्मेलन, जगत् इत्यादि अर्थों में उसका प्रयोग किया गया है जिस पर प्रायः आक्षेप किया जाता है। 'हविः' का अर्थ ऋ० १।११४।३। में 'ग्रहीतुं योग्यं करम्' १।११४।८ में 'हवींषि' का अर्थ "प्रशस्तानि जगदुपकारकानि कर्माणि" ऐसा किया गया है कई जगह भक्ति अर्थ लिया गया है। यज्ञ शब्द की व्याख्या करते हुए यजुर्वेद अ० १ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने लिखा है "विद्या ज्ञान धर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिक सुख सम्पादनाय सत्करणं, सम्यकपदार्थसम्मेलनविरोधज्ञान

संगत्या शिल्पविद्या प्रत्यक्षी करणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्या-सुख धर्मादि गुणानां नित्यं दानकरणमितियज्ञार्थ स्त्रिधा भावति ।" यह अर्थ "यज-देवपूजासङ्गतिकरण दानेषु" इस धात्वर्थ के आधार पर किया गया है। और इसे स्वामी जी की मन घड़न्त कल्पन कहना केवल अपना अज्ञान प्रकट करना है। वैदिक और प्राचीन साहित्य में यज्ञ शब्द का ऐसे ही व्यापक अर्थ में प्रयोग है और प्रत्येक श्रेष्ठ कर्म का उसमें अन्तर्भाव हो सकता है। "यज्ञोवै श्रेष्ठतमं कर्म" (शत० १।७।१।५) 'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं' (तै० ३।२।१।४) 'यज्ञो वै महिमा, (शत० ६।३।१।१८) "पुरुषो वै यज्ञः" (कौ० १७।७) "यज्ञो वै भुवनम्" (तै० ३।३।७।५) "यज्ञोहि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति" (शत ०९।४।१।११) यज्ञोवा ऋषि ऋतस्य योनि (शत० १।३।४।१६) इत्यादि वचनों से के अर्थों की पुष्टि होती है। इन वाक्यों में लोकोपकारक सब श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' इत्यादि मनुस्मति ३।७० के श्लोक में जिसकी व्याख्या में कुल्लूक भट्ट ने 'अध्यापन शब्देनाध्ययनमपि गृह्यते। जपोऽहुत इति वक्ष्यमाणत्वात्। अतोऽध्यापनमध्ययनंचब्रह्मयज्ञः। इत्यादि लिखा है ऋषि कृत 'अध्ययनाध्यापन' रूप अर्थ का स्पष्ट समर्थन होता है। भगवद् गीता के 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्त थापरे। स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥" (४।२८)

इत्यादि श्लोकों में भी यज्ञ का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है और वर्णाश्रम धर्म पालन के लिये यज्ञ शब्द का उपयोग है। 'दक्षिणा' शब्द का भी ऋषि दयानन्द ने ऐसे ही व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है उदाहरणार्थ "दक्षिणा वतामिदिमानि चित्रा" दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। दक्षिणावन्तोऽमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्रतिरन्त आयुः ॥" (ऋ० १।१२५।६) इस मन्त्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने लिखा है "ये ब्राह्मणाः सार्वजनिक सुखाय विद्यासुशिक्षादानं ये क्षत्रिया न्याय्येन व्यवहारेनाभय प्रदानं ये वैश्या धर्मोपार्जितधनस्य दानं ये चशूद्राः सेवादानं कुर्वन्ति ते पूर्णायुषो भूत्वेहामुत्रानन्दं सततं भुञ्जते ॥" ऐसे अर्थों से ऋषि की विशाल-हृदयता का परिचय होता है जो ऋषि के भाष्य की एक विशेषता है।

(५) पञ्चम 'खैंचातानी' विषयक आक्षेप का बहुत कुछ उत्तर ऊपर आ चुका है। यह आशङ्का अधिक तर इसी लिये होती है कि हम लोग लौकिक साहित्य की दृष्टि से वैदिक शब्दों के अर्थ समझने का यत्न करते हैं और उन से विपरीत अर्थ दृष्टि गोचर होने पर उन्हें खैंचातानी के नाम से पुकारने लगते हैं। स्वामी जी के भाष्य में विभक्ति व्यत्यय लिङ्ग व्यत्यय वचन व्यत्यय आदि देख कर भी अनेक समालोचक ऐसा आक्षेप करते हैं किन्तु "व्यत्ययो बहुलम्" इस पाणिनि मुनि के सूत्र और महाभाष्य में

उद्धृत "सुपतिङुपग्रहलिङ्गनराणां काल हलच् स्वरकर्तृयङां च। व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्धयति बाहुलकेन।" इस कारिका के अनुसार इसमें आक्षेप की कोई बात नहीं! सायण भाष्यादि में भी ऐसे व्यत्ययों का बहुत स्थानों पर आश्रय लिया गया है। उदाहरणार्थ 'अस्यदेवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु......... उत्तमं नाकमधिरोहयेमम्॥" इस अथर्व १।९।२ के भाष्य में सायण अधिरोहय का अर्थ अधिरोहयत प्रापयत करते हुए लिखते हैं "व्यत्ययेन एक वचनम्। 'सपत्ना ऊस्मदधरे भवन्तु' में अस्मात् का 'अर्थ" करते हुए छन्दसं ह्रस्वत्वम् ऐसा लिखा है। वषट् ते पूषन्नस्मिन् सूतौ' अथर्व २।११।१ के भाष्य में अस्मिन् का अर्थ अस्मान् करते हुए सायण लिखते हैं अस्मिन्निति लिङ्ग व्यत्यः" अवैतु पृश्निः शेवलं शुने जराय्वत्तवे॥ अथर्व २।११।४। के भाष्य में शुने का अर्थ शुनः 'करते हुए लिखा है' षठ्यर्थे चतुर्थी ऐसे ही सैंकड़ों व्यत्यय के उदाहरण सायणाचार्य उव्वटादि के भाष्यों से उद्धृत किये जा सकते हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द ने अर्थ स्पष्टीकरण के लिये कई स्थानों पर लिङ्ग व्यत्य करके दूसरा अर्थ दिया है जहां उसका उल्लेख किये बिना भी 'अचेतनान्यपि चेतनवत् स्तूयन्ते' इस निरुक्तोक्त नियम से काम चल सकता था। उदाहरणार्थं ऋ० १।२ के वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः तेषां पाहि श्रुधीहवम्।' इत्यादि मन्त्रों के ईश्वर और वायु दोनों अर्थ बताते हुए वायु पक्ष में ऋषि ने

आयाहि का अर्थ अयाति पाहि का पाति-रक्षयति, श्रुधि का श्राव-यति अर्थ करके पक्षे व्यत्ययः ऐसा लिख दिया है। यह व्यत्यय केवल वैदिक शैली से अनभिज्ञ पाठकों के स्पष्टी करणार्थ ही है इसमें सन्देह नहीं। ऐसे व्यत्ययों को संख्या ही ऋषि भाष्य में बहुत अधिक है जो नाम मात्र ही कहे जा सकते हैं। उनकी अधिकता देख कर खैंचातानी का आक्षेप न्याय सङ्गत नहीं। कई जगह भाष्य में अर्थ स्पष्ट नहीं इस आक्षेप में कुछ सत्य अवश्य है। उदाहरणार्थ ऋ०१।११६ के 'सद्योजङ्घामायसीं विश्पलायै धने-हिते सर्वं प्रत्यधत्तम्। (म० १५) "शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृजा-श्वंतं पितान्धं चकार (म० १६) इत्यादि के अर्थ स्वमी जी के भाष्य में सर्वथा अस्पष्ट हैं। मेषान् का अर्थ स्पर्धकान् किया है जिसकी वाक्य में ठीक सङ्गति नहीं बैठती। 'दध्यङ यद्द मध्वाथ-र्वणो वामश्वस्थ शीर्ष्णा प्रयदीमुवाच' (१।११६।१२) इत्यादि के अर्थों में भी कई जगह ऐसी अस्पष्टता है। इसका कारण अधिक-तर यही प्रतीत होता है कि स्वामी जी को अन्य कार्य व्यग्रता के कारण बहुत सम्भवतः अपने भाष्य को भी दोहराने का समय नहीं मिल सका। कई स्थानों पर अपने अर्थों के लिये प्रमाण उन्होंने देने आवश्यक नहीं समझे यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थादि के आधार पर स्वध्याय करने पर उनके अर्थों की मुझे पुष्टि मिली है। मेरे विचार में ऋषि भाष्य के ऐसे सुलभ संस्करण निकालने चाहयें जहां भाषा को ठीक कर दिया गया हो जो वर्त्तमान रूप में

कई जगह अशुद्ध और मूल संस्कृत के विरुद्ध है तथा जिसमें कई जगह संस्कृत शब्दों के अर्थ ही छोड़ दिये गये हैं। और साथ साथ ऋषि के अर्थों के समर्थक अन्य प्रमाण टिप्पणी रूप में दिये जाएं। केवल संस्कृत भाष्य के सुलभ संस्करण भी भाष्य को विद्वानों में लोकप्रिय बनाने के लिये आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ यजु० ४।२२ के हिन्दी अनुवाद में अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्' का अर्थ ही नहीं दिया। ऋग्वेद १।१।२ का हिन्दी अनुवाद संस्कृत मूल के अनुकूल नहीं यथा संस्कृत में "सर्वज्ञेनेश्वरेण स्वकीयज्ञानान्मनुष्य ज्ञानापेक्षयाऽतीतान् वर्तमानांश्चर्षीन् विदित्वा स्मिन्मन्त्रउपदिष्टे सति नैव कश्चिद् दोषो भवितुमर्हति वेदस्य सर्वज्ञ वाक्यत्वात्" ॥ का अनुवाद "जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने त्रिकालस्थ ऋषियों को अपने सर्वज्ञपन से जान के इस मन्त्र में परमार्थ और व्यवहार ये दो विद्या दिखाई हैं इससे भूत वा भविष्य काल की बातों के कहने में कोई भी दोष नहीं आ सकता। "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ०१३८ में "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा" की व्याख्या में स्वामी जी का लेख यों है "अत्र मोक्षाख्ये परमेपदे सुखिनः सन्ति न तस्माद्ब्रह्मणः शतवर्ष संख्याकात् कालात् कदाचित पुनरावर्तन्त इति।" किन्तु हिन्दी अनुवाद में 'जहां विद्वान् जिस पद को प्राप्त हो के नित्य आनन्द में रहते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं उससे निवृत्त हो के संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। 'यह अनुवाद मूल विरुद्ध है यह कहने की आवश्यकता नहीं। यजु०

३७।९ अश्वस्यत्वावृष्ण्यः शक्नाधूप यामि' में स्वामी जी ने शक्ना का अर्थ "शकृता दुर्गन्ध निवारण सामर्थ्य युक्तेन धूमादिना" किया है किन्तु अनुवाद में 'लीद' आदि मूल विरुद्ध अर्थ करके ऋषि दयानन्द को उपहासपात्र बनने का अवसर धूर्त पण्डितों ने दिया है। इत्यादि कई स्थानों में संस्कृत मूल में भी स्खलित रह गये हैं उदाहरणार्थ यजु० १।१४ के भाष्य में 'वृष्टि हेतुर्यज्ञोऽनुष्ठाय सुखानि सम्पादनीयानि' इत्यादि छपा है जो ठीक नहीं है। ऋग्वेद १।१।९ "स नः पितेव" के भावार्थ में "हे भगवन् भवानस्मान् रक्षयित्वा शुभेषु गुणकर्मसु सदैव नियोजय" ऐसा छपा है जो छापे की अशुद्धि वा स्खलित है। 'नियोजयतु' पाठ होना चाहिये। ऐसी भूलों को ठीक कर देना चाहिये जो अधिकतर छापे की ही प्रतीत होती हैं अथवा अनेक स्थानों पर पण्डितों की धूर्तता वश भी ऐसा हुआ है। पुनरुक्ति के आक्षेप को भी सर्वथा निराधार नहीं कहा जा सकता। ऋषि दयानन्द के भाष्य में आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक, वैज्ञानिक सामाजिक राष्ट्रीय सब प्रकार के उत्तमतत्त्व प्रतीत होते हैं। किन्तु सामान्य पाठकों को कई स्थानों पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि एक ही प्रकार की बातों का कई बार पुनः पुनः उपदेश किया गया है। आध्यात्मिक तत्त्वों के विषय में ऐसे उपदेश का महत्त्व समझ में आता है किन्तु कई स्थानों पर साधारण वैज्ञानिक तत्त्वों का इस प्रकार बार बार दुहराया जाना जरूर खटकता है। इस पुनरुक्ति के

दोष का परिहार न्याय दर्शन में अनुवाद और पुनरुक्ति में भेद दिखाते हुए किया गया है कि सार्थक पुनरुक्ति का नाम अनुवाद है जो वेद में पाया जाता है निरर्थक नहीं। किन्तु ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य को देखते हुए भी कई बार इस विषयक सन्देह पाठकों के मन में बना रहता है जिस पर अधिक विचार करने से सम्भवतः समाधान हो सके। मैंने इसका निर्देश केवल इस लिये कर दिया है कि विचारशील विद्वान् इस विषय पर अधिक विचार कर सकें। विस्तार भय से और अधिक न लिखते हुए मैं उपसंहार के तौर पर केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली आर्ष तथा ऋषि दयानन्द के तपस्वी योगी और अनेक विद्या निष्णात होने के कारण उपलब्ध वेद भाष्यों में सर्वोत्तम है जो वेदों के प्रति श्रद्धा के भाव को दृढ़ कर सकती है। सायणादि भाष्य देखने से तो वस्तुतः किसी भी विचारशील व्यक्ति की वेदों पर श्रद्धा रहनी असम्भव सी है। ऋषि के भाष्य में जीवनोपयोगी सब आवश्यक तत्त्वों का अत्युत्तम उपदेश है विशेषतः मन्त्रों के जो विशाल और महत्त्व पूर्ण अर्थ उन्होंने दिये हैं वे प्रत्येक जिज्ञासु के लिये बड़े ही उपयोगी हैं। अन्त में श्रीयुत अरविन्द घोष के शब्दों में मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि "What ever may be the final complete interpretation of the Vedas, Dayananda will be honoured as the first discoverer of the right clues."

He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisoned fountains." जिनका भावार्थ यह है कि वेदों का सम्पूर्ण और अन्तिम भाष्य जो कोई भी हो ऋषि दयानन्द का ठीक वेद भाष्यशैली के प्रथम पुनरुद्धारक के तौर पर सदा सन्मान किया जाएगा। ऋषि की बताई हुई शैली से वेदों का और अच्छी तरह अनुशीलन होना चाहिये यद्यपि उनके एक एक अक्षर को निर्भ्रान्त मानने को कोई बाधित नहीं। अभी इस विषय में आर्य विद्वानों को बहुत कुछ संगठित कार्य करने की आवश्यकता है आशा है इस कार्य की ओर आर्य विद्वत्सम्मेलन सदा विशेष ध्यान देगा।

परिशिष्ट

ऋषि दयानन्द की वेद भाष्य शैली

लेखक

श्री पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालंकार

ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्

दयाया यः सिन्धुर्निगमविहिताचार निरतो
विलुप्तं सद्धर्मं पुनरपि समुद्धर्तमखिलम् ।
दिवारात्रं येते यतिवर गुणग्राम सहितो
दयानन्दो योगी विमल चरितोऽसौ विजयते ।
यदीयं वैदुष्यं श्रुति विषयकं लोक विदितं
यदीयं योगित्वं कलियुग जनेष्वस्त्यनुपमम् ।

श्रुतेर्व्याख्यां चक्रे सुमति महितां भाव भरितां
दयानन्दो योगी विमल चरितोऽसौ विजयते ॥

(१) वेदों में विशेष संज्ञा (Proper nouns) का अभाव यह पहले लिखा जा चुका है कि वेदों की नित्यता के सिद्धान्त को स्वीकार करलेने पर. जिसका "वाचा निरूप नित्यया" (ऋग्वेद) "तस्माद्यज्ञात्सर्व हुत ऋचः सामानिजज्ञिरे" (ऋ० १०।९०) अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ (मनुः) 'अतएव च नित्यत्वम्' (वेदान्त सूत्र) इत्यादि में स्पष्ट प्रति पादन है वेदों में व्यक्तियों के नाम आदि को मान ना सर्वथा असङ्गत और असम्बद्ध हो जाता है। यह भी बताया जा चुका है कि श्री सायणाचार्य अपनी वेदभाष्य भूमिका में इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी किस प्रकार भाष्य के समय उसे भूल गये हैं और उन के अनुसार ऋषिमुनियों के चरित्रों और तत्सम्बन्धी आख्यानों से वेद भरे पड़े हैं। वेदों में विश्वामित्र वसिष्ठ जमदग्नि अङ्गिरा अत्रि भरद्वाज कण्व बृहस्पति गोतम कश्यप वामदेव आदि शब्द देख कर उन में इतिहास की कल्पना कर लेना ठीका नहीं है। वेदों में इन शब्दों का प्रयोग प्राण चक्षु अग्नि बुद्धिमान् आदि के अर्थ में निघण्टु ब्राह्मणादि के प्रमाणों से स्पष्ट है उदाहरणार्थ वसिष्ठ की व्याख्या 'प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः' (शतपथ ८।१।१।६) प्रजापतिर्वै वसिष्ठः

(कौषी० २५।२।।२६।१५) अग्निर्वै देवाना वसिष्ठः ।। ऐ० १।२८ इत्यादि रूप से करते हुए उस के प्राण प्रजापति अग्नि आदि अर्थ बताये गये हैं। जमदग्नि का अर्थ "प्रजापतिर्वै जमदग्निः" (शत० १३।२।२।४) "चक्षुर्वै जमदग्निः" (शत० ८।१।२।३) में ईश्वर और नेत्र बताया है। विश्वामित्र की व्याख्या "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः ।।" (शत० ८।१।२।६) वाग्वै विश्वामित्र ऋषिः ।। (कौषीतकी ब्रा० १०।५।) इत्यादि द्वारा की गई है। कण्व का निघण्टु में मेधावि नामों में पाठ है। भरद्वाज की व्याख्या मनो वै भरद्वाज ऋषिः" इत्यादि द्वारा शत० ८।१।१।९ में की गई है। "अङ्गिरा ह्यग्निः" (शत० १।४।१।२५) "प्राणोवा अङ्गिरा" (श० ६।१।२।२८) इत्यादि में अङ्गिरा का अर्थ प्राण और अग्नि बताया गया है। इसी प्रकार अन्य शब्दों की आर्षग्रन्थों में व्याख्या है जिन्हें सायणाचार्यादि भाष्यकारों ने व्यक्ति विशेष-वाचक माना है किन्तु जिन की ऋषि दयानन्द ने उपर्युक्त प्रकार से ही व्याख्या अपने भाष्य में की है। इस व्याख्या पर आक्षेप करने वालों को आर्षग्रन्थों के इन वाकयों का भली भान्ति अध्ययन करना चाहिये।

इस विषय का विशेष विचार 'वेद और इतिहास' विषयक निबन्ध के लेखक महोदय ने अपने निबन्ध में किया था अतः यहां इतनी टिप्पणी ही पर्याप्त है। ऋषि दयानन्द के भाष्य का

एक महत्त्व यह है कि उस में कहीं भी नित्यता विषयक सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया गया।

(२) श्री सायणाचार्यादि और ऋषि दयानन्द

दो तीन भेद सूचक उदाहरण

ऋग्वेद १।१२६ में निम्न लिखित २ मन्त्र आते हैं जिन का श्री सायणाचार्य ने बड़ा ही अश्लील और असङ्गत अर्थ किया है जिसे किसी सभ्य समाज के सामने कहना भी लज्जाजनक है तथापि ऋषि दयानन्द के साथ उसकी तुलना अप्रासङ्गिक न होगी। मन्त्र निम्न हैं।

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥ म० ६

सायण इस का यों भाष्य करते हैं "सम्भोगाय प्रार्थितो भाव शव्यः स्वभार्यां रोमशामप्रौढ़ेति बुद्धया परिहसन्नाह (भोज्या) भोग योग्यैषा (आगधिता) आ-समन्तात् स्वीकृता तथा (परिगृ-हीता) परितो गृहीता। यद्वा (आगधिता) आ-समन्तान्मिश्रयन्ती आन्तरं प्रजननेम बाह्यं भुजादिभिः कीदृशीसा या (जंगहे) अत्यन्तं गृह्णाति कदापि न विमुञ्चति अत्यागे दृष्टान्तः (कशीकेव) कशी का नाम सूतवत्सा नकुली सा यथा पत्या सह चिरकालं क्रीड़ति न कदाचिदपि विमुञ्चति तथै वैषापि। किंच भोज्यैषा (यादुरी)

यादुरित्युदकनाम रेतोलक्षणमुदकं प्रभूतं राति-ददातीत यादुरी बहुरेतो युक्तेत्यर्थः तादृशीसती (याशूनाम्) संभोगाना यशइति प्रजनन नाम तत्सम्बधीनि कर्माणि याशूनि भोगाः तेषां (शतम्) असंख्यातानि मह्यं ददाति ॥ अश्लीलश्रृङ्गार परक होने के कारण इस का हिन्दी अनुवाद देना भी उचित नहीं प्रतीत होता सम्भोगार्थ रोमशा की प्रार्थना, अप्रौढ़ा समझ कर उसका परिहास इत्यादि सूचक एक भी शब्द मूलमन्त्र में नहीं है यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र की नीति परक व्याख्या की है यादुरी का अर्थ उन्हों ने प्रयत्न शीला (याशूनाम्) का प्रयत मानानाम् ऐसा करते हुए जो लिखा है, उसका भावार्थ यह है "यया नीत्याऽसंख्यातानि सुखानिस्युः सा सर्वैः सम्पादनीया" ऐसा उन्हों ने लिखा है। विचार शील पाठक इन दोनों अर्थों की तुलना कर के स्वयं निर्णय करें कि 'वेद' के सर्व सम्मत स्वरूप की दृष्टि से कौन सा अर्थ अधिक सङ्गत है ? साथ ही किस अर्थ में कपोल-कल्पना और खेंचातानी अधिक है ?

इसी सूक्त का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है

उपोप में परामृश मामे दभ्राणि मन्यथाः । सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥ म० ७

सायणाचार्य इसका भाष्य यों करते हैं—

रोमशा नाम बृहस्पतेः पुत्री ब्रह्मवादिनी परिहसन्तंस्वपतिं प्रत्याह—भोःपते (मे) मां द्वितियार्थे चतुर्थी (उपोप) उपेत्य (परामृश) सम्यक् स्पृश भोग योग्यामवगच्छेत्यर्थः यद्वा (मे) मम गोपनीयमङ्गम् (उपोप परामृश) अत्यन्तमान्तरं स्पृश। परामर्शाभावशङ्कां निवारयति (मे) मदङ्गानि रोमाणि (दभ्राणि) अल्पानि मा वुध्यस्व। अहं (रोमशा) बहुरोम युक्तास्मि यतोऽहमीदृशी अतः (सर्वा) सम्पूर्णावयवास्मि रोमशत्वे दृष्टान्तः— गन्धारदेशीय मेषा इव यद्वा (गन्धारिणीं) गर्भधारिणीनां स्त्रीणाम्। (अविका) अत्यर्थं तर्पयन्ती योनिरिव यतोऽहमीदृशी अतो मामप्रौढ़ां मावबुध्यस्वेति ॥

अत्यन्त होने के कारण इसका भी हिन्दी अनुवाद देना उचित नहीं प्रतीता होता।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य यो किया है

पुना राज्ञो कि कुर्यादित्युच्यते

"हे पते राजन् याहं (गन्धारीणामिव) यथा पृथिवीराज्यधतॄणां मध्ये (अविका) रक्षिका (रोमशा) प्रशस्त लोमा (सर्वा अस्मि) तस्याः (मे) मम गुणान् (परामश) विचारय (मे) (दभ्राणि) अल्पानि कर्माणि (मा) (उप) अतिसामीप्ये (मन्यथाः) जानीयाः।

भवार्थः—राज्ञी राजानं प्रति ब्रूयात् "अहं भवतो न्यून नास्मि यथा भवान् पुरुषाणां न्यया धीशोऽस्तितथाहं स्त्रीणां न्यायकारिणी भवामि ॥"

विद्वान् पाठक स्वयं निश्चय करें कि दोनों अर्थों में से किस अर्थ में अधिक गम्भीरता है और वेद के स्वरूप की दृष्टि से कौन सा अधिक सङ्गत है। मैं इस विषय में कुछ टिप्पणी करना अनावश्यक मसझता हूँ। आश्चर्य केवल इस बात का है कि श्री सायणाचार्य इस प्रकार के अश्लील उपाख्यानों से जो जरा भी शिक्षा दायक नहीं हैं वेदों को पूर्ण मानते हुए भी उन्हें आपौरुषेय निर्भ्रान्त ज्ञान मानते हैं। एक दूसरा उदाहरण जो मैं इस के सम्बन्ध में यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ वह व्रात्य सूक्त का है। उस से ज्ञात होगा कि श्री सायणाचर्य जैसे विद्वान् भाष्य कारों ने भो अपनी विवेक शक्ति को कार्य में न लाते हुए पौराणिक संस्कार वश कैसे हास्यजनक अर्थ कर दिये हैं अथर्व वेद के १५ वें काण्ड में व्रात्य की महिमा को बताते हुए उस की पूजा का विधान है श्री सयणाचार्य का उस काण्ड का पूरा भाष्य तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु उसकी भूमिका में उन्हों ने जो वाक्य लिखे हैं उन्हें पढ़ कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। वे लिखते हैं

"अत्र काण्डे व्रात्य महिमा प्रपञ्च्यते। व्रात्यो नाम उपनयनादि संस्कार हीनः पुरुषः सोऽर्थाद् यज्ञादि वेद विहिताः क्रिया कर्तुं नाधिकारी नच व्यवहार योग्य श्चेत्यादि जनमतं मनसिकृत्य व्रात्योऽधिकारी, व्रात्यो महानुभावो देव प्रियो व्रात्यो ब्राह्मण क्षत्रिययोर्वर्चसोमूलं किं बहुना व्रात्यो देवधिदेव एवेति प्रतिपाद्यते। यत्र व्रात्यो गच्छति विश्वं जगद् विश्वेच देवास्तत्र तमनुगच्छन्ति

तस्मिन् स्थिते तिष्ठन्ति तस्मिँश्चलतितेचलन्ति । यदा स गच्छति राजवत्स गच्छतीत्यादि । न पुनरेतत् सर्वं व्रात्यपरं प्रतिपादनमपितु कश्चिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् ॥"

भावार्थ यह कि व्रात्य का अर्थ उपनयनादिसंस्कार रहित वैदिक यज्ञादि क्रिया का अनधिकारी पुरुष होता है जनता के इसी भाव को मन में रख कर यहां उसकी महिमा बताई गई है कि वह महानुभाव है अधिकारी है देवों में श्रेष्ठ है। उस के पीछे देव चलते हैं इत्यादि। वस्तुतः यह वर्णन सब व्रात्यों के विषय में नहीं किन्तु किसी विशेष व्रात्य का है जो अत्यन्त विद्वान् धर्मात्मा जगन्मान्य किन्तु कर्म परायण ब्राह्मणों के द्वेष का पात्र था। इस काण्ड के अनेक मन्त्रों की ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के अतिथियज्ञ प्रकरण में व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने यहां व्रात्य का अर्थ परोपकारी अतिथि ऐसा किया है। व्रात का अर्थ मनुष्य निघण्टु में दिया ही है उन के हित के लिये कार्य करने वाले विद्वान् को व्रात्य कहा जाता है। इस काण्ड के "तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिगृहे वसति ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेवाव रुन्धे।

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्यतर्पयन्तु व्रात्य यथाते

प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु ॥" इत्यादि मन्त्र अत्यन्त स्पष्टतया व्रात्य शब्द की अतिथि परता को सूचित करते हैं जिन में व्रात्य के घर में आने पर सत्कार का विधान है। यह वर्णन किसी भी अवस्था में उपनयनादि संस्कार हीन वैदिक यज्ञ के अनधिकारी पुरुष का नहीं हो सकता यद्यपि सायणाचार्य ने सूत्र ग्रन्थों और स्मृतियों आदि में उस का नीच अर्थ में प्रयोग देख कर व्यक्ति विशेष परक उसे लगाने को कोशिश की है। वैदिक शब्दों को रूढ़ि मानने से कैसे अर्थ का अनर्थ हो जाता है इसका यह अत्युत्तम उदाहरण है।

इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण देकर जिससे ऋषि दयानन्द के भाष्य की विशेषता ज्ञात होगी इस टिप्पणी को समाप्त करता हूँ हूं। वह रुद्राध्याय (यजु० अ १६) विषयक है। इस अध्याय में "नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमः॥ नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमः॥" इत्यादि शब्द आये हैं। इनकी व्याख्या में पौराणिक भाष्यकार महीधर ने लिखा है "रुद्रो लीलया चौरादिरूपं धत्ते—यद्वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वाच्चौरादयो रुद्राएव ध्येयाः॥" श्वानः कुक्कुरास्तद्रूपेभ्यो नमः। श्वपतयः—श्वपाका-स्तेभ्यो नमः। श्वपतयः किरात वेषस्य रुद्रस्यानुचराः॥ अर्थात् ठगने वाले धोखा देने वाले चोरों के सर्दार ईश्वर को नमस्कार। कुत्तों को नमस्कार चण्डाल रूप ईश्वर को नमस्कार इत्यादि। रुद्र ही लीला निमित्त चोर आदि का रूप धारण करता है अथवा

क्योंकि सब कुछ रुद्र रूप है अतः चोरों को भी ईश्वर रूप ही समझना चाहिये। यह लिखने की अवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की व्याख्या कितनी भद्दी है। इतनी खैंचातानी करने की आवश्यकता इस लिये हुई कि "रुद्र" और "नमः" इन दो के अर्थ को ठीक तौर पर नहीं समझा गया। (१) रोदयति शत्रूनिति रुद्रो महावीरः (२) रोदयति दुष्टानिति रुद्रो न्यायाधीशः (३) रोदयति धनिकानिति रुद्रश्चौरः (४) रुत्-ज्ञानं ददातीति रुद्र उपदेशकः (५) रुद्-दुःखं द्रावयतीति रुद्रो वैद्यः (६) रुद्-रोगं राति-ददातीति रुद्रो रोगोत्पादक कृमिः॥ इत्यादि रूप से रुद्र के अनेक अर्थ हैं। 'नमः' के भी निघण्टु के अनुसार अन्न, वज्र, सत्कार ये तीन मुख्य अर्थ हैं। वञ्चक चौरादि के साथ वज्र अर्थात् दण्ड, कुत्तों आदि के साथ अन्न और अन्यों के साथ सत्कार अर्थ लेने पर जैसे कि स्वामी दयानन्द जी ने अपने भाष्य में किये हैं मन्त्रों की उत्तम सङ्गति लग जाती है अन्यथा असङ्गत विचित्र कल्पनाएं करनी पड़ती हैं जैसी कि महीधरादि ने की हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे अर्थात् वेदों में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है इस बात क कहीं नहीं भुलाया इसीलिये उन्होंने अन्य भाष्यकारों की तरह सामान्यबुद्धि (Commonsense) को ताक में नहीं धर दिया। यही कारण है कि उनके भाष्य में कहीं भी हास्यजनक अश्लील और असङ्गत उपाख्यानादि नहीं पाये जाते।

(३) वेद और विज्ञान

ऋषि दयानन्द के विचार का समर्थन

वेदों में विज्ञान विषयक स्वामी दयानन्द के विचार का समर्थन करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् विचारक श्रीयुत अरविन्द घोष ने लिखा था—

"There is nothing fantastic in Dayanand's idea that the Veda Contains truth of science as well as truth of religion I will even add my own conviction that the Veda contains other truths of a Science, the Modenr world does not at all possess, and in that case Dayananda has rather understated than overtated the depth and range of the Vedic Wisdom."

अर्थात् स्वामी दयानन्द के इस विचार में कि वेद में न केवल धर्म के किन्तु विज्ञान के सत्य का भी मूल है कुछ भी कल्पित बात नहीं है। मेरा अपना तो यह भी विश्वास है कि वेद में एक ऐसे विज्ञान की सच्चाई का प्रतिपादन है जिस से वर्तमान जगत् सर्वथा अनभिज्ञ है और उस अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता जताने में न्यूनोक्ति की है अत्युक्ति नहीं॥

श्रीयुत अरविन्द घोष जैसे निष्पक्ष विचारक की यह सम्मति जो ऋषि दयानन्द के विचार का समर्थन करने वाली है काफ़ी महत्त्वपूर्ण है॥

स्वामी दयानन्द और स्वामी आनन्दतीर्थ

(श्रीमध्वाचार्य)

अन्य अनेक विषयों की तरह वेद भाष्य शैली में भी द्वैतवादी प्रसिद्ध आचार्य श्रीमध्वाचार्य और स्वामी दयानन्द जी में बहुत सी समानताएँ हैं जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है। दोनों आचार्य वेदों को ईश्वरीय ज्ञान रूप मानते हैं। इस विषय में ऋग्भाष्य में श्री मध्वाचार्य ने लिखा है।

मुनिस्तु सर्व विद्यानां भगवान् पुरुषोत्तमः।
विशेषत श्च वेदानां यो ब्रह्माणमिति श्रुतिः॥
ऋग्वेदादि कमस्येव श्वसितं प्राह चापरः॥

(२) दोनों आचार्य योगिकवादी हैं तथा अग्नि वायु इन्द्र सोम आदि को प्रधानतया ईश्वर वाचक मानते हैं। 'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्' (ऋ० १।१।१) की व्याख्या में श्रीमध्वाचार्य ने लिखा है।

यथैवाग्न्यादयः शब्दाः प्रवर्तन्ते जनार्दने।
तथा निरुक्तिवदयामो ज्ञानिनां ज्ञान सिद्धये॥
इतितेनाग्नि शब्दोऽयमग्रएवाभि पूज्यताम्॥
अग्रयत्वमग्रनेतृत्वमत्तिमङ्गाङ्गनेतृताम्॥

इस प्रकार की निरुक्ति देकर इसे प्रधानतया ईश्वर वाचक तथा गौणतया भौतिकाग्नि वाचक बताया है। वायवायाहि दर्शतेमे

सोमा अरङ्कृताः । तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ ऋ० १।२।१ की व्याख्या करते हुए श्रीमध्वाचार्य 'वयु' का निर्वचन यों करते हैं

बलत्वादयनाच्चैव वायुरित्य भिधीयते ।
वात्यायुरिति वाज्ञानाद् वरवादाश्रयत्वतः ॥
वय बन्धन इत्यस्मात् संसारादेर्व्ययादपि ।
व्येत्यस्मिन्निति वा वयुर्वय श्रेष्ठत्व इत्यपि ॥
मुख्यतो वासुदेवेते गुणाः सन्त्येव सर्वशः ।
अनिषिद्धास्त दन्येषुयथा योग्यतयामतः ॥

यहां यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि श्रीमध्वाचार्य जी ने ये निर्वचवन अपनो कपोल कल्पना से नहीं किये, इन में कइयों का आधार श्री यास्काचार्य के निरुक्त पर भी नहीं है किन्तु व्यास मुनि निर्मित निरुक्त के आधार पर किये हैं जो दुर्भाग्यवश लुप्त हो चुका है । उन के अपने शब्द ये हैं ।

अग्रणीत्वं यदग्नित्वमित्यग्रे नाम तद् भवेत् ।
एवमेवाह भगवान निरुक्ति बादरायणः ॥

इस श्लोक में व्यास मुनि के ग्रन्थ का स्पष्ट नाम तो नहीं बताया गया किन्तु निर्देश किसी निरुक्त की तरफ़ ही प्रतीत होता है । इसी भाष्य में ऋक् संहितायां स्वाध्याये निरुक्ते व्यास निर्मित इत्यादि श्लोकों में यह निस्सन्दिग्ध है । "इन्द्र वायु इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् । इन्द्र वो वायु शान्ति हि" ।१।२।३ की व्याख्या में इन्द्र की व्याख्या "इन्द्रः स परमैश्वर्यत्वादिदमुद्दिश्य च हुतेः। ददर्शेदं

दीप्तिमत्वादिदं रातीति वा भवेत् ॥" इत्यादि निरुक्ति द्वारा प्रधान तया ईश्वर परक की है। इसी प्रकार "मित्रं हुवे पूतदक्ष वरुणं चरिषादसम्॥" में वरुण की "आवृणोतीति वरुणस्तमसाऽज्ञानतोऽपिवा। वरमुन्नयतीत्यस्मात् वरानन्दत्वतोऽपि वा ॥" इत्यादि निरुक्ति करते हुए ईश्वर परक अर्थ किया है। स्वामी दयानन्द जी ने लग भग ऐसी ही व्युत्पत्ति दे कर प्रधानतया ईश्वर परक अर्थ बताये हैं। अब ईश्वरातिरिक्त कुछ अन्य शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ श्रीमध्वा चार्य जी ने किस प्रकार किये हैं और उन के द्वारा ऋषि दयानन्द के अर्थ की कैसी पुष्टि होती है इस के दो चार उदाहरण देखिये।

"वायवायाहि दर्शितेमे सोमा अरङ्कृता तेषां पाहि श्रुधि हवम् ॥" इस में सोम पर श्रीमध्वाचार्य लिखते हैं

भक्त्याद्यलङ्कृताः सोमा मनांस्यन्ये हिरण्यतः।
मनोऽपि भोग्यमीशस्य प्रीतिमात्रेण केवलम् ॥

इत्यादि अनेक स्थलों में सोम का अर्थ मन किया है। "अस्य पीत्वा शतक्रतो घनोवृत्राणामभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ इस की व्याख्या में वे वृत्र का अज्ञान अर्थ करते हैं "आवृतेरेव वृत्राणि ह्यज्ञानाघन्नदं नरम्। प्रात्रो युद्धेषु योद्धारं भक्तं ज्ञानिनमेव च।" ऐसे ही धन रयि आदि शब्दों के वे प्रायः ज्ञानादि धन अर्थ करते हैं। "यस्यसंस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत ॥" इस मन्त्र में हरी का अर्थ वे मन और बुद्धि तथा शत्रवः का अर्थ

तम आदि करते हैं। यथा मनः पुरो वा विषय-हरणान्मन एवच। बुद्धिश्च हरि शब्दोक्ते तम आदीनि शत्रवः" ऐसे ही नहित्वा रोदसी उभे ऋघायमाण भिन्वतः। जेषः स्वर्वतीरपः संगा अस्मभ्यं धूनुहि ॥ इस की व्याख्या में अपः का अर्थ प्रजा और 'गाः' का अर्थ व्युत्पत्ति लेकर किया है यथा—

अपः प्रजाः सुखवती रजय स्त्वद् वशत्वतः।
ज्ञानानि संधूनुहि चप्रापयोचा अपि स्वयम् ॥

यईङ्खयन्ति पर्वनान् तिरः समुद्रमर्णवम्। महद्भिरग्न आगहि ॥ की व्याख्या में पर्वत का अर्थ पुरुष और समुद्र का अर्थ प्रकृति किया है और उस के लिये पर्ववन्तो हि जन्मनी। पुरुषः सुसमुद्रे कात्समुद्रः प्रवृतिर्मता। ॥ इत्यादि निर्वचन दिया है। ऋषि दयानन्द ने "ऋतं चसत्य चाभीद्धात्—समुद्रो अर्णवः।" में लगभग ऐसी ही व्याख्य की है। और तो और उलूखल चमस द्रोणादि शब्दों की भी उन्हों सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या की है यथा 'उलूखल सुतानामवेद्धिन्द्र जल्गुलः ॥" (ऋ: १।२८।२) की टिप्पणी में वे कहते हैं "खलश्चोरुस्तथा देहः सोमोमन इतीरितः। ज्ञानात्पत्तौ चफलकस्थानओष्ठ उदीरिते ॥ शिरो भेदौ तौ चमसौ द्रोणं चोदर मोरितम्। मुख चर्मैव गचोर्म" इत्यादि इत्यादि उदाहरणों से यह ज्ञात हो सकता है कि दोनों आचार्यों को शैली में बहुत कुछ समानता थी। दोनो ही आचार्य वेदों के प्रायः प्रत्येक

मन्त्र के आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक (Individual or Spiritual Social and Cosmic) ये तीन अर्थ मानते थे। श्री मध्वाचार्य ने "त्रयोऽर्थाः सर्व वेदेषु" इत्यादि में इस की स्थापना की है यद्यपि भाष्य में उतनी अच्छी तरह वे इस स्थापना को पुष्ट नहीं कर सके। वेदार्थ कौनसा और किस का अधिक मान्य है इस विषय में निरुक्त कार यास्काचार्य ने "न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसी वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति ॥" (अ० १३) ऐसा लिखा है। स्वामी दयानन्द जी ने भी इस का उल्लेख और समर्थन किया है। श्री मध्वाचार्य ने "गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एवहि। प्रयोजकत्वान्नान्यस्य फलाभावात् तदर्थता॥" अर्थात् वेद का असली अर्थ वही समझना चाहिये जिसमें अधिक गुण अथवा गौरव प्रकट हो क्योंकि व्यर्थ अथवा निष्प्रयोजन वेद का वाक्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि से भी स्वामी दयानन्द जी की भाष्य शैली की है सर्वोत्तमता ज्ञात होती है॥

वेद और पश्चिमी विज्ञान

ले०, कविराज पं० ब्रह्मानन्द आयुर्वेद शिरोमणि आयुर्वेदाचार्य

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानंविश्वेदेवा ब्रम्हज्येष्ठ मुपासते॥"

विज्ञ महानुभाव,

प्रकृत प्रबन्ध किन्हीं बहुत से ग्रन्थों के अवलोकन द्वारा निबद्ध नहीं किया गया है। उसमें आपको प्रमाणों की भरमार न मिलेगी। लेखक, बालुकामय मारवाड़ प्रान्त के एक कोने में, बारमेर ग्राम में रहता है। जहाँ कि शुष्क प्रकृति, सूखी एवं कठोर पर्वतमाला और बालू के विस्तृत एवं उच्च टीलों के रूप में कठोर भाव से अपना प्रदर्शन करती है; जहाँ पुस्तकालय अथवा पुस्तकों का अभाव है; शिक्षित साहित्यिक सहृदयों का मिलन दुर्लभ है। देश अशिक्षित है, अविप, अजप और गोपों का बाहुल्य है। ऐसी अवस्था में ग्रीष्मऋतु में सौवर्गी उषा द्वारा उद्भासित बालू के शीतल टीलों पर अथवा शुष्क गिरि-उपत्यकाओं में बैठकर वेद और ब्राह्मणों के वचनों का ध्यान करते हुए जो भाव मेरे हृदय में उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने कि मेरी विचार शक्ति को पूर्णतया

वशीभूत कर लिया है, उन्हीं को सहृदय पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ।

मूल रूप में निबन्ध का प्रकार यह था कि संस्कृत अथवा आङ्गल भाषा के उद्धरणों को उद्धृत न करके केवल उनके भावों को ही आर्य भाषा में उद्धृत किया गया था तथा प्रमाण भाग फुटनोट में था; परन्तु अब पाठकों की सरलता का ध्यान रखते हुए जहाँ पर किसी प्रमाण का भाव लिखा गया है वहाँ, उसके साथ ही कोष्ठक में तत्सम्बन्धी वाक्य भी उद्धृत कर दिया गया है। प्रमाण लिखकर उसका शब्दार्थ करने की अपेक्षा लेखक को यह क्रम कुछ विशेष उत्तम प्रतीत हुआ। आशा है कि यह क्रम पाठकों को रुचिकर एवं सुविधा जनक होगा।

वेद, हमारे मत से ईश्वरीय तथा ऐतिहासिकों के मत से मनुष्यकृत वेद, संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन पुस्तक है। पाश्चात्य इतिहासज्ञों की दृष्टि में वेद किन्हीं दक्ष कवियों की कृति है, जिसका कि निर्माण उन्होंने समय समय पर प्रकृति की शक्तियों को देखकर किया। उनके मन्त्र भिन्न भिन्न ऋषियों की रचनाएं हैं, जिनमें कि वे पुरुषरूप में प्राकृतिक शक्तियों से धन, पशु आदि की प्रार्थना तथा उनकी देवता रूप से स्तुति करते हैं। परन्तु जब हम ब्राह्मणों की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें यहाँ पर बड़ा भारी वैपरीत्य दिखाई पड़ता है। यह बात निर्विवाद है कि किसी ग्रन्थ की व्याख्या ग्रन्थ-प्रतिपादित विषय का ही अनुकरण

करती है। अन्यथा वह ठीक व्याख्या नहीं कही जा सकती। ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें यह बात उपलब्ध नहीं होती। कहाँ तो वेद—जैसा कि ऐतिहासिक कहते हैं—ऐसे साधारण विषयों का वर्णन करते हैं और कहाँ ब्राह्मण, उसके विपरीत विज्ञान की कठिनतम समस्याओं का निर्णय करते हैं।

निरुक्तकार का कथन है कि :—

"बहुभक्तिवादीनि ब्राम्हणानि भवन्ति"

अर्थात् ब्राह्मण बहुत से अर्थों के प्रतिपादक हैं। वास्तव में बात भी ऐसी है। यदि कुछ भी ध्यान से देखा जाय तो ब्राह्मणों में हमें स्पष्ट रूप से अध्यात्म तथा अधिभूत के भेद से दो प्रकार के विवरण विशेष रूप से उपलब्ध होते हैं। एक तीसरा प्रकार और है जो 'निष्कर्ष' या 'लौकिक निष्कर्ष' के नाम से कहा जा सकता है। इसके द्वारा ब्राह्मण स्व प्रतिपादित तत्व से लौकिक उपयोग दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ब्राह्मणों में पूर्व के दो वर्णन तो परस्पर इतने अधिक मिश्रित हैं कि उनको पृथक् करना बड़ी भारी समस्या है। पदे पदे, पंक्ति पंक्ति में उनका इतना अधिक सम्मिश्रण है कि आधुनिक अध्येता उन्हें कुछ शब्द जंजाल सा समझ कर छोड़ देना चाहता है; परन्तु इसके लिये कुछ चिन्ता न करनी चाहिये। यह तो प्राचीन लेख शैली पर निर्भर है। दूसरी दृष्टि से हम इस शैली को बुरा भी नहीं कह सकते—वह विज्ञानमयी

शैली है। अस्तु, जो कुछ भी हो यह हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ब्राह्मणों में आधिभौतिक वर्णन का बाहुल्य है। हमारा सिद्धान्त है कि वह वर्णन बिलकुल व्यर्थ का ही नहीं है। अपितु वह भौतिक विज्ञान की पराकाष्ठा का दिग्दर्शक है। उसमें इतना विज्ञान भरा हुआ है कि साधारण पुरुष के लिये उसका हृदयङ्गम करना भी बड़ा दुष्कर कार्य है। हमारी दृष्टि से—जैसा कि आजकल कतिपय विद्वानों का कथन है कि वेद एवं ब्राह्मण केवल कर्मकाण्ड अथवा याज्ञिक विधियों के ही प्रतिपादक हैं, कुछ समुचित प्रतीत नहीं होता।

ऐतिहासिकों की अवहेलना

यह बात नहीं है कि जिन विचारों को अनुभव करके हम प्रकृत विषय में स्थान दे रहे हैं वे कोई नवीन विचार हैं अपितु उनका अनुभव ब्राह्मणादि ग्रन्थों का स्वाध्याय करने वाले विद्वानों को प्रायः हुआ करता है। मैक्डानल जैसे इतिहास लेखक जो कि वेदों को केवल इतिहास की अच्छी सामग्री मात्र समझते हैं वे भी ब्राह्मण ग्रन्थों के आश्चर्यमय विवरण देखकर इस विचार की अवहेलना न कर सके। इन बातों पर ध्यान न देते हुए भी उनसे न बच सके, और लिख ही तो बैठे:—

"In the Brahmanas, too, the sacrifice (यहाँ पर sacrifice से यज्ञ का ग्रहण है। मैक्डानल्ड अपने इतिहास में

इस शब्द का यज्ञार्थ में प्रयोग करता है) is represented as all powerful, controlling not only the gods but the very process of Nature."

(History of Sanskrit Literature by A. A. Macdonell chap. 4 p. 73.)

परन्तु इन विद्वानों ने अपनी इस अन्तर्ध्वनि पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने हम समझते हैं कि इसकी अवहेलना करके अपनी पूर्व कल्पना और निश्चय को ही प्राधान्य देकर इतिहास और प्राचीन लोगों के रहन-सहन की खोज में ही समय नष्ट किया है, जिसका कि परिणाम हमारे सामने है।

यज्ञ को ब्राह्मण में "प्राकृतिक व्यापार को वश में करने वाले" के रूप में देखते हुए भी विद्वानों ने कभी इस बात को जानने का प्रयास नहीं किया प्रतीत होता कि यज्ञ किस प्रकार प्राकृतिक व्यापारों को वश में ला सकता है ? उन्होंने इस बात की गहराई में जाने का प्रयत्न नहीं किया कि इस यज्ञ द्वारा वश में आने वाले व्यापार या वास्तविक देवता कौन कौन से हैं ? यदि उन्होंने इस बात पर ध्यान दिया होता तो वे अपने इतिहास ग्रन्थों को लिखते समय कभी इतनी बड़ी क्षति न करते।

यज्ञवेदी अथवा विज्ञानशाला

जब हम ब्राह्मण ग्रन्थों को देखते हैं तब हमें उनमें "यज्ञ" शब्द इतने अधिक स्थलों पर उपलब्ध होता है कि साधारण

दृष्ट्या देखने वाला पुरुष उन्हें यज्ञ विधि का प्रतिपादक मात्र समझने लगता है। परन्तु वह यज्ञ का अर्थ नहीं जानता है। वह यज्ञ शब्द से प्रचलित कर्मकाण्ड का ग्रहण करता है। और जब वह कहता है कि ब्राह्मण कर्मकाण्ड की जटिल विधियों के प्रतिपादक हैं तब वह समझता है कि वह एक तथ्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा हैं। परन्तु मूल में बात ऐसी नहीं।

यह ब्राह्मणों का यज्ञ एक नवीन आश्चर्यमयी वस्तु है। इसी यज्ञ के तथ्यार्थ का अन्वेषण करना वास्तव में वेदों की और ब्राह्मणों की एक जटिल समस्या को सुलझाना है। हम समझते हैं कि इस बात के सत्यज्ञान मात्र से वेदों और ब्राह्मणों के उलझे हुए महान् समूह को एक सुन्दर तथा सार्थक रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

यदि हम कुछ भी ध्यान से देखें तो ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञ वेदी प्राचीन भारतीय ऋषियों की वैज्ञानिक प्रयोगशाला प्रतीत होती है। जैसे ही जैसे हम उनके अध्ययन को बढ़ाते जाते हैं हमारी यह धारणा दृढ़ होती जाती है। हमारे पाठक सम्भवतः इस नवीन बात को पढ़ कर कुछ आश्चर्य में पड़ जायंगे। हो सकता है कि उनके विचारों में कुछ अविश्वास की झलक भी दृष्टि गोचर हो। वे विचार सकते हैं कि एक छोटी सी वेदी जिसमें कि एक आध तपोवनवासी ऋषि समिधा चयन आदि के अनन्तर नैत्यिक कृत्य करता होगा किस प्रकार प्रयोग शाला का

रूप धारण कर सकती है ? वहाँ पर प्रयोग शाला के उपयोगी कौन से उपकरण हो सकते हैं ? सम्प्रति इस नवीन वैज्ञानिक युग में एक पढ़े-लिखे पुरुष के नेत्रों के सम्मुख वैज्ञानिक प्रयोग शाला के उच्चारण मात्र से ही एक आलमारियों तथा विवध यन्त्रों की लम्बी लम्बी पंक्तियों और विविध उपकरणों से सजा हुआ विशाल विज्ञान-भवन आ उपस्थित होता है। आज कल की सभ्यता में पले हुए पुरुषों के लिये इससे विपरीत ढंग की कोई अन्य प्रयोग शाला होना कुछ कल्पना के बाहर की सी बात है। परन्तु जैसा कि ब्राह्मणों के विवरणों से हम समझते हैं उसके अनुसार असंदिग्ध भाव से कह सकते हैं कि याज्ञिक ऋषि धुरन्धर वैज्ञानिक थे और उनकी प्रयोग शालायें ये ही छोटी छोटी यज्ञवेदियाँ थीं।

प्राचीन और नवीन विज्ञान शालाओं का साम्य और अग्नि का प्रयोग

उपकरण आदि की दृष्टि से उन प्राचीन और नवीन विज्ञान शालाओं में जैसा अन्तर है ठीक इसके विपरीत प्रयोग में है। प्राचीन ऋषिगण अपने इसी यज्ञ की अग्नि से प्रयोगों को सिद्ध किया करते थे। इन दोनों प्रकार की विज्ञान शालाओं में रूप, काल तथा प्रयोग आदि के महान् भेद होते हुए भी उनमें एक आध साम्य है। सबसे अधिक साम्य अग्नि का उपयोग है। आज कल की कोई विज्ञान शाला ऐसी नहीं है जो अपने कार्य अग्नि

के बिना सिद्ध कर सकती हो। कोई भी प्रयोगशाला ऐसी नहीं जो बिना अग्नि के पूर्ण कही जा सके। यदि कहीं यह पार्थिव अग्नि काम में आती है तो कहीं मध्यम स्थानीय अग्नि (विद्युत्) ही काम में आती है और जहाँ पर ये दोनों नहीं हैं वहाँ द्युस्थानीय अग्नि के प्रकाश, उष्णिमा आदि से प्रयोग सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रयोग शालाओं के विविध दीपक आदि, विद्युत् यन्त्र तथा बड़ी बड़ी सूर्यकान्त मणियाँ (Lenses) इन्हीं अग्नियों के प्रयोगों के परिचायक हैं। वैज्ञानिक महोदय को कोई परीक्षण करना हुआ तुरन्त दो-चार वस्तुओं को मिलाया और अग्नि द्वारा उनको इधर-उधर करके चट प्रयोग करने लगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि विज्ञान शालाओं में अग्नि परमावश्यक पदार्थ है। बिना इसके प्रयोग शालाओं की गति नहीं। ठीक इसी प्रकार प्राचीन वैज्ञानिक भी अग्नि से ही कार्य सम्पादन करते थे। उनकी इस अग्नि का आधार उनकी यज्ञ वेदी होती थी। भेद केवल इतना था कि जहाँ आज कल वैज्ञानिकों के प्रयोगों के पदार्थों की सीमा विज्ञान शाला की छोटी छोटी शीशियों तथा शाला का छोटा सा भवन होता है—वहाँ प्राचीन वैज्ञानिकों की प्रयोग शाला के पदार्थों का संग्रहालय प्रकृति का विशाल साम्राज्य था। उन्हें जब कोई परीक्षण करना होता था तब वे प्रकृति के उस विशाल एवं रम्यक्षेत्र में—जिसमें कि वे अहोरात्र रहा करते थे—अपनी प्रयोग की सामग्रियों का

चयन करके अपने निश्चित समय पर परीक्षण के लिये उपस्थित होकर परीक्षण करते थे।

वर्त्तमान तथा प्राचीन विज्ञानशालाओं के प्रयोगों का अन्तर

अग्नि का दूसरा संस्कृत नाम पावक है। यह शब्द 'पूञ् पवने' धातु से बना है। यह बात लोक सिद्ध है कि अग्नि सब से अधिक शोधक पदार्थ है। उसमें पड़कर अशुद्ध वस्तुएं शुद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार अग्नि क्रिमि आदि का नाश करके वायु मण्डल को भी शुद्ध कर देता है। यदि हम अग्नि में थोड़ा सा भी परिशोधक पदार्थ जलावें तो उसकी सुगन्धि समीपस्थ वायु मण्डल में व्याप्त होकर उसे सुगन्धित एवं पवित्र कर देती है। वायु मण्डल को इच्छानुकूल बनाने का सबसे अच्छा उपकरण अग्नि ही है। इस बात को प्राचीन ऋषियों ने भली भाँति समझा था, वे इसके महत्व को जानते थे। इसी लिये उन्होंने इस विषय में अग्नि का आश्रय लिया था। आज कल हमारे वैज्ञानिकों के परीक्षण छोटी-छोटी नलिकाओं (tubes) तथा विज्ञान शाला में ही सीमित रह जाते हैं। वे एक परीक्षण छोटी-छोटी नलिकाओं में ही करते हैं और उसके सफल हो जाने पर उसको सार्वजनिक एवं विस्तृत रूप से सांसारिक व्यवहार में लानें का प्रयत्न करते हैं परन्तु भारतीय ऋषि जिस परीक्षण को करते थे वह छोटी सी

ही प्रयोग शाला में सीमित न रहकर सार्वभौम होता था। वे तपोवन में प्रकृति के खुले अंक में बैठकर 'पवमान' (पावक) अग्नि में परीक्षण रूप से जिस वस्तु की आहुति देते थे, उसका गुण, उसका परिणाम इस विस्तृत वायु मण्डल में फैलकर संसार के एक बड़े भाग का उपकार करता था। वे अपने परीक्षण के समय में ही समस्त संसार को उसके फल से बिना किसी प्रयास के ही सूचित कर सकते थे।

इस विज्ञानशाला के वैज्ञानिक

यही कारण था कि वे अपने इन परीक्षणों को बड़ी सावधानी तथा नियम से सम्पादित किया करते थे। वे जानते थे कि उसमें असावधानी होने से हानि भी हो सकती है और वह हानि सार्वजनिक तथा बड़े रूप में होगी। इसीलिये हम देखते हैं कि प्रत्येक यज्ञ में ४ यज्ञ कर्त्ता होते हैं। जिनको होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता तथा ब्रह्मा कहते हैं। इन सब के अन्य कार्य भले ही कुछ रहे हों; परन्तु एक विशेष कारण था जिससे कि उनका चुनना अत्यन्त आवश्यक होता था। हम समझते हैं वह विद्वान् जो कि दीर्घकाल तक प्रकृति का निकटतम निरीक्षण करने के अनन्तर अपना प्रयोग करता था वह 'ब्रह्मा' होता था। अन्य तीन विद्वान् जो कि प्रयोग करने में दक्ष होते थे होता अध्वर्यु तथा उद्‌गाता बनाए जाते थे। उनका कार्य यही था कि ब्रह्मा द्वारा पूर्व बताए

हुए परीक्षण की निश्चित विधियों को सावधानी के साथ करें। ब्रह्मा जो कि मुख्य परीक्षण कर्त्ता होता था किसी कार्य को अपने हाथ से नहीं करता था। वह शान्त, दत्तचित्त बैठकर अपने सहयोगियों के कार्य को देखता कि कहीं उसमें कोई विपरीत कार्य तो नहीं होता। यदि भूल से अशुद्ध कार्य हो जाता तो तुरन्त ही उसका निवारण करने के लिये "प्रायश्चित्ताहुति" दी जाती। जिससे संसार को उनके इस अपराध से हानि न हो और वायु, जल आदि देवताओं में से कोई कुपित या दूषित होकर प्रयोग कर्त्ताओं तथा संसार को कोई हानि न पहुँचावे। यह वास्तव में प्रयोग विधि थी जिसके अनुसार कि प्राचीन ऋषि गण अपने प्रयोग स्वच्छन्दतापूर्वक किया करते थे। यह एक ऐसा कार्य था जिसको कि प्रत्येक लगन का विद्वान् बिना किसी कष्ट के सुख पूर्वक, शान्ति से सम्पन्न कर सकता था। उसे किसी धनी-मानी पुरुष या धन के ऊपर निर्भर रहने की आवश्यकता न थी। उसे बड़े-बड़े विज्ञान-भवन एवं मूल्यवान् उपकरणों की अपेक्षा न थी। वह स्वतन्त्र था। प्रकृति का रम्य अङ्क उसके परीक्षणों के लिये पर्याप्त था।

विज्ञानशाला का शक्तिमान् रूप

कुछ काल के लिये अपने विचार को प्राचीन उन्नत समय की ओर दौड़ाइये फिर देखिये कि वह कैसा सुन्दर समय होता होगा

जब कि अहोरात्र प्रकृति के निकटतम सम्बन्ध में रहनेवाले, उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण करनेवाले वैज्ञानिक ऋषि अपने निरीक्षण द्वारा किसी नई बात को, नवीन विज्ञान को सोचकर उसके लिये सामग्री एकत्र करके अपनी छोटी सी रसायन शाला (यज्ञ शाला) में एकत्र होकर बैठते होंगे जब कि प्रातःकाल सूर्य देवता तपोवन को दिव्य किरणों से, सौवर्ण प्रकाश से रङ्गते होंगे; जब कि प्रकृति देवी अपनी मन्द मुसकान से ऋषियों को अपने रहस्योद्घाटन के लिये चारों ओर से संकेत करती होगी; जब उल्लासमय पवित्र हृदयों से, संसार की परोपकार कामना से, ऋषि गण, उपयुक्त अवसर पाकर, भौतिक विज्ञान के अन्वेषण के लिये अत्यन्त उत्सुक एवं तन्मय होकर अपने प्रयोग प्रारम्भ करने का उपक्रम करते होंगे। जब कि वे ऋषि बैठ कर समस्त वायु मण्डल के तत्त्वों का तथा समस्त प्राकृतिक व्यापारों का अपनी इच्छानुसार संचालन करने का विचार करते होंगे कि—अच्छा लो—आज हमें अमुक देवता को बुलाकर अमुक कार्य लेना है; आज हमें इन्द्र, मित्र, या वरुण को बुलाना है; सोम को बुलाना है अथवा आज इस देश के ऊपर मंडराने वाले इन नव जलधरों को यहीं उतार लेना है, आज अमुक पदार्थ का हवन कर के अमुक देवता को वश में करना है—तब वह छोटी सी यज्ञशाला और छोटी सी वेदी अपने उस रूप को छोड़कर वर्त्तमान संसार की बड़ी से बड़ी विज्ञान शाला से अधिक महत्व धारण कर लेती होगी।

वैदिक वर्णनों का आह्वान

जब हम आधिभौतिक अर्थ को ध्यान में रखकर वेद और ब्राह्मणों के आधिभौतिक वर्णनों को विचारते हैं; तब हमारे सामने स्पष्ट रूप में आ जाता है कि उनमें इन्द्र, वायु, आदि देवता वास्तव में प्राकृतिक शक्तियों के वाचक हैं। उनके अनुकूल कर्म उनकी प्रसन्नता के तथा प्रतिकूल कर्म उनकी अप्रसन्नता के द्योतक समझे जाते हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक विज्ञान में भी हमें बहुत सी बातें प्रत्यक्षतः विचारणीय हैं जैसे कि वेदों में मरु-द्देवता का विवरण। उनकी संख्या २१ तथा १८० मानी गयी है। अब साधारणतः विचारणीय बात यह है कि यदि हम इनको पाश्चात्य विज्ञानों के अनुसार केवल आँधी और तूफ़ान के देवता ही मानें जैसा कि मैक्डानल ने लिखा है—

"Prominent among the gods of the Rig-Ved are the Maruts or storm gods, who form a group of thrice seven and thrice sixty. (History of S. Lite-rature, chap. 4. p. 89.)

तो स्वतः ही यह ध्यान देना चाहिये कि यदि ऐसा ही है तो अन्य देवताओं की भाँति आँधी का भी एक ही देवता क्यों नहीं मान लिया गया? यहाँ पर ऐसी नियमित संख्या निर्णय करने

की क्या आवश्यकता थी ? यदि हम वायु भेद से इन्हें विभिन्न भी मानने लगें तो भी नहीं हो सकता। वात या वायु देवता तो वेदों में अलग ही बताया गया है। ऐसी अवस्थाओं में क्या आप निर्णय कर सकते हैं कि ये मरुत् क्या है ? हम समझते हैं कि ये १८० प्रकार की कोई गैसें हैं जिनका कि विवरण वेद हमें देता है।

अस्तु—कुछ भी हो, हम यहाँ अपने इस विचार पर बल नहीं देना चाहते अपितु, इतना ही कह देना चाहते हैं कि इस युग में जब कि लोक वेदों का नाम भी भूल चुका है—इस प्रकार के स्थल हमें किसी विशेष विषय की ओर आकृष्ट करते हैं।

जिस प्रकार से किसी ध्वंसावशेष-प्राय विशाल भवन या प्रसाद के टूटे फूटे भागों में विचित्रता से लगे हुए कील काँटे किसी गुप्त भाग का संकेत करके हमारे ध्यान को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं उसी प्रकार ऐसे वर्णन अज्ञात होते हुए भी एक विचित्र रहस्यमय भाव से हमें अपनी ओर झुका लेते हैं। हमें उनके ऊपर ध्यान देकर उनके उद्घाटन का प्रयत्न करना चाहिये। ऐतिहासिकों को यदि वे वेदों में इतिहास ही स्वीकार करना चाहते तो—उनके जीर्णशीर्ण एवं रहस्यमय विभागों का उद्घाटन करते समय केवल उनकी बनावट एवं क़लाकौशल पर ही निर्भर रहकर कला के जीवन भावों और उनके द्रष्टाओं की विविध भावनाओं

को न भुला देना चाहिये। हम समझते हैं कि इसके अभाव में वे उस कला के वास्तविक भावोद्भावन में, उसके सत्य रेखा चित्र प्रकाशन करने में असफल ही रहेंगे।

अस्तु, उपर्युक्त विज्ञान की दुहाई देने मात्र से कोई विचारवान् हमारे विचारों से सहमत नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में वे केवल असत्कल्पना मात्र ही समझे जावेंगे। इसलिये अब आवश्यक है कि हम इसका एक आध उदाहरण प्रस्तुत करें। जिससे कि पाठक उसके तत्त्व-विवेचन में समर्थ हो सकें। यदि वेद और ब्राह्मण विज्ञानमय नहीं, यदि वे कृषकों की गीतिमात्र ही हैं, तो अवश्य ही हमारा कथन कुछ सार नहीं रखता। आगे के प्रकरण में हम एक विज्ञान मय विवरण को प्रकाशित करने का प्रयास करेंगे। आशा है कि पाठक गण उसका हंस क्षीर न्यायेन विवेचन करके सत्यावलम्बी होंगे।

उदाहरणार्थ विचारणीय सोम शब्द

उपनिषदों में 'पंचाग्नि विद्या' का वर्णन उपलब्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् में यह विद्या अपना एक विशेष महत्व रखती है। यही नहीं बृहदारण्यकोपनिषद् (अध्याय ६; ब्राह्मण २) और शतपथ ब्राह्मण [का० १४ प्रपाठक ७ ब्राह्मण २ मं० १२—१६] में भी इसका महत्वपूर्ण वर्णन समुपलब्ध होता है।

उपनिषद् में इसकी एक आख्यायिका है। आरुणि ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु अपने पिता के पास अध्ययन समाप्त करके पंचालों की सभा में पहुँचा। कुमार समझता था कि वह पाठ्य विषय पढ़ चुका है। सभा में प्रवाहण जैवलि ने उससे पूछा कि हे कुमार क्या तुम्हें तुम्हारे पिता ने कुछ शिक्षा दी है? उत्तर मिला—'जी हाँ'। इस पर प्रवाहण जैवलि ने पूछा कि "बताओ तो सही, ५ वीं आहुति में जल किस प्रकार पुरुष वाणी वाले हो जाते हैं?" कुमार सिटपिटा गया। उत्तर न बना। उदास होकर घर लौटा। पिता से तिलमिला कर बोला कि 'बिना कुछ पढ़ाए लिखाए ही मुझसे कह दिया कि तुम पढ़ चुके।" एक सांस में ही पंचालों की सभा का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। पिता ने कहा—"बेटा, यह मुझे भी नहीं आता? यदि आता होता तो तुझे क्यों न बताता।" इसके अनन्तर दोनों प्रवाहण जैबलि के पास गये और उसने उन्हें पंचाग्नि विद्या का उपदेश किया।

प्रकृत प्रकरण में हमें पूरी पञ्चाग्नि विद्या से कोई तात्पर्य नहीं है, अपितु केवल, प्रथम की दो आहुतियाँ यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं।

१ "असौ वावलोको गौतमाग्निस्तस्यादित्यएव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा, नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥२॥

२ "पर्जन्यो वावगौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमोविद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गा ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षं सम्भवति ॥२॥" छान्दोग्योपनिषत् अ.५ खण्ड ४,५.

इस प्रकरण में सोम शब्द विचारणीय है। वैदिक साहित्य में यह (सोम) शब्द अपनी एक विशेष स्थिति रखता है। हमारे विचारानुसार इसके अनेक यौगिक अर्थ हैं और प्रकरणानुसार यह विभिन्न तत्वों का उद्भावन करने वाला है।

सोम का राजत्व और उसमें संशय

उपनिषदों के शब्दों में यह बात तो निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि यह सोम कुछ भी हो, उसका वास्तविक रूप चाहे जैसा भी हो; परन्तु ऋषि ने उसे वर्षा का कारण अङ्गीकार किया है। वही सोम पर्जन्य नामक अग्नि में आहुति

रूप में पड़कर वर्षा का रूप धारण करता है। इसी लिये कोई भी विचारशील व्यक्ति इस बात का प्रतिवाद नहीं कर सकता कि इस प्रकरण में वर्षा का मूल कारण सोम ही है। सोम के अस्तित्व पर ही वर्षा का अस्तित्व निर्भर है। दूसरे शब्दों में वह वर्षा का स्वामी है, राजा है। उसकी शक्तियों को देखकर ही ऋषि नें उसे 'राजा' पद से विभूषित किया है। उसके हाथ में महान् शक्ति है। समस्त लोक के जीवन का आधार-वर्षा—उसी के हाथ की कठपुतली है। इसी लिये हम भी ऋषि के वर्णन के अनुसार इस बात को स्वीकार करते हैं:—परन्तु यह बात इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाती। सोम का राजत्व हम नत मस्तक होकर स्वीकार कर लेते, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं थी यदि कोई दूसरा और अधिक शक्तिशाली राजा अपने राजत्व की घोषणा न करता। हम संशय में तथा एक विचित्र द्विविधा में पड़ जाते हैं; जब कि हम देखते हैं कि यह पद—हमारे मत से—अधिक प्रामाणिक ग्रन्थों में कहीं अन्य पदार्थों को समर्पित किया गया है। उस वर्णन में किसी एक राजा का ही आधिपत्य नहीं है; अपितु वहाँ पर दो राजा पाये जाते हैं—उनके इस युगल के लिये हम रोम के प्राचीन 'ट्रायम वरेट' [Triumivrate] का नाम भी नहीं दे सकते हैं; क्योंकि यह तीन न होकर दो में ही सीमित है, इसलिये किसी नवीन नाम का ही हमें आविष्कार करना पड़ेगा।

मित्र वरुण का वर्षा का स्वामी होना—

खोलिये अथर्ववेद को, उसमें लिखा है कि "मित्र और वरुण वृष्टि अर्थात् वर्षा के स्वामी हैं।

अन्यश्च-मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्।

यजु. २ १६. शत १.८.३.१२.

मित्रा वरुणौ वृष्ट्यधिपती तौ मावताम्।

अथर्व का० ५ सू० २४ मं० ५

इन्हीं के द्वारा वर्षा होती है, इनके न होने से वर्षा के जल का निर्माण नहीं हो सकता। यह औषधि और अन्न उस समय कल्पना क्षेत्र के प्रसून मात्र रह जावेंगे जो कि आँख खोलते ही अनन्त में लीन हो जाते हैं। कवियों का प्यासा पपीहा 'पीऊ पीऊ' रटता हुआ सदा के लिये विश्राम ले लेगा। उस समय कवियों को कमल और गुलाब की उपमाएं नहीं मिलेंगी। उसके लिये उन्हें खपुष्पों का निर्माण करना पड़ेगा। सम्भवतः उनका भी अस्तित्व संशयित हो जावेगा। यह है मित्र और वरुण की महत्ता। यह है उनकी राजकीय विशेषता और प्रभाव। इसीलिये विवश हो उन्हें राजा की उपाधि देनी पड़ती है। उनके राजत्व में किसी को संशय नहीं हो सकता। यही कारण है कि वेद ने उच्च स्वर से उनको वर्षा का अधिपति स्वीकार किया है।

हम सोम का वर्णन करने बैठे थे। वही पर्याप्त गूढ़ था। उसी के अन्धकार को हटाकर वास्तविक तत्व का अन्वेषण करने में ही आपत्ति हो रही थी, तब तक ये मित्र वरुण भी न जाने कहाँ से आ उपस्थित हुए। इनकी भी यही अवस्था है। कुछ भी हो; हमें इस विषय में विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। जब दो राजाओं का विवाद उपस्थित हो गया है तब वे स्वयं ही किसी न किसी प्रकार अपना निर्णय कर लेंगे।

मित्र वरुण के अन्वेषण का उपाय

ऐसी संशयित अवस्था में हमारे सम्मुख तीन स्वरूप हो सकते हैं या तो इन दोनों वर्णनों में से किसी एक का सिद्धान्त अतंथ्य एवं अमान्य हो, अथवा दोनों हो अपने वर्णनीय विषय में अपरिचित हों और केवल कल्पित भावमात्र हों; या फिर इनका रूप अत्यन्त सुन्दर हो और इनका परस्पर सामञ्जस्य तथा एक तानता हो। इसी का विवेचन करने के लिए हमें आवश्यक है कि हम इनके वास्तविक अर्थ तथा भेद का ज्ञान करने के लिये उन्हीं प्राचीन ग्रन्थकर्ताओं के विचार का ही अनुसरण करें; और इसके लिये—हम समझते हैं इससे अच्छा कोई मार्ग नहीं हो सकता कि हम उन्हीं के वचनों से इनके रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करें। इससे अच्छी तो कोई बात नहीं है कि उन ग्रन्थों में ही इनकी कोई निश्चित और उपयुक्त परिभाषा एकत्र ही निकल आवे। परन्तु ऐसा न होने पर हमको यत्र-तत्र बिखरे हुए

तत्सम्बन्धी अधूरे वाक्यों से एक पूर्ण वस्तु बनाने का प्रयत्न करना पड़ता है। उनकी सुगठित एवं सौन्दर्यमयी संगति को ही हम लेखकों के वास्तविक भाव का नाम देते हैं।

मित्र अथवा प्राण

अस्तु, मित्र और वरुण के वर्णन में प्रसङ्गतः कहा गया है कि "दोनों ही प्राण और उदान हैं" (प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ शत० का० ३ अ० ६ ब्रा० १ मं० १६) इसका स्पष्ट शब्दों में तात्पर्य यही है कि प्राणियों को प्राण-शक्ति देनेवाला उनके प्राण श्वास या प्रश्वास में जीवन शक्ति का संचार करनेवाला यही "मित्र" है। बिना इसके समस्त संसार के प्राणी जो किसी भी प्रकार से प्राण वायु को ग्रहण करते हैं अपने अस्तित्व को छोड़ देते। उनका जीवन इसी पर निर्भर है। अगाध उदधि के विस्तृत तल में निवास करने वाले, महानदों की तरंगों में सदैव तरङ्गित हृदय से विहार करने वाले असंख्य सुन्दर जीव इसी मित्र के प्रभाव से प्राण का आकर्षण करके अपनी क्षुद्र संसार-यात्रा को सुख या दुःख से व्यतीत कर रहे हैं। इसीलिए तो "जलने भी प्राण की महती उपाधि प्राप्त की है" (आपो वै प्राणः तस्मिन्नेतस्मिन्प्राणान्दधाति। शत० का० ३ अ० ८ ब्रा० ३ मं० ४)।

गोप्यतम स्थानों, अगम्य गिरि गुहाओं, उपत्यका, अधित्यका तथा शैल शिखरों पर शतशः वृक्ष, क्षुप, लता वनस्पति, गुल्म आदि से आवृत सघन अरण्यों का अवगाहन करने वाले मत्त-

गज, सिंह, व्याघ्र आदि भयावह पशु और चंचल एवं सुकुमार हरिण सभी इसी मित्र की महिमा से प्राण धारण कर रहे हैं और कहाँ तक कहें स्वयं हम भी मित्र के अनुगृहीत हैं और उसकी कृपा से भगवान् सदागति वायु से भी हम प्राण का ग्रहण करके उसे भी 'प्राण' नाम से सम्बोधित करते हैं (अयं वै प्राणो योऽयं पवते। शत० का० ५ अ० २ ब्रा० ३ मं० १०)। इतना विशेष घनिष्ठ एवं अनिवार्य सम्बन्ध होते हुए भी हमें यह कहते हुए कुछ संकोच प्रतीत होता है कि हम अपने इस 'मित्र' से परिचित नहीं हैं। परन्तु उपर्युक्त वाक्य के आधार पर हमें इतना तो ज्ञात ही हो जाता है कि जो कुछ भी हम प्राण का ग्रहण करते हैं, जिसको भी हम प्राण नाम से सम्बोधन करते हैं और अपने श्वास-प्रश्वास में से सदैव ग्रहण करते हैं वह यह 'मित्र' ही है। इसलिये रूप और विशेष भेद से न जानते हुए भी हम अपने उस अदृश्य प्राण को प्रेम से और अनिवार्य अगाध प्रेम से स्मरण करते हैं। भावुकता से और भक्ति मिश्रित भय से हम आज भी, इस नवीन सभ्यता के युग में भी, पाश्चात्य प्रकाश में भी जंगल निवासी ऋषियों की भाँति, प्राचीन भोले नागरिकों की भाँति श्रद्धा से नमस्कार करते हैं और अपने अन्तर हृदय (शरीर के समस्त भागों) को उसके जीवनमय आगमन से परि-पूत एवं कृतार्थ करने के लिये अपनी समस्त शक्तियों और उपायों से उसका आह्वान करते हैं और स्वतः ही "प्राणाय नमो यस्य

सर्व मिदं वशे" (अथर्व का० ११ सू० ४ मं० १) का मूल मन्त्र हृदय के अन्तर्तम में गूँज उठता है।

वरुण या जलों का स्वामी अथवा उदान

मित्र के विशेष परिचय के अनन्तर जब हम 'वरुण' तत्व का अन्वेषण करने के लिये प्रवृत्त होते हैं तो हमें विशेष इतस्ततः घूमने की आवश्यकता नहीं होती और हमें इन मित्र, वरुण के नाम निर्देश करने के अनन्तर ही वेद के उसी प्रकरण में वरुण के विषय में एक विशेष ज्ञान प्राप्त होता है। वहाँ पर वरुण को अत्यन्त सरल शब्दों में अभिधा शक्ति का ही आश्रय लेकर "जलों का स्वामी" स्वीकार किया है (वरुणोऽपांअधिपतिः स मावतु अथर्व० का० ५ सू० २४ मं० ४) जितना भी जल है वह इस वरुण के आधीन है। पावस काल में सान्द्र नील जलद से होने वाली वर्षा, मनोहारिणी झड़ियाँ और धूसर नील बादलों से पूर्ण आकाश सभी इसकी कृपा से लव मात्र में ही यह रूप धारण कर लेते हैं। संसार के वातावरण में उथल-पुथल मचाने वाले विचारशील वैज्ञानिक महोदय की महती रसायनशाला और बड़े-बड़े भिषग्वरों के यहाँ रक्खे हुए अम्ल (Acids) इसी वरुण की कृपा से वैज्ञानिक महोदय के साहाय्य के लिए निष्पन्न हो सके हैं। यही उसकी अपनी विशेषता है। एक और विशेषता है और वह है इसका उदान होना; हमारे शरीर के भीतर जितनी

भी सन्धियाँ हैं वहीं पर इन उदान देव का निवास है (उदानः सर्वसन्धिस्थः त्रिशिखि उप० मं० ८०)—इस शरीर संसार के समस्त मुख्य स्थान इसी के आधीन हैं। बिना इसकी कृपा से उठने की शक्ति का आविर्भाव हमारे शरीर में नहीं हो सकता। यही सन्धि रूप शक्ति के केन्द्रों में बैठ कर उन्हें संचालित करके देह का उन्नयन करता है। उदान शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इसी का द्योतक है। "उद्-ऊर्ध्वं नयतीति उदानः" (उन्नयनादुदानः। योग व्यास भाष्य सू० ३९ पाद २) (उन्नयनादूर्ध्वं नयनात्। वाचस्पति व्याख्या)—जो किसी वस्तु को ऊपर लेजावे उसे उदान कहते हैं।

वरुण या उदान के विषय में ऋषियों का आश्चर्यजनक परीक्षण

उदान के उपर्युक्त अर्थ की विशेषता को विचार और वाद की कोटि से निकाल कर भारतीय योगियों ने उसे अनुभवात्मक तथा निश्चित रूप देने का सहस्रशः वाणियों से प्रशंसा करने योग्य, अचिन्त्य कार्य करके महान् एवं सत्य स्वरूप उपस्थित कर दिया है। योग दर्शन में 'उदान जय' की एक आश्चर्यमयी विभूति का वर्णन है कि "जो योगी, जो क्रिया शील पुरुष उदान को जीत लेता है वह बिना किसी प्रकार के आश्रय के महान्

अर्णव पोत, नौका, डोंगी अथवा मोटर वोट आदि पर विना आरुढ़ हुए परमपिता परमात्मा के दिये हुए अपने अनुपम एवं अलभ्य इन दो पैरों के ऊपर ही चल कर सागर, नद, नदी और नाले विलकुल असङ्ग होकर स्थल के समान पार कर सकता है। बड़े-बड़े भीषण पङ्क-पूर्ण स्थलों में भी अपनी इसी विशेषता के कारण कीचड़ पर सानन्द तथा सरलता से स्वच्छस्थान की भाँति बच कर निकल सकता है। दुर्गम वनों के जटिल एवं कन्टकाकीर्ण स्थलों में भी वह बिना किसी प्रकार की क्षति के काँटों के ऊपर चल सकता है" (उदान जयाज्जलपङ्ककन्टकादिष्वसङ्गउत्क्रा-मन्तिश्च। योग विभूतिपाद सू० ३९) यह है उदान की उन्नयन तथा हल्का बनाने की शक्ति। यह है महर्षियों की निर्णीत सत्य बात का वास्तविक रूप। ये ऐसी सिद्धियाँ हैं जो कि जड़वाद के इस आधुनिक युग में कल्पना में भी नहीं आ सकतीं। विज्ञान के अपूर्व—जैसा कि कहा जाता है—अन्वेषण ऐसे अनुपम कृत्यों के आगे पानी भरते हैं।

मित्र और वरुण का सामान्य गुण

मित्र और वरुण की इन विशेषताओं के अतिरिक्त इनका एक सामान्य गुण और भी है और वह है उनकी वृष्टि का अधि-पति होना।

ब्राह्मणों की वैज्ञानिक आख्यायिका

यह है मित्र और वरुण की विशेषताएं जिनको हम छोटे-छोटे वाक्यों के संग्रह द्वारा जान सकते हैं। परन्तु साथ ही इसके हमें एक सम्पूर्ण प्रकरण ही इस प्रकार का उपलब्ध होता है जिसमें इन अपरिचित मित्र, वरुण की विशेषताओं का सम्मिलित रुप से विशिष्ट एवं हृदयग्राही वर्णन है।

शतपथ ब्राह्मण में एक आख्यायिका का वर्णन है। आख्यायिका वास्तव में बड़ी रोचक है। हमारी दृष्टि में वह विज्ञान के महान् सिद्धान्तों का सुन्दरतम वर्णन है। उसका प्रत्येक शब्द ऐसा पूर्ण एवं समुचित है कि हम आश्चर्य और श्रद्धा से विवश हो उसकी तरफ झुक पड़ते हैं। आख्यायिका इस प्रकार है :—

"यह प्रसिद्ध मित्र और वरुण वास्तव में ऋतु और दक्ष हैं। पूर्व इसके कि हम अपने वर्णनीय विषय का मुख्य और विशेष वर्णन करें, इस पर अध्यात्म दृष्टि से ही विचार करें। सब से पूर्व विचार होता है कि यह नवीन ऋतु और दक्ष क्या हैं ? तो कहते हैं कि यह जो हम अपने मन से काम करते हैं कि 'मुझे यह मिल जाये' मुझे ऐसा हो जावेगा, मैं ऐसा करूँ आदि विचार क्रतु कहलाते हैं। जो कुछ मनुष्य विचार के अनन्तर करता या पाता है वह 'दक्ष' शब्द से कहा जाता है।"

(ऋतु दक्षौ हवाऽस्य मित्रावरुणौ। एतन्व-ध्यात्म ध्वं सयदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षो, मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो)

श० का० ४ अ० १ ब्राह्मण ५

इस प्रकार क्रतु और दक्ष नाम से हमने आपके सामने दो बातें रक्खीं। एक किसी बात को विचारना या संकल्प करना और दूसरे उसको कार्य-रूप में परिणत करना। अब आइये इन्हीं दो कार्यों को अन्य स्थल पर घटावें। लोक में हम देखते हैं कि ब्राह्मण किसी बात का विचार करने वाला और समझने वाला होता है तथा क्षत्रिय उसको कार्य-रूप में परिणत करने वाला होता है। यहाँ पर भी हम उपर्युक्त दोनों बातों को अपने उसी रूप में देखते हैं। इसीलिये हम मित्र और वरुण की क्रतु और दक्ष के नाम के समान ही 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र' नाम दे सकते हैं। अर्थात् मित्र ब्रह्म है और वरुण क्षत्र है ?

(ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रिया॥)

दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि मित्र वरुण उपर्युक्त दो प्रकार की विशेष शक्तियों को रखने वाले दो पदार्थ हैं।

ऐसा सुनने में आता है कि ये दोनों ब्रह्म और क्षत्र अथवा मित्र और वरुण किसी प्राचीन काल में अलग-अलग थे, इनमें परस्पर मेल नहीं था, ये एकत्र नहीं रहते थे। ऐसी अवस्था में ब्रह्म अर्थात् मित्र में तो इतनी सामर्थ्य थी कि क्षत्र अर्थात् वरुण के बिना अपना कार्य करने में समर्थ हुआ और अकेला रहता रहा।

ते हैतेऽग्रे ननिवासतु। ब्रह्म च क्षत्रं च शशाकैव ब्रह्म मित्रं ऋते क्षत्राद्वरुणात्स्थातुम् ॥२॥

परन्तु विचारा वरुण मित्र के बिना नहीं रह सका क्योंकि मित्र की अनुपस्थिति में उसने जो कुछ कार्य किया वह मित्र या ब्रह्म के द्वारा विचारित नहीं था। इसीलिये हमारे वरुण महोदय का कार्य पूर्ण नहीं हो सका और वे उसका लाभ भी ग्रहण नहीं कर सके। अर्थात् वरुण के कार्य मित्र की सहायता पर निर्भर थे।

न क्षत्रं वरुणः। ऋते ब्रह्मणो मित्राद् यद्ध किंच वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समानृधे ॥३॥

अन्त में अपनी इस कमी को जानकर बेचारे वरुण ने ब्रह्म अर्थात् मित्र से आकर सलाह की और सन्धि का प्रस्ताव

उपस्थित करके कहा कि 'हे मित्र (ब्रह्म) तुम मेरा साथ दो। आओ, हम तुम दोनों मिलकर काम करें। मैं तुम्हें अपना अग्रणी और बड़ा मानूंगा और तुम्हारा विचारित कार्य ही करूँगा।

(स क्षत्रं वरुणः ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयांचक्रऽ उपमा वर्तस्व सथं सृजावहै प्रपुरस्त्वा करवै त्वत्प्रसूतं कर्म करव इति तथेति तौ समसृजेतां, तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् ॥४॥)

इस पर मित्र ने कहा कि तुम्हारा प्रस्ताव ठीक है और आगे से ऐसी ही होगा।' अब दोनों अलग-अलग नहीं रहे अपितु मिल गये और उन्हीं से इस मैत्रावरुण ग्रह अर्थात् मित्र और वरुण के संयोग से उत्पन्न होने वाले जल का निर्माण हुआ है।❋

इसके परिणाम स्वरूप हम कह सकते हैं कि मित्र अर्थात् ब्रह्म ही अग्रणी या नेता है। इस बात को हमें दूसरे रूप में लोक में भी समझना चाहिये। इससे शिक्षा मिलती है कि ब्राह्मण कभी भी क्षत्रिय के नेतृत्व की कामना न करे। दूसरे शब्दों में हम

❋(मैत्रा-वरुण विशेषण अन्य स्थलों पर भी जल के लिये मिलता है। "न वरुणं मैत्रा वरुणं ब्रह्मज्यभिवर्षति" अथर्व० का० ५ सू० १९ मं० १५)

यह कह सकते हैं कि कार्यों में विचारका नेतृत्व तथा प्राधान्य रखना चाहिए केवल कर्म का ही नहीं क्योंकि इस प्रकार बिना विचारे कार्य करने से अच्छाई और बुराई दोनों की ही सम्भावना रहती है इसके विपरीत क्षत्रिय को भी चाहिये कि ब्राह्मण को ही सब कुछ समझ कर कार्य्य न करे। क्यों कि विचार को ही सब कुछ बना देने से भी अच्छे, बुरे दोनों की ही आशंका है। इसलिये इन बातों को ही ध्यान में रख कर वरुण ने जो कुछ भी काम किया वह सब मित्र से मिल कर उसी की सलाह से किया और उसका कांम ऐसी अवस्था में सफल रहा।

(सोऽएव पुरोधा तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत सꣳ ह्येतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरो दधीत सं ह्येवेतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च स यत्ततो वरुणः कर्मचक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण सꣳ ह्यैवास्मै तदानृधे ॥८॥)

इस प्रकार इन दोनों शक्तियों के साहचर्य सिद्ध हो जाने पर वैज्ञानिक अन्वेषक मित्र और वरुण को अपने पास संग्रह करता है और दोनों के परिणाम स्वरूप परम लाभदायक सोम का निर्माण करता है और असन्दिग्ध भाव से कहता है कि यह जो

मैंने विश्व-विख्यात विज्ञान की रीति से मित्र वरुण के द्वारा सोम को बनाया है जो मेरे लिये कल्याणकारी है मेरे काम में आवे।

(अथा तो गृह्णात्येव अयं वां मित्रावरुणा सुता सोम ऋतावृधा। ममेदिह श्रुत थं हवम् ॥७॥)

अस्तु, यह तो हमें ज्ञात हो गया कि वैज्ञानिक महोदय ने मित्र वरुण का सम्मेल करके सोम का निर्माण किया है परन्तु वह सम्मेलन किस प्रकार से किया यह एक विशेष जिज्ञासा का विषय है। आइये, यह भी देख लीजिये कि, वैज्ञानिक महोदय ने अग्नि के संयोग से ही मित्र को जल के रूप में परिणत किया और इस प्रकार सोम नामधारी वृत्र (मेघ) की उत्पत्ति हुई। उस वृत्र पर अग्नि वायु आदि देवताओं ने प्रहार किया और वह अन्तरिक्ष से गिरने लगा ऐसे समय पर देवताओं ने सोचा कि इस सोमरूप सम्मेलन में से मित्र को अलग कर दें। वे मित्र से बोले कि तुम भी अलग होकर प्रहार करो; परन्तु मित्र इस विषय में सहमत नहीं हुआ।

(तं पयसाश्रोणाति तद्यत्पयसा श्रोणाति वृत्रो वै सोम आसीत् तं यत्र देव अघ्नंस्त मित्रमब्रुवं-स्त्वमपि हथ्सीति स न चकमे)

और बोला "मैं तो सबका ही मित्र हूँ। मैं उनका मित्र होकर उनका शत्रु नहीं बनूंगा।" देवताओं ने कहा कि 'अच्छी बात है, हम अभी तुम्हें बताते हैं। हम तुम्हें यज्ञ द्वारा उष्णिमा से बलात् अलग कर देंगे।

देवताओं के यज्ञ से विवश होकर वह उनसे मिल गया और बोला कि मैं भी प्रहार करता हूँ।

(सर्वस्य वाऽहं मित्रमस्मि न मित्रं सन्नमित्रो भविष्यामीति। तं वैत्वा यज्ञादन्तरेष्यामह इत्यह-मपि हन्मीति होवाच)

मित्र के इस चरित्र से समस्त जीवधारियों में असन्तोष फैल गया। उन्हें कष्ट हुआ और उसका साथ छोड़ते हुए बोले—'तुमने मित्र होते हुए विश्वासघात किया है। इस पर मित्र को कुछ पश्चात्ताप हुआ। उसने अपने पूर्व निश्चय को छोड़ कर जीवों का साथ देने का निश्चय किया। जीवों तथा मित्र के इस अविच्छेद्य साहचर्य को देखकर देवताओं ने उसको वरुण से सम्मेलन करके सोम (जल) रूप में उसको पशुओं की वृद्धि के लिये दिया।

(तस्मात्पशवोऽपाक्रामन्मित्र ७ं सन्निमत्रोऽभू-दिति। स पशुभि व्यर्ध्यत तमेतद्देवाः पशुभिः समार्धयन् यत्पयसाश्रींणस्तथोऽएवैनमेष एतत्पशुभिः

समर्धयति तत्पयसा श्रीणाति ॥८॥ तदाहुः शश्वद्धनैव चकमे हन्तुमिति तद्यदेवात्रपयस्तन्मित्रस्य सोम एव वरुणस्य तस्मात्पयसा श्रीणाति ॥९॥)

शतपथ का० ४ अ० १ ब्रा० ४

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि मित्र वरुण से अलग हुआ परन्तु सदा ही अलग नहीं रह सका। इसलिये जो हम यह सोम (जल) देखते हैं वह मित्र वरुण का सम्मिश्रण ही है।

आधुनिक विज्ञान में मित्र वरुण

यही हमारे मित्र, वरुण, का परिचय है जो प्राचीन ग्रन्थों के अवशिष्ट पत्रों में यत्र-तत्र छिपा हुआ है। यही है मित्र और वरुण के वर्णनों का अधूरा भाव जो ऋषियों के काल से इतने काल बाद हम उपलब्ध कर सकते हैं। बस, इसके अतिरिक्त इसकी तथ्यता को जानने के लिये हमारे पास एक मार्ग है और वह है अन्वेषण और परीक्षात्मक प्रयोग। परन्तु इस विषय में भारत की असमर्थता देखकर हमें निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह विज्ञान का युग है। अनेक क्रान्तिकारी आविष्कार और अन्वेषण किये जा चुके हैं और नित्य प्रति होते जा रहे हैं। इस प्रचलित विज्ञान की धारा में बहने वाला प्रत्येक

व्यक्ति अपने इस नवीन ज्ञान के परिचय से सगर्व सा प्रतीत होता है। अतः आइये, यदि हम स्वयं परीक्षणों में असमर्थ हैं तो पश्चात्य वैज्ञानिकों के ही परीक्षणों को देखें। सम्भव है कि हमारी वाञ्छित वस्तु इस अन्वेषण-राशि में कहीं छिपी हुई मिल जावे। इसी बात को लक्ष्य में रख कर हम इस वैज्ञानिक संसार में प्रवेश करते हैं।

यहाँ पर हमें इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। यह अन्वेषण इसी युग के हैं। यहाँ पर वे सब नियमित रूप से विभक्त हैं। हम केवल सूची मात्र देख कर ही उनमें से अपने अभिलषित पदार्थ को देख सकते हैं। परन्तु दुःख की बात है कि हम अपनी वाञ्छित वस्तु का आधुनिक नाम ही नहीं जानते अतः हमें यहाँ केवल साम्य लेकर ही प्रवृत्त होना पड़ता है। हमें इतना तो ज्ञात ही है कि "मित्र वरुण" वृष्टि के अधिपति हैं। वे ही वर्षा तत्व या वर्षा के जल का निर्माण करते हैं। इसलिये आइये, हम वर्तमान जल निर्माण की विधि का निरीक्षण करें।

मित्र वरुण कथा ओषजन एवं उद्रजन का अचिन्त्य साम्य

जब हम विज्ञान की पुस्तक उठाकर देखते हैं तो वहाँ पर जल निर्माण करने वाली दो गैसेज़ (वायव्य पदार्थों) के नाम हमें

मिलते हैं। आधुनिक विज्ञान का प्रत्येक छात्र इस बात को जानता है कि औक्सिजन (Oxygen) तथा हाइड्रोजन (Hydrogen) नामक गैसेज़ के सम्मिश्रण से जल प्रकट होता है। इस बात की तथ्यता जानने के लिये दो मार्ग हो सकते हैं। (१) एक तो पानी का विश्लेषण करके उसका निर्मापक पदार्थ देखा जावे (२) और दूसरे उन दोनों गैसेज़ को मिलाकर जल वनाया जावे। इन दोनों विधियों से यह सिद्ध हो चुका है कि जल इन्हीं दोनों गैसेज़ के मिश्रण का फल है। हमने देखा कि वैदिक वर्णन में दो ही पदार्थों, मित्र वरुण, के नाम वृष्टि के अधिपति रूप में गिनाये गये हैं। यहाँ पर भी हम दोही पदार्थ देखते हैं। इस अचिन्त्य समानता से हमारी इच्छा स्वतः ही उनके गुणों (Properties) को भी देखने के लिये उत्कट हो उठती है।

आक्सिजन या ओषजन

इस गैस में किसी प्रकार का रंग, गन्ध अथवा स्वाद नहीं होता। वायु की अपेक्षा कुछ यह भारी है। यह मनुष्य, जन्तु, पशु, वृक्ष, वनस्पति यहाँ तक कि समस्त जीव धारियों का प्राण है। जल में रहनेवाले प्राणी भी इसी की कृपा से जीवित हैं। क्योंकि यह पानी में घुलता है। मछली आदि जल जीव इसमें से इसका आकर्षण करके जीव धारण करते हैं। यदि हम किसी ऐसे पात्र में, जिसमें वायु न जा सके, जल भर कर मछली को

बन्द करदें तो वह कदापि जीवित नहीं रह सकती और थोड़े ही समय में मर जाती है। क्योंकि अब वायु के प्रवेश न होने से उसमें रहनेवाला औक्सिजन (Oxygen) जल में नहीं घुसता और जल में प्राण जिसकी मछली को आवश्यकता थी नहीं पहुँचा। दूसरी विशेषता इसमें यह है कि इसका मिलन शीलस्वभाव है। यह गैस बड़ा प्रणयी है। यह भ्रम प्लव आदि निकम्मी गैसेज के अतिरिक्त समस्त तत्वों से शीघ्र ही मैत्री स्थापित कर लेता है। अतः इसको प्राण और मित्र होने से आज कल की परिभाषा में हम इसे 'मित्र' की उपाधि से विभूषित करते हैं।

यह नाइट्रोजन (Nitrojen) नामक गैस से मिलकर वायु का निर्माण करता है। तथा हाइड्रोजन (Hydrogen) गैस से मिल कर जल का निर्माण करता हैं। यह अग्नि को भी पैदा करता है।

आक्सिजन नाम का अनौचित्य

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से वास्तव में इसका 'आक्सिजन' नाम समुचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि औक्सिस (Oxeys) शब्द का अर्थ है 'अम्ल' और जन (gen) शब्द का अर्थ है 'उत्पन्न करना' अर्थात् अम्लों का उत्पन्न करनेवाला। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पहले वैज्ञानिकों के विचार से प्रत्येक अम्ल में इसका होना आवश्यक था, परन्तु नवीन अन्वेषण से जाना

गया है कि यह बात आवश्यक नहीं है। अभिद्रव हरिकाम्ल (Hydrochloric acid) नामक अम्ल में उसकी उपलब्धि नहीं होती । इसके विपरीत प्रत्येक अम्ल में हाइड्रोजन (Hydrogen) का होना आवश्यक है। इसलिए इसका नागरी नाम 'ओषजन' विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है । क्योंकि यह उष्णता तथा अग्नि का जनक है।

उद्रजन या हाइड्रोजन

अभी तक उपलब्ध हुई समस्त गैसेज़ से यह गैस (Gas) हलकी है। इसमें भी किसी प्रकार का वर्ण, गन्ध अथवा स्वाद आदि कुछ भी नहीं है। इसका हल्कापन जानने के लिए एक पतले रबर के ब्लाडर (Bladder) जो बच्चों के खेलने के लिए बिकते हैं, में भरिये और उसका मुंह बन्द करके बन्द कमरे में छोड़ दीजिए। ब्लाडर देखते देखते छत तक ऊपर चढ़ जावेगा। यदि हम इसे खुली हवा में छोड़ दें तो यह इतना ऊँचा चढ़ जावेगा—कि थोड़ी देर में आँखों से भी ओझल हो जावेगा। यह इस गैस का हल्कापन या उन्नयन (ऊर्ध्वगमन) शक्ति है जो इसे ऊपर ले जा रही है। इसी ऊर्ध्वनयन शक्ति के आधार पर हम इसे संज्ञा शास्त्र के अनुसार 'उदान' नाम से सम्बोधित करते हैं।

समस्त वनस्पति और जीवों में यह गैस उपलब्ध होती है। सम्पूर्ण अम्लों (Acids) में इसका होना परमावश्यक है। विना इसके कोई अम्ल तैयार नहीं हो सकता। यद्यपि यह गैस विषैला नहीं होता तथापि जीवन की रक्षा करने में अशक्त है। जब फुफ्फुसों में हाइड्रोजन गैस भर जाता है तब कण्ठ से सूक्ष्म एवं अत्यन्त मधुर स्वर निकलता है। हाइड्रोजन का नाम भी इसकी विशेषता को ही ध्यान में रख कर रखा गया है। 'हाइडर' (Hyder) शब्द जर्मन भाषा का है, जिसका अर्थ जल है और जन (gen) धातु का अर्थ है "उत्पन्न करना"। अर्थात् 'जल का उत्पन्न करने वाला (वरुणोऽपामधिपतिः अथर्व० का ५ सू० २४ मं० ४) इसी के अनुसार इसे आर्य भाषा में 'अब्जन' या 'अभिद्रवजन' कहते हैं। ये ही साधारणतया वर्तमान् हाइड्रोजन (Hydrogen) के विशेष गुण हैं। यही नवीन विज्ञान शास्त्र की खोज है।

वर्तमान आक्सिजन और हाइड्रोजन मित्र वरुण ही हैं

अब हम पाठको से पूछते हैं कि प्राचीन साहित्य के जीर्ण शीर्ण पत्रों में छिपे हुए ये मित्र और वरुण क्या हैं ?

क्या उनके भी ऐसे ही गुण नहीं हैं जैसे कि ओषजन (Oxygen) और हाइड्रोजन (Hydrogen) के ? क्या अब हम पूर्ण निश्चय के साथ नहीं कह सकते कि ये वर्तमान ऑक्सिजन और हाइड्रोजन मित्र और वरुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनमें कोई ऐसी नवीनता नहीं है जो उपर्युक्त मित्र वरुण में नहीं। हाँ कुछ कमी अवश्य है।

ऋषियों का पूर्ण परिज्ञण

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हाइड्रोजन के विशेष गुणों का वर्णन आधुनिक वैज्ञानिकों ने बहुत सुन्दर एवं प्रशस्त रूप में किया है। परन्तु यह जान कर भी कि वह प्राणियों के शरीर में उपलब्ध होता है। उन्होंने यह ज्ञात नहीं किया कि हमारे शरीर के भीतर वह क्या कार्य सम्पादन करता है। उसका हमारे शरीर से क्या सम्बन्ध है। हमारा प्राचीन साहित्य इस बात पर विशेष प्रकाश डालता है। वह शरीर में रहने वाले उदान (वरुण) के आश्चर्य जनक कार्यों का अन्वेषण कर उनका प्रकाश करता है। उसमें बताया कि 'उदान हमारे शरीर की हस्त पादादि सभी सन्धियों में निवास करता है।"

(उदानः सर्व सन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि त्रिशिख ब्र० उप० मं ८०)

—और अपने नामानुरूप इस शरीर का उन्नयन अथवा उत्थापन करता है। संधि ही ऐसा स्थल है जहाँ से समस्त शरीर

का नियमन किया जा सकता है। उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभ स्वता. (त्रि० ब्रा० उप० म० ८४)

—इसके अतिरिक्त उदान का मुख्य स्थान कण्ठ को स्वीकार किया गया है।

उदानः कण्ठमध्यगः योगचूड़ामणि उप० मं० २४।

—यह उदान अथवा वर्तमान हाइड्रोजन तथा वरुण जिसके विषय में आपने नवीन विज्ञान में पढ़ा कि वह फेफड़ों में भर जाने पर मधुर स्वर का प्रकाश करता है। उसको प्राचीन शास्त्रों ने कण्ठ में मुख्य रूप से स्थित बताया है। और कहा कि यह हमारे स्वरोंच्चारण में सहायता देता है।

ब्राह्मणों की आख्यायिका का सौन्दर्य

और भी देखिये, उपर्युक्त आख्यायिका का कैसा सुन्दर वर्णन है। मित्र और वरुण दो शक्तियाँ हैं। दोनों आवश्यक और महान् हैं। परन्तु मित्र (Oxygen) में यह सामर्थ्य है कि वरुण (Hydrogen) के बिना रह सके और सफल हो सके क्योंकि यही तो वह गैस है जो हाइड्रोजन की सहायता के बिना नाइट्रोजन के साथ मिल कर वायु जैसे महान् पदार्थ का निर्माण करके अपनी शक्ति का साफल्य दिखाता है। परन्तु वरुण (Hydrogen) में यह सामर्थ्य नहीं कि वह अलग रह सके क्योंकि जल का निर्माण करते समय उसे अपने कार्य की सफलता

के लिए मित्र (Oxygen) के पास जाना पड़ता है। आख्यायिका में मित्र वरुण की सन्धि और सहयोग की प्रतिज्ञा इसी बात को सुन्दरतम अलंकार के रूप में दिखाती है और उसका परिणाम "मैत्रावरुण जल" होता है। यही वरुण की सफलता है। बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। वैज्ञानिक ऋषि इन दोनों का संग्रह करता है और उनसे सोम का निर्माण करता है। निर्माण भी किसी दूसरी रीति से नहीं अपितु ठीक ऐसे ही जैसे आधुनिक वैज्ञानिक अग्नि के द्वारा दोनों गैसेज का सम्मिश्रण करते हैं। ब्राह्मण में मूल वर्णन में इसके लिए श्रीणाति पद का प्रयोग है। इस शब्द का मूल 'श्रीञ्' धातु है, जिसका अर्थ पकाना है। आधुनिक वैज्ञानिक इन दोनों का सम्मिश्रण वरुण या हाइड्रोजन को मित्र या ऑक्सिजन में मिला कर करते हैं। कह नहीं सकते कि उस प्राचीन काल में इस पाक या "श्रीणन्" की क्या विधि थी। इसके आगे आख्यायिका का वर्णन और भी विस्पष्ट और सुन्दर हो जाता है। सोम, मित्र और वरुण का परिणाम; सोम देवताओं (वायु, अग्नि आदि) के प्रहार के कारण पृथ्वी पर गिरता है। ऐसे समय मित्र जो कि सब का प्राण है, जिसके कारण वरुण, जल निर्माण करने में समर्थ हुआ उसको पृथक् करने का प्रयत्न किया गया; परन्तु ऐसा कब सम्भव था। उसे तो अपनी प्रतिज्ञानुसार वरुण का साथ देना था और अपने मित्र नाम को चरितार्थ करना था।
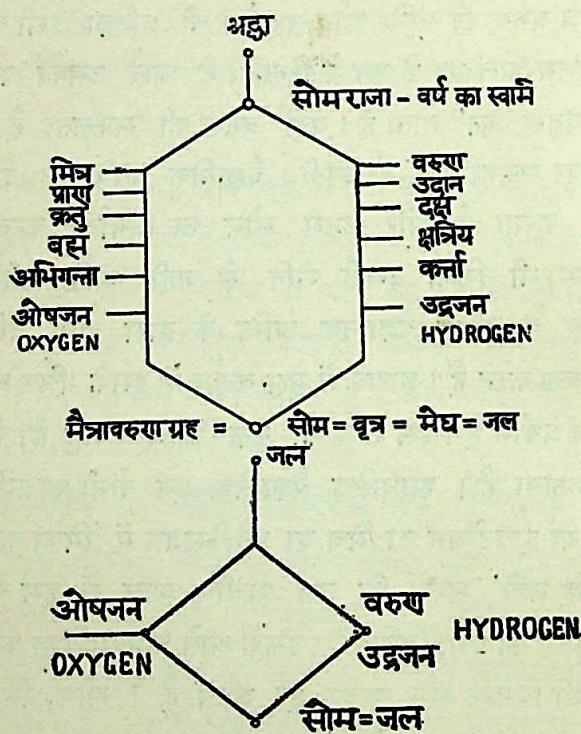
चित्र सं० १ में यह दिखाया गया है कि प्रकृत प्रकरण में सोम को दो भागों में बाँट कर किस प्रकार दोनों शक्तियों को उनके गुण साम्य से कितने नाम दिये गये हैं और उनका सम्मेलन फिर कितने नामों से सम्बुद्ध होता है।

चित्र सं० २ में बताया गया है कि जल २ गैसों से बनता है। जिनमें 'वरुण' या Hydrogen अकेला कोई कार्य करने में असमर्थ है और आक्सीजन अलग नाइट्रोजन से मिलकर वायु का निर्माण भी कर सकता है इसलिये वह स्वतन्त्र है और उद्रजन परतन्त्र है।

परन्तु इस विज्ञान को अधिक स्पष्ट करने के लिये ऋषि अपने अलंकार को और आगे बढ़ाता है और मित्र को यज्ञ के द्वारा बलात् अलग कर लिया जाता है। यह यज्ञ क्या था? हम इसका निर्णय नहीं कर सकते। परन्तु फिर भी इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि यह कोई ऐसी विधि थी जिससे सोम रूप में मिश्रित मित्र वरुण को पृथक् किया जा सकता था। और यह भी कह सकते हैं कि वह विधि बिना अग्नि के सम्पन्न नहीं हो सकती थी जैसा कि यज्ञ का साधारण प्रयोग ही बताता है। इतना ही नहीं, इस अनिश्चित आपत्ति से जीव-धारियों को महान् कष्ट होता है। उन्हें जल नहीं मिलता है। वे मित्र को दोष देते हैं। उसे विश्वास-घातक कहते हैं। इस पर मित्र को अपने कर्तव्य का ध्यान आता है। देवता भी दया करके फिर दोनों शक्तियों का सम्मेलन कर देते हैं। जल सुलभ हो जाता है। समस्त जीवित संसार आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। नव स्नाता प्रकृति अपने सौन्दर्य से पूर्ण हो एक बार फिर अपने विश्व विमोहनरूप की झाँकी देती है। आह, तब निर्बल सौन्दर्योपासक मानव हृदय

इसी संसार में अपने आपको भुला देता है। तन्मय हो जाता है। तब उसकी आँखें सौन्दर्य का, विश्व सौन्दर्य के वास्तविक रूप की आभा का, अनुभव करती हैं।

कौन ऐसा व्यक्ति है जो वेद और ब्राह्मण के इन विस्पष्ट वैज्ञानिक तत्वों को देखकर भी उनके भौतिक विज्ञान की पराकाष्ठा में संशय करे। कौन ऐसा भावुक है जो भक्ति और भावना की शीतल एवं शुभ तरङ्गों में सप्तवर्ण मुक्ताओं की भाँति गुंथे हुए इन विज्ञानमय अक्षरों को आध्यात्मिक और भौतिक के, अन्तर और वाह्य के, इस अपूर्व अद्वैत को देखकर प्रणय से, श्रद्धा से अपना मस्तक न झुका दे ?

मित्र वरुण और सोम का भेद

अस्तु, प्रकरण प्राप्त मित्र के वास्तविक रूप के अन्वेषण में यद्यपि हम बहुत दूर निकल आए हैं तथापि अब हमारा प्रश्न बहुत सरल एवं सुगम होगया है। सबसे प्रथम हम सोम और मित्र वरुण के वाक्य विरोध में थे कि यह केवल असत्य का ही प्रपञ्च न हो; परन्तु हम देखते हैं कि इन दोनों में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। वे विज्ञान के महान् सिद्धान्त के एक परीक्षण के भिन्न दशा बोधक दो सुन्दर स्वरूप हैं। आख्यायिका के परिणाम को ध्यान में रखते हुए हम असन्दिग्ध भाव से कह सकते हैं कि मित्र वरुण सोम के सम्पादक हैं। सोम की निष्पत्ति उन दोनों

के संयोग के विना नहीं हो सकती और सोम उनका परिणाम तथा जल का अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप है। यह है मित्र वरुण और सोम का भेद।

यद्यपि ऐसे ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों का अन्वेषण करना बड़ी खोज और यश की बात समझी जाती है, परन्तु फिर भी इनके वास्तविक अर्थ को खोज निकालने का कोई महत्व दृष्टि गोचर नहीं होता। अभी तक इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया है। किसी का ऐसा विचार ही नहीं है कि इनमें कुछ ऐसा वैज्ञानिक स्वरूप भी हो सकता है। वे केवल पुराने वैदिक साहित्य के जटिल कर्मकाण्ड मात्र ही समझे जाते हैं। हमें भय है कि हमारे बहुत से पाठक भी नवीन प्रवाह में बह कर तथ्यार्थ का निर्णय करने से पूर्व ही हमारे उपर्युक्त विवरणों एवं अर्थों को भी खींच-तान न समझ लें।

वर्तमान विज्ञान का भविष्य चित्र और उसकी ध्वनि

आज ब्राह्मण कालीन सभ्यता एवं विज्ञान का लोप हो चुका है। उस समय के ग्रन्थों को उचित रीति से समझने के लिये हमारे पास कोई विशेष साधन नहीं है। हम उन्हें समझते नहीं। ऐसी अवस्था में वह हमारे लिये नितान्त व्यर्थ एवं अनावश्यक

प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि लोक उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने के लिये उद्यत हो जाता है। इसी प्रकार जिस काल में इस वर्त्तमान सभ्यता और विज्ञान का ह्रास हो जायगा—जैसा कि होना निश्चित है उस समय तत्कालीन विद्वानों एवं सन्तानों के लिये वर्त्तमान संसार के अपरिचित अन्वेषण व्यर्थ एवं उपहास-मात्र रह जायंगे।

उस समय बड़े-बड़े ग्रन्थों में लिखे हुए ये बड़े-बड़े आविष्कार ध्यान देने योग्य वस्तु नहीं रहेंगे। उस समय वर्त्तमान रसायन शक्तियों का H संकेत Hydrogen का द्योतक न होगा और न Ce क्लोरिक बतायगा। तथा इनका सम्मिलित रूप Hcl हाइड्रोक्लोरिक Hydro Cloric acid का ज्ञापक न हो सकेगा। इसी प्रकार हमारे वर्त्तमान Na Ho आदि विविध चिह्न सोडियम हाइड्रो आक्साइड् आदि अर्थों को न बता सकेंगे। वे होंगे केवल टेढ़ी-मेढ़ी लकीर या चील बिलौआ। इसी प्रकार आरगैनिक केमिस्ट्री (Organic Chemistry) जिसमें कि मुख्यतत्त्व कार्बन के अतिरिक्त Hydrogen Nitrogen Oxygen इत्यादि दो चार मूलतत्त्वों से निर्मित विविध फ़ारमूले हैं उसे तो समझना और भी टेढ़ी खीर होगी। अधिक क्या आप ही बताइये कि निम्नलिखित चित्रों से क्या समझें? वे क्या बला हैं? उस समय इन्हें कपूर, गन्ने की शक्कर या पिपरमेन्ट कोई न समझेगा। तब ही क्या, अब भी इस विज्ञान से अपरिचित सज्जनों के लिये इसका

क्या मूल्य है ? इसके अतिरिक्त प्रो. रांजेन का XRays और मैडम क्यूरी सेवरस का रेडियम तथा उसके सिद्धान्त, फ्रैंकलिन, कावेंडिस् आंपेयार, फैराडे, कैलविन तथा क्लार्क मैक्सवेल के विद्युत् विषयक विविध निर्णय और ये वर्त्तमान विद्युत् तरङ्गों Electrons के सिद्धान्त सभी भूत की भावना में लीन हो जायंगे। इनका गूढ़ ध्वंसावशेष तत्कालीन वैज्ञानिकों एवं अन्वपेक्षों की प्रतिष्ठा तथा अन्वेषण की उत्तम सामग्री के रूप में रहेगा। फिर भी वे इनके तत्त्व को वास्तविक रूप को कहाँ तक पहिचान सकेंगे। यह स्वयं विज्ञपाठक निश्चय कर सकते हैं। यदि अधिक हुआ और कालदेव जी की कृपा से वर्त्तमान वर्णमाला उस समय भी पहिचानी जा सकी तो हमारे ये आविष्कार एक सीढ़ी और लिखित संकेताक्षरों (H आदि के द्योतक हो सकेंगे)। जो कि निस्सन्देह व्यर्थ एवं उन्मत्त-प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ न माने जा सकेंगे।

वे विद्वान् जो अपने भावों को उन्नति देकर अपने जीवन के अमूल्य समय की आहुति देकर इनके अन्वेषण तथा उद्धार करने का यत्न करेंगे वे अवश्य अन्ध विश्वासी एवं पागल की उपाधि से विभूषित किये जावेंगे और उनके निर्णय उस समय के शिक्षित एवं नवयुवकों की भाषा में होंगे खींचतान। इतना होते हुए भी यदि इनका पुनरुद्धार हो सकेगा तो निस्सन्देह यह उस समय के लिये भी अत्यन्त उपयोगी तथा आश्चर्य की सामग्री होंगे।

ठीक इसी चित्र को प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण करते हुए भी ध्यान में रखना चाहिये। उस समय का लुप्त हुआ

$C_{10}H_{16}O$ $C_{12}H_{22}O_{11}$ $C_{10}H_{19}(OH)$
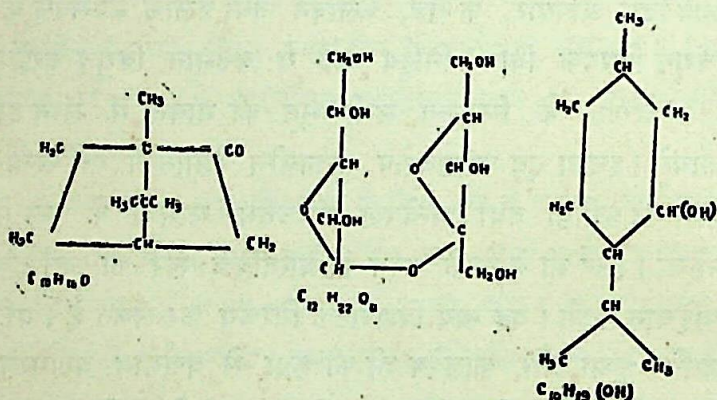
विज्ञान यदि पुनः प्रकाशित हो सके तो अवश्य ही वर्त्तमान सन्तति के लिये यह हर्ष एवं आश्चर्य की सामग्री होगी। हमारी बहुत सी समस्याएं उसके द्वारा सुलभ हो सकेंगी।

ओ३म्

वैदिक-ऋषि

लेखक

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

—नम्र निवेदन—

'वैदिक-ऋषि' नामक निबन्ध में केवल उन्हीं ऋषियों के संबन्ध में क्षुद्र विवेचना सी है, जिनके महनीय नाम मन्त्रशीर्ष में दिये हुए हैं। अग्नि, वायु आदि वेद प्रापक ऋषियों के संबन्ध में यहाँ कोई विचार नहीं किया गया। निबन्ध में देवतादिविषय अप्रासंगिक विषयों को भी नहीं छुआ गया। लेखक का यत्न रहा है, कि प्रकृत विषय से लेश मात्र भी बाहर न जाए।

—वेद

प्रत्येक वेद मन्त्र का कोई न कोई ऋषि होता है उसके संबन्ध में कुछ विचार करने का दुःसाहस करने लगा हूँ। महनीय विद्वान् उसमें की त्रुटियों तथा दोषों का परिहार तथा मार्जन करके इस अज्ञजनको बोध प्रदान करने की कृपा करें। पुराने लोग तो ऋषिज्ञान के बिना वेदाध्ययन को कुफल जनक मानते हैं। कात्यायन की ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी के आरंभ में ही लिखा है—

मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेय छन्दो दैवतविद् या जमा-ध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति। एताभ्यामेवानेवं-विदो यातयामानि छन्दांसि भवन्ति। स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवतीति विज्ञायते ॥१॥

यजुर्वेद के सर्वानुक्रम में लिखा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीते, ऽनुब्रूते, जयति, जुहोति, यजते, याजयते; तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति; अथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते, स्थाणुं वर्च्छति, प्रमीयते वा, पापीयान् भवति। अथ विज्ञायैतानि योऽधीते, तस्य वोर्यवद्, अथ यो अर्थवित्, तस्यवीर्य्य वत्तरं भवति, जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते ॥१॥

अर्थात्—जो मन्त्रों के ऋषि-देवता, छन्द को जानकर अध्यापन, याजन करता है, वह कल्याणभाजन है। जो इनको बिना जाने यज्ञादि करता-कराता है, वह गढ़े में गिरता है, मर जाता है, पापी होता है, क्योंकि उसके मन्त्र यातयाम-वासी होते हैं।

यही यजुरनुक्रमणी के शब्दों का भाव है। इससे मिलते जुलते भाव अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। विस्तारभय से उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं किया।

आश्चर्य है, कि अथर्व वेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका में यह माहात्म्य नहीं मिलता।

हम चाहे ऋषिज्ञान को इतना महत्त्व दें या न दें, किन्तु यह प्रश्न स्वाभाविक ही पैदा होता है कि ऋषि, क्या पदार्थ है। पाश्चात्य वेदाभ्यासी पण्डितवर्ग तथा उनके पदचिह्नों पर चलने वाले भारतीय विपश्चित् कहते हैं—'मन्त्रों के प्रणेता को ऋषि कहते हैं।' अपने पक्ष में वे कई प्रमाण भी देते हैं, जैसे—

यस्य वाक्यं स ऋषि (कात्यायन की ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी २।४)

अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभिरुपाधावन् ॥२।७

यत्काम ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा वा भवति, यस्यां देवतायमार्थपत्यमिच्छता स्तुतिः प्रयुज्यते

(अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका १)

श्रीयास्काचार्य्य जी ने भी ऐसा ही एक वाक्य लिखा है—

'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते ॥७।१।

बृहद्देवताकार का भी ऐसा वचन है—

'अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या ......॥१।६॥

इन सब का उनके मत से निष्कृष्ट अर्थ इस प्रकार है— जिसका वाक्य है, वह ऋषि है, अर्थ की कामना से ऋषि ने जिस जिस देवता से कहा—'ऐसा होजाए। इस प्रकार से ऋषि अर्थाभिलाषी होकर स्तुति करते हैं।

तात्पर्य्य यह—कि ऐहिक अथवा आमुष्मिक पदार्थ की अभिलाषा से जिसने किसी देवता से कोई प्रार्थनादि की, वे ऋषि हैं।

अगर कोई इन महाविद्वानों पर आक्षेप करे कि 'स्तुतिः प्रयुज्यते' तथा 'स्तुतिं प्रयुंक्ते' आदि वाक्यों से ऐसी ध्वनि निकलती है, कि तत्तत्स्तुति प्रयोक्ता से पूर्व स्तुति-वाक्यों की विद्यमानता की झलक आती है, तो वे अपने पक्ष की पुष्टि के लिए इससे प्रबलतर एवं स्पष्टतर प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् ते ऋषयोऽभवन्, तदृषीणामृषित्वम् ॥

(तैत्तिरीयारण्यक २।९)

तपस्या करते हुए जिन महानुभावों को स्वयंभु ब्रह्म का प्रतिभान हुआ, वे ऋषि हुए, यही ऋषियों का ऋषित्व है।

इस पर यदि कोई कहे, कि यह तो वेदार्थज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है, तो सब से प्रवलतम और अकाट्य प्रमाण वे उपस्थित करते हैं। यास्क महाराज ने निरुक्त में (१।२०) में कहा है—

साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्म्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि ॥"

इस सन्दर्भ से ऋषियों की दो श्रेणियाँ बताई जाती हैं— [१] साक्षात्कृतधर्म्मा, जिन्होंने असाक्षात्कृत धर्म्मा अवर ऋषियों को उपदेश से मन्त्र दिए [२] असाक्षात्कृतधर्म्मा-जिन्होंने आगे आने वालों पर कृपा दृष्टि करके निघण्टु, वेद और वेदाङ्गों का सामाम्नान किया। इन्हीं को [१] साक्षात्यकृतधर्म्मा महर्षि

तथा [२] असाक्षात्कृत धर्म्मा-श्रुतर्षि भी कहते हैं। जैसा कि श्रीदुर्गाचार्य्यजी अपनी निरुक्त वृत्ति की भूमिका में लिखते हैं—

सा च पुनरियं साक्षात्कृतधर्म्मभ्यो महर्षिभ्य उपदेशेने मन्त्रार्थमुपश्रुत्य श्रुतर्षिभिरवरशक्ति दौर्बल्यमवेक्ष्य तदनुजिघृक्षया वाच्यार्थसामर्थ्यादभिधेयानुन्नीय मन्त्रार्थावबोधाय छन्दोभ्यः समाहृत्य-समाहृत्य समाम्नाताः ॥

इस पर वादी का वक्तव्य है कि साक्षात्कृत धर्म्मा महर्षियों के संबन्ध में इतना ही कहा, 'तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्राढुः' [उन्होंने असाक्षात्कृतधर्म्मा अवर पुरुष ऋषियों ? को मन्त्र दिए] 'मन्त्रान् प्रणिन्युः, या चक्रुः' तो नहीं कहा। साक्षात्कृतधर्म्मा उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान करते हैं, 'अवर' निघण्टु, वेद और वेदाङ्ग का समाम्नान-अभ्यास करते हैं। 'समाम्नासिषुः' पद ध्यान देने योग्य है। संप्रदीयमान वस्तु का संप्रदानकाल से पूर्व विद्यमान होना अनिवार्य्य है।

यह सुन कर पूर्व पक्षी वज्र समान प्रमाण उपस्थित करता है। ऐतरेय ब्राह्मण में २६ अध्याय के आरम्भ में ग्रावस्तुत् नाम ऋत्विक् के कर्त्तव्यविधान प्रसंग में एक उपाख्यान है। उस उपाख्यान में यह वाक्य है।

देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः, ते ह पाप्मानंनापज घ्निरे, तान्होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्,

इस सन्दर्भ में 'अर्बुद काद्रवेय सर्प' को स्पष्ट मन्त्रकृत्, ऋषि कहा है। और ये महानुभाव ऋ० १०।९४ के ऋषि हैं। सर्वानुक्रमणिका में 'सर्पोऽर्बुदः काद्रवेयो ग्रा०णोऽस्तौत्' इनके सम्बन्ध में है। और ऐतरेय ब्राह्मण में भी 'ग्राष्णोऽभिष्टौति' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि १०।९४ का जो ऋषि है, वही ऐतरेय ब्राह्मण में उपवर्णित है, और ऐतरेय ब्राह्मण में उसे 'ऋषिर्मन्त्रकृत' कहा है। अतः 'ऋषि' शब्द का अर्थ मन्त्रकृत्=मन्त्रकार=मन्त्र बनानेवाले (Composer of mantra) ही है। और कोई अर्थ नहीं हो सकता।

महा भाष्यकार पतञ्जली मुनि भी "धातोः कर्मणः समन-कार्तिकादिच्छायां वा" (पा० ३।१।७) की "सर्वस्यावाचेतना वत्वात्।" वार्तिक का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं:—

'ऋषिः पठति-शृणोति ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१)

इस पर वादी कहता है "शृणोत ग्रावाणः" के सम्बन्ध में पतंजलिमुनि का 'ऋषिःपठति' वाक्य सोलहों आने ठीक है। क्योंकि यह तो है ही ऋषि वाक्य, यह वेदमन्त्र नहीं, यह तो तैत्तिरीयसंहिता, तथा उसकी बिरादरी मैत्रायनी एवं काठक

संहिताओं का वचन है। ऋगादि वेदचतुष्टय में यह वाक्य नहीं। हाँ ऐतरेय ब्राह्मण अवश्य मन्त्रकृत पद है, किन्तु उससे क्या हुआ, वेद में तो नहीं ना। इस पर प्रतिपक्षी कहता है। वेद में भी मन्त्रकृत् शब्द है, देखिए—

ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपो ह्वर्धयन् गिरः"

ऋ ९।११४।२

'यहाँ स्पष्ट 'मन्त्रकृतां' पद है।

यहाँ से भाव लेकर कल्पकार ऋषियों ने जी खोल कर 'मन्त्राकृत' पद का प्रयोग किया है। मानव गृह्यसूत्र में दक्षिणत उदङ्मुखो-मन्त्राकारः (१। ८। २) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में 'यर्थार्षमन्त्रांवृणीते, इस ब्राह्मण वचन के आधार से 'मन्त्राकृतो वृणीते' २४।५।६ प्रयोग किया है। अन्य श्रौत गृह्य सूत्रों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इस शब्द की भरमार सी है। लौकिक साहित्य में भी यह शब्द इसी अर्थ में मिलता है। राजा दिलीप गुरु वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचते हैं। वसिष्ठजी राजा से कुशल अनामय आदि पूछते हैं। राजा उत्तर में कहते हैं।

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्संशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्ट लक्ष्य भिदः शराः॥

रघुवंश १।६१

यहां भी वसिष्ठजी को मंन्त्रकृत् कहा गया है। इतने प्रमाणों के होते हुए ऋषि शब्द अर्थ का मन्त्रकार, Maker of the Mantras न मानना हठ और दुराग्रह नहीं तो और क्या है। कहीं आप 'मन्त्रकृत' पद का कोई और अर्थ करना चाहें, तो वैसा करने से पहले आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के 'विज्ञायते च—ऋषेर्ऋषेर्वा एता निर्मिताः यत्सामिधेन्य.'। (२४। ११। १०) इस वचन को अवश्य देख लीजिएगा। क्योंकि यह सामिधेनी ऋचाओं को ऋषि निर्मित बताता है। और ऋग्वेद मं ३। २७ की ऋचाओं को सामिधेनी कहते हैं।

इस पर वादी का नम्र निवेदन है, कि आपाततः यह प्रमाण सचमुच अति प्रबल एवं अकाट्य प्रतीत होते हैं। किन्तु कल्पसूत्रों में प्रयुक्त 'मन्त्रकृत्' पद आप के अभीष्ट का साधक नहीं है। क्योंकि यज्ञ में ऋत्विग्वरण के प्रकरण में 'मन्त्रकार' या 'मन्त्रकृत्' के वरण का इन सूत्रों में विधान है। जब आप के कथनानुसार ऋग्वेदादि का संकलन एवं संग्रन्थन हो चुका था, तब तो मन्त्रकार या मन्त्रकृत् ऋषि मिल ही न सकते थे, जैसे कि आज कल, तब कैसे निर्वाह होता था। जो याज्ञिक प्रणीता के ज़रा से इधर उधर हो जाने पर प्रायश्चित्तीयेष्टि किए बिना आगे की क्रिया नहीं करते कराते थे, वे 'मन्त्रकार' या 'मन्त्रकृत्' ऋत्विक के जिसके आश्रय से यज्ञ की सफलता निर्भर है, अभाव में कैसे कार्य्य करते होंगे। आप लोगों के सिद्धान्तानुसार

मन्त्रकाल से बहुत पीछे सूत्रकाल आया।......Composition of Sutra works presupposes the existence of a Brahmana literature that the Bramhana literature again is only possible with the presuppos-ission of a Mantra literature;—"Maxmuller's History of Ancient Sanskrit Literature P. 36" तो स्पष्ट है, कि सूत्र काल में 'मन्त्राकृत्' या 'मन्त्रकार' शब्द अवश्य ही आपाततः प्रतीयमान अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता होगा। इसके लिए हमें इधर उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। सूत्र ग्रन्थों में ही हमें ऐसे प्रयोग मिल जाते हैं, जो इस गड़बड़ को साफ़ कर देते हैं—जैसा कि खादिरगृह्यसूत्र २। ४ १० में वाक्य आता है।

"दक्षिणतस्तिष्ठन् मन्त्रवान ब्राह्मण आचार्य्योयोदकाञ्जलिं पूरयेत"

यहाँ 'मन्त्रकार' का प्रयोग न करके 'मन्त्रवान्' का व्यवहार किया है। मानवगृह्यसूत्र का पूर्वोक्त वचन विवाह प्रकरण का है, और खादिर का उपनयन प्रकरण का। खादिर में विवाह प्रकरण में

"ब्राम्हणः सहोदकुम्भः प्रावृतोवाग्यतोऽग्रेणाग्निं गत्वादेङ्मुखस्तिष्ठेत्" (१। ३। ५)

वाक्य आया है, यहां ब्राह्मण' पद का प्रयोग किया है, इससे

प्रतीत होता है मन्त्रकार या मन्त्रकृत् , मन्त्रवान् तथा ब्राह्मण पर्य्याय शब्द हैं, अर्थात् मन्त्रकार का अर्थ मन्त्र जाननेवाले ब्राह्मण हैं। न कि मन्त्र बनानेवाला । जब 'मन्त्रकार' का यह अर्थ निश्चित हो गया, तो ऋग्वेद में आए हुए 'मन्त्रकृत्' शब्द का भी यही अर्थ है, अन्य नहीं। और यह भी कोई नियम नहीं,कि 'कृ' धातु का एकान्ततः अपूर्वोत्पादन ही अर्थ हो, पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी के 'भूवादयो धातवः १।३।१ सूत्र पर 'क्रिया विशेषक उपसर्गः, पर विचार करते महाभाष्यकार मुनि पतञ्जलि कहते हैं।

करोतिरभूत प्रादुर्भावे दृष्टो निर्मली करणे चापि वर्तते–पृष्ठंकुरु, पादौ कुरु; उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्त्तते–कटेकुरु, घटेकुरु; स्थापयेति गम्यते।''

'कृ' धातु के अपूर्वोत्पत्ति, शुद्ध करना, स्थापन करना अर्थ यहाँ कहे गए हैं। उपसर्ग सम्बन्ध से अन्य अनेक अर्थ होते हैं, उनकी यहाँ चर्चा नहीं की।

जैसे सुवर्णकार, लोहकार, चर्म्मकार आदि शब्दों में 'कृ' का 'अपूर्वोत्पत्ति' अर्थ प्रतिपक्षी को भी अभिप्रेत नहीं, जो अर्थ वह मन्त्रकार शब्द में करना चाहता है।' इस वास्ते यह प्रतिवादी का कर्त्तव्य है, कि वह यह सिद्ध करे कि मन्त्रकार' में प्रयुक्त 'कृ' धातु

का अर्थ 'कुम्भकार' में प्रयुक्त 'कृ' धातु का सा है, और चर्मकार प्रभृति जैसा नहीं। हम तो यज्ञ कृत्य सम्बन्धी अनुपपत्ति ऊपर दिखा चुके हैं। इस वास्ते मध्यमपद लोपमान मान कर मन्त्र पाठकार तथा मन्त्रार्थकार अर्थ मानना युक्ति संगत है।

यदि प्रतिपक्षी को 'कृ' धातु के 'अपूर्वोत्पादन' अर्थ में विशेष आग्रह है, तो फिर हम कहेंगे, कि मन्त्र शब्द का भी धात्वर्थ ही लीजिए। "मत्रि, गुप्तपरिभाषणे" धातु से मन्त्र शब्द बनता है। इससे मन्त्र शब्द का वाच्य हुआ गुप्त विचार। राज मन्त्री आदि शब्दों में मन्त्र शब्द का यही अभिधेय विवक्षित है। यदि कहो, कि 'कृ' का रूढ़ अर्थ है, तो बताओ, सुवर्णकार आदि शब्दों की क्या गति होगी। इस प्रकार जैसे-जैसे विचारते हैं, प्रतिपक्षी का पक्ष युक्ति के सामने ठहरता नहीं।

एक बात और, प्रतिपक्षी का मत है, यजुर्वेदादि का संग्रन्थन ऋग्वेद से बहुत पीछे हुआ और कि ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र ही अन्य वेदों में डाल दिए गए। आर्य्यों पर जालसाजी का यह दोष यद्यपि मिथ्या और अश्लाघ्य एवं प्रतिपक्षी की विचित्र मनोवृत्ति का परिचायक है। प्रतिपक्षी बहुत विचित्र प्रकृति के प्रतीत होते हैं, इनमें से एक ने एक समय उचरा था, कि आर्य्यावर्तीय ब्राह्मणों ने संस्कृत-भाषा गढ़ ली, एक ने बिना पढ़े ही संस्कृत भाषा को Rubbish से भरपूर बताया था। ऐसे महापुरुषों की तो बात ही ध्यान देने योग्य नहीं, किन्तु फिर भी

इनके सन्तोष के लिए हम इनकी सेवा में एक और युक्ति रखना चाहते हैं। इनका सब से प्रबल प्रमाण जिस पर इनकी सारी युक्ति परम्परा का निर्भर है, वह है "यस्य वाक्यं स ऋषिः" (ऋग्वेदीय सर्वानु०)। किन्तु ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जो ऋग्य-जुरादि वेदों में समान रूप से पाये जाते हैं, किन्तु उनका ऋषि भिन्न है। बहुत से ऐसे मन्त्र हैं, जो प्रयोजनविशेष से ऋग्वेद में ही दो बार आए हैं, प्रतिवादी उन्हें पुनरुक्त मानता है, किन्तु दूसरे स्थान पर उनका ऋषि भी और ही है। हम यह नहीं कहते कि सर्वत्र ऐसा है, किन्तु जहाँ है, वहाँ, क्या करोगे। अस्तु। अब आपके सामने कुछ ऐसे मन्त्र प्रस्तुत किए जाते हैं, जो ऋग्वेद में हैं, और किसी अन्य वेद में भी। किन्तु उसका ऋषि एक नहीं—यथा—

१. चत्वारिशृङ्गा त्रयो अस्य पादाः
द्वेशीर्ष सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो
देवो मर्त्यां आविवेश॥

ऋ० ४।५८।३ यजु० १७।९१
वामदेवः साध्या

ऋग्वेद ४।५८ का ऋषि वामदेव है, यजुर्वेद में यह सूक्त १७।८९—९९, वहाँ सारे अध्याय का ऋषि प्रजापति, और 'साध्या देवाः' लिखा है, ८९ मन्त्र का वामदेव भी है।

२. अम्बयो यन्त्यध्वभि र्जामयो
अध्वरी यताम् । पृञ्चतीर्मधुनापयः

ऋ० १।२३।१६, १७।१८ अथर्व १।४।१२।३
मेधातिथिः काण्वः सिन्धुद्वीपः

३. शास इत्था महाँ अस्यमित्र-
खादो अद्भुतः । न यस्य
हन्येत सखा न जीयते कदाचन ॥

ऋ० १०।१५२।१ अथ० १।२०।४
शासः भरद्वाजः अथर्वा

इस सूक्त का ३रा अ १ $\frac{३}{३}$ [१] है। वहाँ ऋषि अथर्वा है।

४. मुंचामित्वा हविषा जीवनाय
कमज्ञातयक्ष्माद्युत राजय-
क्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह वैतदेनं
तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ॥

इससे अगला भी।

ऋ० १०।१६१।१ अ० ३।११।१
यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः ब्रह्मा

५. इध्मेनाग्न इच्छ मानो घृतेन
जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।

यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान
इमाँ धियं शतसेयाय देवीम् ॥

ऋ० ३।१८।३ अ० ३।१५।३
कतो वैश्वामित्रः पण्यकामोऽथर्वा

६. सीरा युञ्जन्ति कवयो
युगा वितन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥

ऋ० १०।१०१।४ यजु० १२।६७ अ० ३।१७।१
बुधः सौम्यः बुधः सौम्यः विश्वामित्रः
ऋ० १०।१०१।३ यजु० १२।६८ कपि समान

७. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयि-
ष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥

ऋ० १।१८९।१ य० ५। ३६ अगस्त्यः
अगस्त्यः " य० ७।४३, "
४०।१६ दध्याङ् आथर्वण

८. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्ता-
सामिदेकामभ्यंहुरोगात् । आ-
योर्ह स्कंभे उपमस्यनीडे पथां
विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥

ऋ० १०।५।६ ॥ त्रितः अ० ५।१।६ बृहद्दिवा आथर्वण

९. ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्
विसीमतः सुरुचोवेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
सत्तश्च योनिमसतश्च विवः ॥

य० १३।३ सा० पू० ४। प्र० ३। द० ९ अ० ४।१।१ वेनः
प्रजापतिः अ० ५।६।१ ब्रह्मा
तथा बृहस्पतिर्नकुलो
साध्याः वा

१०. ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु
वयं त्वेन्धानस्तन्वं पुषेम ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रम्
त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम ॥

ऋ० १०।१०८।१ अ० ५।३।१
विहव्यः बृहद्दिवोऽथर्वा

११. देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्
दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृति
शंनो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

ऋ० १०।१६५ अ० ६।२७।१
कपोतोनैर्ऋतः भृगुः

१२. चित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ
सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च ॥

ऋ० १।११५।१	यजु० ७।४२	अ० १३।२।३५
कुत्स आङ्गिरसः	कु० अ०	ब्रह्मा
	य० १३।४६	अ० २०।१०७।१४
	साध्याः	सूर्य्यः, देवी,
	प्रजापतिः	कुत्सः

१३. अयस्मये द्रुपदे बेधिषे इहा
भिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान
उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥

अ० ६।८४।३
अंगिरा
अ० ६।६३।३
द्रुह्वणः

१४. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्
यत्र विश्व भवत्येकनीडम् ।
तस्मिन्निदꣳ सं च विचैति सर्वꣳ
स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

य० ३२।८ अ० २।१।२

स्वयंभुब्रह्म वेनः

१५. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १०।१२१।५ य० ३२।६
हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः स्वयंभुब्रह्म

१६. नराशंसस्य महिमानमेषामुप
स्तोषाम यजतस्य यज्ञैः ।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः
स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

ऋ० ७।२।२ यजु० २९।२७
वसिष्ठ जमदग्निः
भार्गवो जमदग्निः

१७. समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥

ऋ० ८।४४।१ यजु० ३।१
विरूप आङ्गिरस अग्निः
१२।३०
आङ्गिरसो विरूपाक्षः

अब आपके समक्ष ऐसे कुछ मन्त्र प्रस्तुत किए जाते हैं, जो ऋग्वेद में ही एक से अधिक बार आए हैं, और उनके ऋषि भी दोनों स्थानों पर भिन्न हैं।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥१॥
इदमापः प्रवहत यत्किंच दुरितं मयि।
यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥२॥
आपो अद्यान्वा चारिषं रसेन समगस्महि।
पयस्वानग्न आगहि तं मा संसृज वर्चसा ॥३॥

ये तीन मन्त्र ऋग्वेद १।२३।२१—२३ में हैं, और फिर ऋग्वेद १०।९।७—९ में हैं। प्रथम मण्डल में इनका ऋषि मेधातिथि काण्व है, किन्तु दशयमण्डल में 'त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः' लिखा है। ऋषि का अर्थ कर्त्ता मान कर इसकी संगति कैसे लगेगी।

इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥४॥

यह मन्त्र ऋग्वेद १।१३।९ में है, और ५।५।८ में भी है। प्रथम मण्डल में इसका ऋषि मेधातिथि काण्व है किन्तु पंचम में वसुश्रुत आत्रेय ऋषि है।

विश्वाहेन्द्रो अधिवक्ता नो अस्त्व-
परिह्वताः सनुयाम वाजम् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम्
अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥८॥

यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही दो बार (१।१००।१९ तथा १।१०२।११) आया है। प्रथम स्थान में तो इसके पूरे पाँच ऋषि=वृषागिरो महराजस्य वार्षागिरा ऋज्राश्व-अंबरीष-सहदेव-भयमान-सुराधसः है, और दूसरे स्थान में कुत्स आंगिरस है।

इलामग्ने पुरुदंसं सनिं गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥६

यह मन्त्र तीसरे मण्डल में अनेक बार आता है। एक स्थान (३।१।२३) पर इसका ऋषि गाथिन विश्वामित्र है, और दूसरे स्थान (३।१५।७) पर उत्कील कात्य है। (३।५।११; ३।६।११, ३।७।११] तीन स्थानों पर ऋषि विश्वामित्र है। ३।२२।५ में ऋषि गाथी है, तो ३।२३।५ में देवश्रवा और देववात भरतकुलोत्पन्न [देवश्रवा देववातश्च भारतावृषी] ऋषि हैं। अन्तिम स्थल पर दो ऋषि हैं। साम में भी यह मन्त्र ५।१।१।८।४ है, वहाँ भी विश्वामित्रऋषि है।

आ भारती भारतीभिः सजोषा
इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।

सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक्
तिस्रो देवी बर्हिरेदं सदन्तु ॥७॥
तन्न स्तुरीपमध पोषयित्नु
देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व ।
यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो
युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥८॥
वनस्पतेऽव सृजोप देवान्
अग्निर्हविः शमिता सूदयाति ।
सेदु होता सत्यतरो जयाति
यथा देवानां जनिमानि वेद ॥९॥
आयाह्यग्ने समिधानो अर्वाङ्
इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः ।
बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्राः
स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥१०॥

ये चार मन्त्र तीसरे मण्डल [३।४।८-११] और सातवें मण्डल [७।२।८-११] में आते है। प्रथम स्थान पर ऋषि विश्वामित्र है, दूसरे स्थल में यह वसिष्ठ के आर्ष हैं।

इन्द्रः सुत्रम्मा स्ववां अवोभिः सुमृलीको भवतु विश्ववेदः। बधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्य्यस्य पतयः स्याम ॥ ११ ॥ तस्यवयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम । स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रोअस्मे आरा चिद्द्वेषःसनुतर्युयोतु ॥ १२ ॥

ये दो मन्त्र ऋग्वेद में दो स्थलों पर पढ़े गए हैं। एक जगह (६।४७।१२-१३) तो इनका ऋषि गर्ग है। दूसरे स्थान पर (१०।१३-१।६-७) पर सुकीर्त्ति काक्षीवत को इनका ऋषि बताया गया है। 'इन्द्र सुत्रामा···'मन्त्र अथर्ववेद ७।९१।१ में भी है, वहाँ इसका ऋषि अथर्वा है।

विश्वे देवा स आगत शृणुता म इमं हवम्।
एदं बर्हिर्निषीदत ॥१३॥

यह मन्त्र दोबार आया है। पहले स्थल (२।४१।१) में ऋषि गृत्समद हैं। सातवें मण्डल (७।५२।७) में ऋजिश्वा को ऋषि बतायागया है।

इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः पूषरातयः।
विश्वे मम श्रुता हवम् ॥१४॥

ऋग्वेद १।२३।८ का यह मन्त्र है, और यही मन्त्र ऋ— २।४१।१५ में भी है, पहले स्थान में इसका ऋषि मेधातिथिः काण्वः है, किन्तु दूसरे स्थानों में गृत्समद है।

राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि
बृहद्गभीरं तव सोम धाम।
शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो
दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम ॥१५॥

यह मन्त्र ऋग्वेद १।९१।३ में है, वहाँ इसका 'गोतमोराहूगणः' है। किन्तु ऋ० ९।८८।८ में 'उशनाः काव्यः' है।

आ पवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे।
अर्कस्य योनिमासदम् ॥१६॥

ऋग्वेद नवमण्डल में ही दो बार (९।२५।६ और ९।५०।४) आया है, पहले स्थान पर 'दृढ़च्युतः अगस्त्यः' से दृष्ट है, किन्तु ९।५०।४ पर यह उचथ्य (आङ्गिरस) का आर्षेय है।

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत।
तमिद्वर्धन्तु नो गिरः सदावृधम् ॥१७॥

ऋ० ८।१३।८ में नारदः काण्वः है, किन्तु ८।९२।२१ में श्रुतकक्ष वा सुकक्ष आंगिरस है।

इहत्या सधमाद्या हरी हिरण्यकेश्य।
वोढामभि प्रयोहितम् ॥१८॥

यह ८।३२।२९ तो मेधातिथि काण्व का है, किन्तु ८।९३।२४ में सुकक्ष आंगिरस का है।

अर्वाञ्चंत्वा पुरुष्टुत प्रियमेधस्तुता हरी ।
सोमपेयाय वक्षतः ॥१९॥

ऋ० ८।६।४५ में इसका वत्सः काण्वः है, किन्तु ८।३२।३० मेधातिथिः काण्व का दृष्ट बताया गया है।

पुरुत्रा हि सदृङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः ।
समत्सु त्वा हवामहे ॥२०॥

यह मन्त्र भी आठवें मण्डल में दो बार आया है। एक स्थान ८।११।८ पर इसका ऋषि वत्सः काण्वः है, और दूसरे ८।४३।२१ पर विरूपः आङ्गिरसः द्रष्टा हैं।

त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसा-वन्नवद्यात् । सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री ॥२१॥

ऋ० ६।१५।१२ में ऋषि भरद्वाजो बार्हस्पत्यो वीतहव्योवा हैं ऋ० ७।४।९ में वसिष्ठ हैं। ६ ठे मण्डल में ऋषिविकल्प भी विचारने योग्य है।

यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्रसाधारणस्त्वम् ।
तं त्वा वयं हवामहे ॥२२॥

ऋ० ८।६५।७ में ऋषि प्रागाथः काण्व है, और ४।३२।१३ में ऋषि वामदेव है।

यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि
षितामसुञ्चता यजत्राः ।
एवो ष्वस्मान् मुञ्चता व्यंहः
प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः ॥२३॥

ऋ० १०।१२६।८ में कुल्मलबर्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वाम-वेदव्यः" को ऋषि बताया है किन्तु ४।१२।६ का वामदेव गौतम द्रष्टा है।

पुरोडाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः ।
वधूयुरिव योषणाम् ॥२४॥

ऋ० ४।३२।१६ में ऋषि वामदेव और ३।५२।३ का विश्वामित्र है।

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं
दिव्यं शासमिन्द्रम् ।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं
सहोदामिहि तं हुवेम ॥२५॥

ऋ० ३।४७।५ का ऋषि विश्वामित्र है, और ६।१९।११ का द्रष्टा भरद्वाज बताया गया है।

स मन्द्रस्वा ह्यन्धसो राधसे तान्व महे ।
न स्तोतारं निदे करः ॥२६॥

ऋ० ६।४५।२७ ऋषि शंयुर्बार्हस्पत्यः है। ऋ० ३।४।१।६ का ॥ विश्वामित्र है।

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं
त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन्बर्हि-
रस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥२७॥

ऋ० १०।५२।६ ऋषि अग्निः सौचीकः; ऋ० ३।९।९ ऋषि" विश्वामित्र।

उत्तो वयश्चिद्वसतेरपप्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ।
अमा सते वहसि भूरि वाममुषो देवि दाशुषेमर्त्याय।२८।

ऋ० ६।६४।६ भारद्वाजो बार्हस्पत्यः; ऋ० १।१२४।१२ काक्षी-वतो दैर्घतमसः है।

ये पायवो मामतेयं ते अग्ने
पश्यन्तो अन्धं दुरितादरक्षन्।
ररक्ष तान्त्सुकृतो विश्ववेदा
दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभुः ॥ २९ ॥

ऋ० ४।४।१५ का ऋषि वामदेवो गौतमः है। ऋ० १।१४७।३ का ऋषि दीर्घतमा औचथ्यः है।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा
च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान
आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ३० ॥

ऋ० १०।१७७।३ पतंग प्राजापत्य दृष्ट है। ऋ० १।१६३।३१ दीर्घतमा औचथ्य का दृष्ट है।

यज्ञेन यज्ञमयजंतदेवास्
तानि धर्म्माणि प्रथमान्यसान् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ ३१ ॥

ऋ० १।१६४।५० ऋषि दीर्घतमा औचथ्य है। ऋ० १०।९०।१६ ऋषि नारायण है।

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर
ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः ।
प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि
पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति ॥ ३२ ॥

ऋ० ६।२०।१२ ऋषि 'भारद्वाजो बार्हस्पत्यः है।' ऋ० १।१७४।९ ऋषि अगस्त्य है।

तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं
तव नेष्टं त्वमग्निदृतायतः ।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि
ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ ३३ ॥

ऋ० २।१।२ का 'आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः, को ऋषि कहा गया है, किन्तु ऋ० १०।९१।१० के अरुण वैतहव्य ऋषि हैं।

ये थोड़े से दोनों प्रकार के उदाहरण आपके सम्मुख रक्खे हैं। ऋषि शब्द का अर्थ Poet Composer of the hymn मानकर यह कैसे संगत होगा। यह एक ही मन्त्र का स्थानभेद से ऋषि भेद अनुक्रमणिकाकार का प्रोक्त है। हमारा नहीं अब बताइए, इनका क्या कीजिएगा, यदि कहो, कि अनुक्रमणिकार झूठा है, तो फिर उसका 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' वाक्य क्यों सच्चा है, कौन सा ऐसा विनिगमक प्रमाण है, जो उसके एक वचन को सत्य और अन्य को मिथ्या प्रमाणित करता है। अनुक्रमणिका के इस वचन "यस्य वाक्यं स ऋषिः" का आपानतः प्रतीयमान अर्थ मानकर यदि ऋषि का अर्थ Poet, Composer आदि माना जाए, तो अनुक्रमणी के अपने वचन उसके विरोधी हैं, जैसे कि अनुक्रणिकार ने—

१—"य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत् ॥

२—कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार तस्येन्द्र एव गाथी पुत्रो जज्ञे गाथिनो विश्वामित्रः, स तृतीयं मण्डलमपश्यत्।

३—वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत् बार्हस्पत्यो भारद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत्। सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्।"

इन वाक्यों में 'अपश्यत्' शब्द का प्रयोग किया है। 'अकरोत्' का नहीं।

षड्गुरुशिष्य भी वेदार्थदीपिका नामक सर्वानुक्रमणीवृत्ति में।

१—ऋषिद्रष्टा, ऋषयोऽनागतातीतवर्त्तमानर्थवेदिनः,
अर्त्तेःसनोतेश्चऋषि शब्दो निरुच्यते ॥ ५७ पृ

२—शतर्चिसंज्ञा विज्ञेया ह्याद्यमण्डलदर्शिनः।
ददर्शादौ मधुच्छन्दा ह्यर्धकं यदृचां शतम् ॥ ५६ पृ०

३—सूक्तदर्शित्वादंत्ये दशमे मण्डले स्थिता ऋषयः

४—उक्तं च 'ऋषिर्दर्शनात्' (निरु० २। ११)

इतने प्रयोगों में 'दृश' धातु का प्रयोग है, इन सब वाक्यों की उपस्थिति में 'यस्य वाक्यं स ऋषि' को लाक्षणिक मानना संगत प्रतीत होता है, अर्थात् इनके होते 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' को 'यस्य दृष्टं=दृष्टार्थं वाक्यं स ऋषिः' मानना चाहिए। किसी विनिगमक प्रमाण के बिना एक वाक्य के पीछे इन समस्त वाक्यों का उन्नयन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। अपितु अनेकों के अनुसार इस एक का लापन न्याय है। एक और कारण भी है। अब तक तो उन मन्त्रों के विषय में चर्चा थी, जो भिन्न स्थानों के थे, अब आप के सामने एक स्थान के मन्त्र पेश किए जाते हैं। जिनके ऋषि अनेक हैं—जैसे कि यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणिका में लिखा है।

१—'इषे त्वादि खंब्रह्मान्तं विवस्वानपश्यत, ततःप्रति कर्म विभागेन ब्राह्मणानुसारेण ऋषयो वेदितव्याः ॥

इसके अनुसार 'विवस्वान्' संपूर्ण यजुर्वेद का ऋषि है, प्रतिपक्षी इसे कैसे लापन करेगा। यहाँ तो कर्त्ता अर्थ मानना गड़बड़ करेगा, यदि संकलयिता मानो, तो यह लाक्षणिक अर्थ होगा। प्रतिपक्षी अब 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'मन्त्रकार' न मान कर 'मन्त्रसंग्रहकार' मानने पर बाधित हुआ है। अर्थात् पहले 'दृश' का लक्षणा से 'कृति' अर्थ किया, अब 'कृति' का भी 'संग्रह' अर्थ करना पड़ा है, इससे तो यही अच्छा है, कि निरुक्तादि

शास्त्रों के अनुसार और अनुक्रमणिकाओं के कथनानुकूल 'ऋषि दर्शनात्' मानें, और अल्प प्रयुक्त 'कृ' धातु का दर्शन क्रिया अर्थ स्वीकारें, इसमें एक और कारण भी है, 'दृश' धातु विशेष है, और 'कृ' धातु सामान्य है, क्रिया तो सब धात्वर्थों में अनुगत रहती ही है, इस वास्ते क्रिया का किसी धात्वर्थ के साथ अन्वय स्वाभाविक है, किन्तु दृश धातु का कृति अर्थ मानने से दर्शन' अर्थ का त्याग करना पड़ता है। जो विशेष हेतु प्रदर्शन के बिना साधीयान् नहीं है।

यजुर्वेद प्रथमाध्याय के ३१ मन्त्र हैं, उनके ऋषि १ देवाः प्राजापत्यः २. परमेष्ठी प्राजापत्यः ३ प्रजापति।

ये लिखे हैं, इसमें भी 'देवाः प्रजापत्याः बहुवचनान्त है, कपोत-वधन्याय से कम से कम ये तीन तो अवश्य ही मानने होंगे। फिर एक वैचित्र्य यह है कि २८ वें मन्त्र का ऋषि 'अघशंस' भी है[1]। द्वितीयाध्याय के पहले अट्ठाईस मन्त्रों के ऋषि पूर्वोक्त हैं किन्तु साथ ही ११—१३ मन्त्रों का आंगिरस और बृहस्पतिः आंगिरस

१—परमेष्ठी प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणामृषिर्देवा वा प्राजापत्यः॥

पुराऽघशंसोऽपश्यच्चयान्द्रमसी—

१९ वें	मन्त्र का	उद्दालवान्, और धानान्तर्वान्, यमवान्, कृषि और शूर्प
१८	,,	सोमसूक्ष्मः या सोम शुष्मः
२१	,,	मनसस्पतिः
१६	,,	कपिः
१७	,,	देवलः

भी है, इसी प्रकार और देखिए—तीसरे अध्याय के १—८ का अग्निः, गन्धर्वाः, देवाः, प्रजापतिः, इतने ऋषि हैं, जिनमें 'गन्धर्वाः, तथा 'देवाः, बहुवचनान्त हैं। इसमें भी फिर प्रथम मन्त्र का आंगिरसः, और विरूप ६ ८ तक की सार्पराज्ञी, ५ वें का ऋत, ३ रे का भरद्वाजः, २ रे का वसुश्रुतः, हैं।

चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, पंचदश, सप्तदश, अष्टादश, ऊनविंश, द्वाविंश, त्रयोविंश चर्तुविंश सप्तविंश, अष्टाविंश, अध्याय सारे के सारे 'प्रजापति' के हैं, उनमें केवल चौबीसवां ही ऐसा है, जहां अकेला 'प्रजापति' है, शेष में अनेक अन्य ऋषि हैं, और अठारवें, सतरहवें, पंदरहवें, चौदहवें, तेरहवें, बारहवें, ग्यारहवें, और दशवें का 'साध्याः देवाः" भी हैं।

यह हमने यजुर्वेद के ऋषि सम्बन्ध में दिग्दर्शन मात्र कराया है।

अब ऋग्वेद के भी कुछ ऐसे मन्त्रों का दिग्दर्शन करा देना उचित है—

ऋग्वेद १। १०० के पाँच ऋषि वृषागिरो महाराजस्य पुत्र भूता वार्षागिराः वज्राश्व अंबरीष—सहदेव—भयमान, अनुराधसः।

ऋग्वेद ५। २० प्रयस्वन्तः अत्र्यः

,, ५। २४ ,, गौपायन अथवा लौपायन।१वन्धुः, २ सुबन्धुः, ३ श्रुतबन्धुः४विप्रबन्धुः

,, ५। २७ ,, त्रैयरुणस्त्र्यावृष्णः, त्रसदस्युः पौरुकुत्स्थः, अश्वमेधश्च भारतः, अग्निर्वा;

,, ७। ३३। १—९ ,, वसिष्ठपुत्राः

,, ९। ६६ शतं वैखानसः

,, ९।८६।३-१३० के पृश्नयोऽजाः

,, ९।८६।३१-४० त्रय ऋषि गणः

,, ९।१०७ सप्तर्षयः

,, ९।१०९ अग्नयो धिष्ण्याः ऐश्वराः

,, १०।५१।१,३,५,७,९ } देवाः
,, १०।५३।१-३, ६-११ }

,, १०।१३६ मुनयो वातरशनाः

,, १०।१४२ शार्ङ्गाः

,, १०।१५३ इन्द्रमातरो देवजामयः

इनमें वे मन्त्र संगृहीत नहीं हैं, जिनके दो ऋषि हैं, अथवा जिनमें विकल्प का निर्देश है। ये सारे ऐसे मन्त्र हैं, जिनके ऋषि तीन अथवा उससे अधिक हैं। इनमें न्यून से न्यून संख्या तीन की है और अधिक से अधिक 'शत' की है। ऋषि का अर्थ मन्त्रकार मानें, तो समझ में नहीं आता, ये किस प्रकार मिलकर बनाते होंगे। क्या हाईकोर्ट फुलबैंच की तरह यहाँ भी एक लिखता था, और दूसरे 'तथास्तु' 'एवमेव' 'आम्' कह कर स्वसम्मति प्रकाश कर देते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि पूर्वोक्त ऋषियों के संबन्ध में "एकर्चाः" या "द्वयृचाः" अर्थात् एक एक या दो दो ऋचा वाले विशेषण आया है। किन्तु ९।६६ सूक्त में मन्त्र हैं केवल तीस और ऋषि हैं पूरे सौ=शतं वैखानसाः। १८वें मन्त्र को छोड़कर जो पादनिचृदनुष्टुप् है, शेष गायत्री छन्द में है। इससे एक एक पाद भी तो प्रत्येक ऋषि के हिस्से में नहीं आता। हाँ। यदि ऋषि का अर्थ शास्त्रानुसार द्रष्टा मान लें, तो कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। फिर तो जहाँ कहीं लिखा है—'संभूयापश्यन्', वह भी संगत हो जाता है। मिल कर विचारना तो सदा से चला आता है। इस कारण यही मानना उचित है। कि ऋषि ने मन्त्रार्थ के दर्शन किए।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाभ्यास करते-करते जिस किसी महानुभाव को किसी सूक्त विशेष या मन्त्र विशेष का रहस्यार्थ भान हुआ, उसने उसका भूयो भूयः मनन और प्रचार किया,

वह महानुभाव उस सूक्त या मन्त्र के ऋषि=द्रष्टा=प्रवक्ता कहलाए। जैसे 'यथेमां कल्याणी मावदानि—'(यजु० २६।२) के होते भी वेद-प्रवक्ताओं ने शूद्रादिक का वेदाधिकार विरहित कर रक्खा था। ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र से शूद्रादिकों को उनका नैसर्गिक अधिकार दिया, और इस मन्त्र का खूब प्रचार किया। अतः इस मन्त्र को ऋषि 'दयानन्द' लिखना चाहिए।

प्रतिवादी की बहुत प्रबल युक्ति शेष रह गई है। जिस पर उसे बहुत गर्व है। वह है तत्तत्सूक्त के ऋषियों का नाम। उन सूक्तों में आता है। जैसे आज कल के कवि पद के अन्त में या कहीं अपना नाम लाते हैं, वैसे ही वैदिक ऋषियों ने भी अपने नाम सूक्तों में दिए हैं।

हमारा नम्र वक्तव्य है, कि यह भी अविचारित-रमणीय तर्क है। पहले तो सब सूक्तों में ऋषियों के नाम नहीं हैं। ऋग्वेद के प्रथम कई सूक्तों के ऋषि मुधुच्छन्दा हैं, किन्तु इन सूक्तों में इनका नाम नहीं। दूसरा जैसे आज कल सिख लोग ग्रन्थ साहिब से देख अपने नाम रखते हैं। मुसलमान कुरान से, वैसे इन महानुभावों के नाम भी वेद से लिए गए हैं। जिस जिस सूक्त का इन्होंने अधिक अभ्यास किया, उस उस सूक्त में आए किसी शब्द से वे प्रसिद्ध हो गए, जैसे कि श्रीस्वामी ब्रह्मानन्द जी (जिन्होंने संयुक्त-प्रान्तीय आर्य्य प्रतिनिधि सभा में लघुपुस्तकनिधि

स्थापित की थी) एक भजन गाया करते थे (भजन उनकी रचना न था) जिसमें 'बछिया के बावा' वाक्यांश आता है। लोगों ने उनका नाम ही 'बछिया का बावा' रख छोड़ा था। या जैसे स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी को लोग 'कोलाहल स्वामी' कहते थे। यह बात सामने रखकर विचारने से 'शुनः शेप' आदि ऋषि नामों का मर्म हृद्गत हो जाता है।

एक और कारण से भी यह युक्ति अशुद्ध ठहरती है। देखिए ऋ० १०. ६६ में (मन्त्र १४,१५) में नाम तो वषिष्ठों [वसिष्ठासः पितृवद्—१४, 'देवा-वसिष्ठो अमृतान्ववन्दे' आता है, किन्तु ऋषि इस सूक्त का 'वसुकर्ण वसुक्र' है। और इस सूक्त में 'वसुकर्ण वसुक्र' नाम है ही नहीं। अतः यही मानना उचित है कि ऋषि द्रष्टा ही होते हैं; और जो कहीं ये नाम मन्त्रों में मिलते हैं; तो मन्त्रों से लेकर उन महानुभावों के नाम रखे गए। या वे लोग इन मन्त्रों का रात्रिन्दिवा गान, कीर्त्तन प्रवचन आदि करते थे, इस वास्ते वे उन उन नामों से प्रसिद्ध हुए। निष्कर्ष यह कि ऋषि शब्द का मन्त्रार्थद्रष्टा अर्थ एवं प्रवक्ता है। मन्त्रकर्त्ता नहीं। ओंशम्।

ऋग्वेद द्रष्टा २ ऋषयः

१—मधुच्छन्दाः १ । १—१०

जेता मधुच्छन्दाः १ । ११

मेधातिथिः काण्वः १ । १२—२३

शुनःशेप आजीगर्तिः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातः १ । २४

" १ । २५—३०

हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः १ । ३१—३५

घौरः १ । ३६

कण्वो घौरः १ । ३७—४३

प्रस्कण्वः १ । ४४, ४८

" काण्वः १ । ४५—४७, ४६, ५०

सव्य आँगिरसः १ । ५१—५७

नोधा गौतमः १ । ५८—६४

पराशरः १ । ६५, ७०—७३

" शाक्त्यः १ । ६६—६६

गोतमो राहूगणः १ । ७४—८६

गौतमो राहूगणपुत्रः १ । ८७—६३

कुत्स आङ्गिरसः १ । ६४—६८, १०१—४,

कश्यपो मारीचिपुत्रः १ । ६६

वृषागिरो महाराजस्य पुत्रभूता वार्षीगिरा ऋज्राश्वाम्बरीष सहदेव भयमानसुराधसः १ । १००

आप्त्यस्त्रितः आंगिरसः कुत्सो वा १ । १०५

कुत्स आंगिरसः १।१०६—१४

कक्षीवान् १ । १६—११८, १२२, १—२६।१—५
कक्षीवान् दैर्घतमसः १ । ११९, १२४, १२५
औशिक्पुत्रः कक्षीवान् १ । १२०
औशिजः " १ । १२१
दीर्घतमसः पुत्राः कक्षीवान् १ । १२६
भावयव्यः १ । १२६ । ६
रोमशा ब्रह्मवादिनी १।१२६ । ७
परुच्छेपः १ । १२७—३९
दीर्घतमः १ । १४०—६४
अगस्त्यः १ । ६५, १६७,—७८।१८०—९१
मैत्रावरुणोऽगस्त्यः १ । १६६
लोपामुद्रागस्त्यौ १ । १७९
आङ्गिरसः शौनहोत्रो भार्गवो गृत्समदः २ । १

२. या आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत् स गृत्समदोऽयं मण्डलमपश्यत् क० सा० १३ ख

गृत्समद २।२—३, ८—२६, (वा); २८—२९ वा ३०—४३
सोमाहुतिर्भार्गवः २ । ४—७
कूर्मो गात्समदः (वा) २ । २७, २८ २९ (वाऽऽदित्यः)

३. कुशिकस्त्वैषीरथीरिन्द्रतुल्यंपुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्य्यं चचार, तस्येदं एव गाथी पुत्रो जज्ञे, गाथिनो विश्वामित्रः स तृतीयं मण्डलमपश्यत् ।

गाथिन विश्वामित्रः ३ । १—१४
उत्कीलः कात्यः ३ । १५—१७
कतो वैश्वामित्रः ३ । १८
कुशिकपुत्रो गाथी ३ । १९
गाथी ३ । २०, २२
कौशिको गाथी ३ । २१
देवश्रवा देववातश्च भारतौ ३ । २३
विश्वामित्रः ३ । २४—३०, ३१ (वा),
कुशिको (वा) ३ । ३१—३७, ३९—५३, ५७—६२,
प्रजापतिः ३ । ३८
प्रजापते वैश्वामित्रौ वाच्यो वा ३ । ५४—५६

४. वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्

वामदेवः ४ । १—४१, ४५—५८
त्रसदस्युः पौरुकुत्स्यः ४ । ४२
पुरुमीढाजमीढो सौहोत्रौ ४ । ४३, ४४

८. नमोऽत्रिभ्यो, भौमोऽत्रिः पंचमे मण्डलेऽनुक्त गोत्र मात्रेयं विद्यात् (२४)

बुधगविष्ठरावात्रेयौ ५ । १

कुमार आत्रेयो वृशो वा जार उभौ वा । ५ । २ ।१, ३–८, १०—१२

वृशो जारः ५ । २ । ५, ६

वसुश्रुत आत्रेय ५ । ३—६

इष आत्रेय ५ । ७-८

गय आत्रेय ५ । ९-१०

सुतम्भर आत्रेय ५ । ११—१४

धरुण आङ्गिरसः ५ । १५

पुरुरात्रेयः ५ । १६-१७

द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः ५ । १८

वव्रिरात्रेय ५ । १९

प्रयस्वन्तो अत्रयः ५ २०

सस आत्रेयः ५ । २१

विश्वसामात्रेयः ५ । २२

द्युम्नो विश्वचर्षणिः ५ । २३

वन्धुः सुबन्धुः श्रुतबन्धु विप्र
वन्धुश्च गौपायना लौपायना व (एक चर्द्वोपदं) } ५ । २४

वसूयव आत्रेयः ५ । २५, २६
(संभूयापश्यन्)
अरुण स्त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च पौरुकुत्स्य ५ । २७
अवश्वसेधश्च भारतौऽत्रिर्वा (नामात्मने दद्यात्सर्वास्वत्रिं)
विश्ववारात्रेयी ५ । २८
गौरिवीतिः शाक्त्यः ५ २९
बभ्रुरात्रेयः ५ । ३०
अवस्युरात्रेय ५ । ३१, ७५
गातुरात्रेयः ५ । ३२
संवरणः प्राजापत्यः ५ । ३३,३४
प्रभूवसुराङ्गिरसः ५ । ३५,३६
अत्रिः ५ । ३७–४२, ७६, ७७, ८३-८६
अवत्सार काश्यप अन्ये च दृष्टलिंगाः ५ । ४४

६. अत्र सूक्ते ये दृष्टलिंगका अधीतस्वनाम का सदापृणयजत बाहु वृक्त श्रुतवित्तर्योदयस्ते चर्षित्वेऽवत्सारेण समुच्चीयते स्वनामवतोष्वृक्षुइत्यर्थः ।

सदापृण आत्रेयः । ५ । ४५
प्रतिक्षत्र आत्रेयः ५ । ४७
प्रतिरथ आत्रेयः ५ । ४७
प्रतिभानुरात्रेयः ५।४८

प्रतिप्रभ आत्रेयः ५।४६

स्वस्त्यात्रेयः ५।५०, ५१

श्यावाश्व आत्रेयः ५।५२---६१८१, ८२

श्रुतिविदात्रेयः ५।५२.

अर्चनाना आत्रेयः५।६३,६४

रातहव्य आत्रेय ५।६५-६६

यजत आत्रेयः ५।६७,६८

उरुचक्रिरात्रेयः ५।६९-७०

बाहुवृक्त आत्रेयः ५।७१,७२

पौर आत्रेयः ५।७३

आत्रेयः ७ ७४

अवस्यु रात्रेयः ५।७५

अत्रिः ५।७६-७७, ८३-८३

सप्तवध्रिरात्रेयः ५।७८

सत्यश्रवा आत्रेयः ५।७९-८०

एव यामरुदात्रेयः ५।८७

६. बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठ मण्डलमपश्यत्

भारद्वाजो बाहस्पत्यः ६।१—३०; ३७—४३, ५३—७४

सुहोत्र ६।३१-३२

शुनहोत्र ६।३३-३४

नर।६।३५-३६

शंयुर्बार्हस्पत्यः ६।४४—४६,४८
गर्ग ६।४७
ऋजिश्वा ६।४९-५२
पायुर्भरद्वाजः ६।७५

७. सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्

वसिष्ठ ७।१-३२, ३३। १०-१४, ३४—१००, १०१ वा, १०२
" वा, १०३, १०४
शक्तिः वा ७।३२।२६
संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्येन्द्रेण वा संवादः (दया)
वसिष्ठ पुत्रः ७।३३।१—९
कुमारो (वा) आग्नेयः ६।१०१२

८. परं गायत्रं प्रग्वत्सप्रेः। ऋषिश्चानुक्तगोत्रः प्राङ्म त्स्यात्काण्वः

प्रगाथो घौरः काण्वो वा ८।१
मेधातिथिः काण्वः } ८।२।१-४०
प्रियमेधश्चाङ्गिरस: }
मेधातिथि ८।२।४१-४२
मेधातिथिः काण्वः ८।३,३२,३३
देवातिथिः काण्व ८।४
ब्रह्मातिथिः काण्वः ८।५
वत्सः काण्वः ८।६, ११,
पुनर्वत्सः काण्वः ८।७

सध्वंसः काण्वः ८.८
शशकर्णः काण्वः ८।९
प्रगाथः काण्वः ८।१०,४८
पर्वतः काण्वः ८।१२
नारदः काण्वः ८।१३
गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ ८।१४-१५
इरिम्बिठिः काण्वः ८।१६—१८,
सोभरिः काण्वः ८।१९—२२,१०३
विश्वमना वैयश्वः ८।२३—२५, २६ वा,
आङ्गिरसः २६ वा,
मनुर्वैवस्वत ८।२७-२८, २९ वा, ३०-३१,
काश्यपो मारीचः २९ वा,
नीपातिथिः काण्वः ८।३४
श्यावाश्वः ८।३५—३८
नाभाकः काण्व ८।३९—४१, ४२ वा
अर्चनानाः ८।४२ वा
[४२।१-३ नाभाकः काण्वः, नाभाकः काण्वः अर्चनाना वा]
विरूप आङ्गिरसः ८।४३-४४
त्रिशोकः काण्वः ८।४५
वशोऽश्व्यः ८।४६
त्रित आप्त्यः ८।४७

प्रस्काण्वः ८।४९
पुष्टिगुः काण्वः ८।५०
श्रुष्टिगुः काण्वः ८।५१
आयुः काण्वः ८।५२
मेध्यः काण्वः ८।५३,५७,५८
मातरिश्वा काण्वः ८।५४
कृशः काण्वः ८।५५
पृषध्र काण्वः ८।५६
सुपर्णः काण्वः ८ ५९
भर्गः प्रागाथः ८।६०,६१
प्रगाथः काण्वः ८।६२-६५
कलिः प्रागाथः ८।६६
मत्स्यः सामदो मान्यो वा मैत्रावरुणिः बहवो वा मत्स्याः
जालनद्धाः ८।६७
प्रियमेधः ८।६८-६९
पुरुहन्मा ८।७०
सुदीतिपुरुमीलाह्लौ तयोर्वा अन्यतरः ८७१
हर्यतः प्रगाथः ८ । ७२
गोपवन आत्रेयः ८।७३ वा, ७४
सप्तवध्रिः ८।७३ वा
विरूपः ८।७५

कुरुसुतिः काण्वः ८।७६—७८

कृत्नुर्भार्गवः ८।७९

एकद्युर्नौधसः ८।८०

कुसीदी काण्वः ८।८१-८३

उशना काण्वः ८।८४

कृष्णः ८।८५,८६ वा

विश्वकः कार्ष्णिः ८।८६ वा,

कृष्णो द्युम्नीकाः ८।८७ वा,

वासिष्ठः प्रियमेधा ८।८७ वा,

नोधा ८।८८

नृमेधपुरुमेधौ ८।८९, ९०

अपालात्रेयी, ८।९१

श्रुतकक्षः ८।९१ वा

सुकक्षः ८।९२ वा, ९३,

बिन्दुः । ८।९४ वा,

पूतदक्षः ८।९४ वा,

तिरश्ची ८।९५,९६ वा

द्युतानो मरुतः ८।९६ वा,

रेभः काश्यपः ८।९७

नृमेधः ८।९८,९९

नेमो भार्गवः ।८।१००

जमदग्निर्भार्गवः ८।१०१
प्रयोगो भार्गवः ८।१०२ वा
अग्निः पावको बार्हस्पत्यः ८।१०२ वा

९. मधुच्छन्दः ९।१
मेधातिथिः ९२
शुनः शेपः ९३.
हिरण्यस्तूप ९४,६९
आसितः काश्यपः ९।५,२४ वा
देवलो ९।५,२४ वा
दृढ़च्युतः आगस्त्यः ९।९५
इध्मवाहो दार्ढ्यच्युतः ९।२६
नृमेधः ९।२७,२९,
प्रियमेधः ९।२८
बिन्दुः ९।३०
गोतमः ९।३१, ६७।७-९,
श्यावाश्व ९।३२
त्रित ९।३३,३४,१०२
प्रभूवसुः ९।३५,३६
रहूगणः ९।३७,३८
बृहन्मतिः ९।३९,४०
मेध्यातिथिः ९।४१-४३

अयास्यः ९।४४-४६

कविर्भार्गवः ९।४७-४९

उचथ्यः ९।५०-५२

अवत्सार ९।५३-६०

अमहीयुः ९।६१

जमदग्निः ९।६२,६५ वा, ६७।१६-१८

निध्रुविः काश्यपः ९।६३

काश्यप ९।६४,६७।४-६,

भृगुर्वारुणिः ९।६५ वा

शतं वैखानसाः ९।६६

भरद्वाजः ९।६७।१-३

अत्रिः ९।६७।१०-१२, ८६।४१-४५

विश्वामित्रः ९।६७।१३-१५

वसिष्ठः ९।६७।१९-२१, २२-३२ वा, ९० ९७।१-३

पवित्रः ९।६७।२२-३२ वा, ७३, ८३,

पवित्रवसिष्ठौ ९।६७।२२-३२ वा

वत्सप्रिर्भालन्दनः ९।६८

रेणुर्वैश्वामित्रः ९।७०

ऋषभो वैश्वामित्रः ९।७१

हरिमन्त ९।७२

कक्षीवान् ९।७४

कविः ९।७५
वसुर्भारद्वाजः ९।८०-८२,
प्रजापतिर्वाच्यः ९।८४
वेनोभार्गवः ९।८५
आकृष्टाभाषा ९।८६।१-१०
सिकता निवावरी ९।८६।११-२०
पृश्नयोऽजाः ९।८६।२१-३०
त्रयः ऋषिगणाः ९।८६।३१-४०
गृत्समदः ९।८६।४६-४८
उशनाः ९।८७-८९
कश्यपः ९।९१,९२, ११३,११४,
नोधाः ९।९३
कण्वः ९।९४
प्रस्कण्वः ९।९५
प्रतर्दनो दैवोदासिः ९।९६
इन्द्रप्रमतिः वासिष्ठः ९।९७।४-६
वृषगणो वासिष्ठः ९।९७।७-९
मन्युर्वासिष्ठः ९।९७।१०-१२
उपमन्युर्वासिष्ठः ९।९७।१३-१५
व्याघ्रपाद्वासिष्ठः ९।९७।१६-१८
शक्तिर्वासिष्ठः ९।९७।१९-२१

कर्णश्रुद्वासिष्ठः ९।९७।२२-२४

मृळीको वासिष्ठः ९।९७।२५-२७

वसुक्रो वासिष्ठः ९।९७।२९-३०

पराशरः ९।९७।३१-४४

कुत्सः ९।९७।४५-५८

अम्बरीषः ऋजिस्वा च ९।९८

रेभसूनू काश्यपौ ९।९९,१००

अन्धीगुः श्यावाश्विः ९।१०१

द्वितआप्त्यः ९।१०३

पर्वतनारदौ ९।१०४ वा, १०५

द्वेशिखण्डिन्यौ काश्यापा-वत्सरसौ ९।१०४ वा

अग्निश्चाक्षुषः ९।१०६

सप्तर्षयः ९।१०७

गौरिवीतिः ९।१०८।१,२

शक्ति ९।१०८।३,१४-१६

उरुः ९।१०८।४,५

ऋजिष्वाः ९।१०८।६,७

ऊर्द्धसद्मा ९।१०८।८,९

कृतयशाः ९।१०८।१०,११

ऋणञ्चयः ९।१०८।१२,१३

अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः ९।१०९

यरुजत्रसदस्यू ९।११०

अनानतः पारुच्छेपपिः ९।१११

शिशुः ९।११२

१०. त्रितः १०।१-७

त्रिशिरास्त्वाष्ट्र १०।८६

यमी वैवस्वती १११,३,५-७,११,१३

यमो वैवस्वतः १०।१०२,४,८-१०।१२,१४

हविर्धान आङ्गिः १०।११-१२

विवस्वानादित्य १०।१३

यमः १०।१४

शंखो यामायन १०।१५

दमनो यामायन १०।१६

देवश्रवाः ,, १०।१७

संकुसुको ,, १०।१८

मथितो ,, १०।१६ वा

भृगुर्वारुणिः ,,

च्यवनोभार्गवः ,,

विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यः वसुकृद्द वासुक्रः वा १०।२०-२६

१०।२० वा-२६ वा

वसुक्र ऐन्द्रः १०।२७

इन्द्रवसुक्रयोः संवादः ऐन्द्रः १०।२८

१५

वसुक्रः १०।२९

कवष पेलूषः १०।३०–३३,३४ वा

अक्षो मौजवान् १०।३४ वा

लुशोधनाकः १०।३५-३६

अभितपाः सौर्य्यः १०।३७

इन्द्रो मुष्कवान् १०।३८

घोषा काक्षीवती १०।३९-४०

सुहस्त्यो घौषेयः १०।४१

कृष्णः १०-४२–४४

वत्सप्रिः १०।४५-४६

सप्तगुः १०।४७

इन्द्रो वैकुण्ठः १०।४८-५०

देवाः १०।५१।१,३,५,७,९।१०।५३।१–३
अग्निस्सौचीकः १०।५१।२,४,६,८,
,, १०।५२
,, १०।५३।४-५
} ५१ महत्तन्नवात्र युजोऽग्निवाक्यम् । ५२ विश्वइत्युत्तरं च षट्कमयुजोदेवानां ।

बृहदुक्थो वामदेव्यः १०।५४—५६

बन्धुः
सुबन्धुः
श्रुतबन्धुः
विप्रबन्धुः
} गौपायनाः १०।५७-६०

नाभानेदिष्ठो मानवः १०।६१-६२
गयः प्लातः १०।६३-६४
वसुकर्णो वासुक्रः १०।६५-६६
अयास्यः १०।६७-६८
सुमित्रो वाध्र्यश्वः १०।६९-७०
बृहस्पतिः १०।७१,७२ वा
बृहस्पति लौक्यः १०।७२ वा
अदिति दाक्षायणी १०-७२ वा
गौरिवीतिः १०।७३-७३
सिन्धुक्षित्प्रैयमेधः १०।७५
जरत्कर्ण ऐरावतः सर्पः १०-७६
स्यमूरश्मिर्भार्गवः १०।७७-७८
अग्निः सौचीको वैश्वानरो वा सप्तिर्वा वाजम्भरः १०।७९
अग्निः सौची को वैश्वानरो वा १०।८०
विश्वकर्मा भौवनः १०।८१।८२
मन्युस्तापसः १०।८३-८४
सूर्य्या सावित्री १०।८५
वृषाकपिरैन्द्र इन्द्राणीन्द्रश्च १०।८६
पायुः १०।८७
मूर्धन्वानाङ्गिरसो वामदेव्योवा १०।८८
रेणः १०।८९

नारायणः १०।९०

अरुणो वैतहव्यः १०।९१

शार्यातो मानवः १०।९२

तान्वः पार्थ्यः १०।९३

अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः १०।९४

पुरुरवा ऐळः १०।९५।१,३,६,८-१०,१२,१४,१७

उर्वशी १०।९५।२,४,५,७,११,१३,१५,१६,१८,

बरुः सर्वहरिर्वैन्द्रः १०।९६

भिषगाथर्वणः १०।९७

देवापिरार्ष्टिषेणः १०।९८

वम्रो वैखानसः १०।९९

दुवस्युर्वान्दनः १०।१००

बुधः सौम्यः १०।१०१

मुद्गलो भार्म्यश्वः १०।१०२

अप्रतिरथ ऐन्द्रः १०।१०३

अष्टको वैश्वामित्रः १०।१०४

कौत्सः सुमित्रो दुर्मित्रोवा १०।१०५

भूतांशः काश्यपः १०।१०६

दिव्यो दीक्षणा वा प्राजापत्या १०।१०७

पणयो असुराः १०।१०८।१,३,५,७,९

सरमा देवशनी २,४,६,८,१०-११

जुहूर्ब्रह्मजाय्वर्नाभा वा ब्राह्मः १०।१०९

जमदग्निः १०।११० वा

रामः १०।११० वा

अष्ट्रादंष्ट्रोवैरूपः १०।१११

नभः प्रभेदनो वैरूपः १०।११२

शत प्रभेदनो वैरूपः १०।११३

सघ्रिर्वैरूपः १०।११४ वा

धर्मो तापसः „

उपस्तुतो वार्ष्टिहव्यः १०।११५

अग्नियुतः स्थौरः १०।११६ वा

अग्नियूपः स्थौरः१०।११६ वा

भिक्षुः १०।११७

उरुक्षय आमहीयवः १०।११८

लब ऐन्द्रः १०।११९

बृहद्दिव आथर्वणः १०।१२०

हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः १०।१२१

चित्रमहा वासिष्ठः १०।१२२

वेनः १०।१२३

अग्निवरुणसोमानां निहवः १०।१२४।१,५-९

अग्निः १०।१२४।२-४

वागाम्भृणी १०।१२५

कुल्मल बार्हिषः शैलूषिरंहोमुग्वा वामदेव्यः १०।१२६

कुशिकः सौभरः १०।१२७ वा

रात्रि र्भारद्वाजी „

विहव्यः १०।१२८

प्रजापतिः परमेष्ठी १०-१२६

यज्ञः प्राजापत्यः १०।१३०

सुकीर्त्तिः काक्षीवतः १०।१३१

शकपूतो नार्मेधः १०।१३२

सुदाः पैजवनः १०।१३३

मान्धाता यौवनाश्वः १०।१३४

कुमारो यामायनः १०।१३५

मुनयो वातरशनाः १०।१३६

सप्तर्षय एकर्चा : १० । १३७

अङ्ग और्रवः १० । १३८

विश्वावसुर्देवगन्धर्वः १० । १३६

अग्निपावकः १० । १४०

अग्निस्तापसः १० । १४१

शार्ङ्गाः १० । १४२

अत्रिः सांख्यः १० । १४३

सुपर्णस्तार्क्ष्यपुत्रः १० । १४४ वा

ऊर्ध्वकृशनः यामायनः ।

इन्द्राणी १० । १४५

देवमुनिरैरंमदः १० । १४६

सुवेदाःशैरीशिः १० । १४७

पृथुर्वैन्यः १० । १४८

अर्चन् हैरण्यस्तूपः १० । १४९

मृडीको वासिष्ठः १० । १५०

श्रद्धा कामायनी १० । १५१

शासो भरद्वाजः १० १५२

इन्द्र मातरो देवजामयः १० । १५३

यमी १० । १५४

शिरिम्बिठो भारद्वाजः १० । १५५

केतुराग्नेयः १० । १५६

भुवनः आप्त्यः १० । १५७ वा

साधनो भौवनः ”

चक्षुः सौर्य्यः १० । १५८

शची पौलोमी १० । १५९

पूरणो वैश्वामित्रः १० । १६०

यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः १० । १६१

रक्षोहा ब्राम्हः १० । १६२

विवृहा काश्यपः १० । १६३

प्रचेताः १० । १६४

कपोतो नैर्ऋतः १०-१६५

ऋषभो वैराजः १० । १६६

विश्वामित्र जमदग्नी १० । १६७

अनिलोवातायनः १० । १६८

शबरः काक्षीवतः १० । १६९

विभ्राट् सूर्य्यः १० । १७०

इटो भार्गवः १० । १७१

संवर्त्तः १० । १७२

ध्रुवः १० । १७३

अभीवर्त्तः १० । १७४

ऊर्ध्वग्रावार्बुदिः १० । १७५

सूनुरार्भवः १० । १७६

पतङ्गः प्राजापत्यः १० । १७७

अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः १० । १७८

शिविरौशीनरः १० । १७९ । १

प्रतर्दनः काशिराजः १० । १७९ । २

वसुमना रौहिदश्वाः १० । १७९ । ३

जयः १० । १८०

प्रथो वासिष्ठः १० । १८१

तपुर्मूर्धा बार्हस्पत्यः १० । १८२

प्रजावान् प्राजापत्यः १० । १८३

त्वष्टा गर्भकर्त्ता १० । १८४ वा विष्णु प्राजापत्यः ॥

सत्यधृतिर्वारुणिः १० । १८५

उलो वातायनः १० । १८६

वत्स आग्नेयः १० । १८७

श्येन आग्नेयः १० । १८८

सार्पराज्ञी १० । १८९

अघमर्षणो माधुच्छन्दसः १० । १९०

सवननः १० । १९१
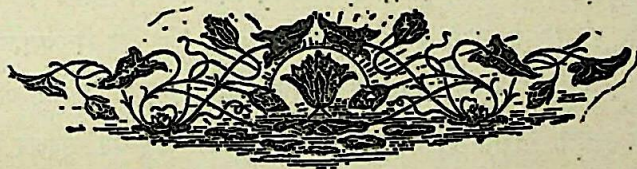
ओ३म्

वेद में इतिहास

ले०, पं० गोपालदत्तजी, अजमेर

वेद सब विद्याओं का मूल निधि है। इस बात को भारतीय आर्य पूर्ण तया सत्य मानते हैं। अन्य विवेचक विद्वानों की दृष्टि में भी संसार के सभी धर्म ग्रन्थ (Scriptures) वेद से अर्वाचीन और विद्याओं से सर्व अथवा अनेक पूर्ण नहीं है। हिन्दुओं के मुख्य मुख्य सभी सम्प्रदायों के अनुयायी वेद को ईश्वर कृत मानते हैं।

इतिहास पुरावृत्त अथवा इतिवृत्त भी एक विद्या है। जो पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों की सम्मति में वेद में है। पश्चिमी विद्वानों ने तो वेद में कौरव्य कृष्ण पुरूरवः राम इत्यादि नाम पाकर उपरोक्त नाम वाले व्यक्तियों का समय निश्चित कर वेदों का समय भी निश्चित कर लिया है। उनका निश्चित किया हुआ

वेद काल कतिपय सहस्र वर्ष पूर्व ही है। ज्योतिष और भूगर्भ शास्त्र का भी वह उपयोग लेते हैं परन्तु इस निबन्ध का विषय इतिहास है। पूर्वी या पश्चिमी विद्वानों के मत में वेद इतिहास का स्वतन्त्र ग्रन्थ तो नहीं है; परन्तु कतिपयों के मत में उसमें इतिहास है। पूर्वी हिन्दू विद्वान् कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों को सामने रख कर सायणादि भाष्यों का प्रमाण देकर वेद में इतिहास बताते हैं। जब उनसे यह कहा जाता है कि इतिहास मानने से वेद अर्वाचीन और मनुष्य कृत हो जावेंगे, ईश्वरीय नहीं रहेंगे जैसा कि सभी हिन्दू सम्प्रदाय मानते हैं तब उत्तर मिलता है कि—"भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति"। यह बात तो ठीक है परन्तु यह वाक्य वेद में इतिहास को सिद्ध नहीं करता; परन्तु वेद में वर्णित पदार्थ विज्ञान की अपरिवर्त्तनीयता बताता है। यह वेद में इतिहास मानना और न मानना आज का ही झगड़ा नहीं है परन्तु आर्षग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। वर्त्तमान निरुक्तकारने कई स्थानों में एक ऐति-हासिकों का और एक नैरुक्तों का पक्ष लिखा है। इस बात को बताने के लिये किसी युक्ति अथवा प्रमाण की आवश्यकता नहीं कि निरुक्त के बनाने वाले का स्वयं मत नैरुक्तों का हो सकता है न कि ऐतिहासिकों का। सायण के समय में तो सौत्र धर्म (!) का बहुत प्रचार हो गया था जब कि अनेक आर्ष और अनार्ष धर्म रूप और अधर्मरूप कई यज्ञ (!) किये और कहे जाते थे।

उस समय किसी को इस विषय पर विवेचन करने की आवश्यकता ही न पड़ी। आसन्नातीत युग में भारत के सम्प्रदायों की संख्या बढ़ी और साम्प्रदायिक साहित्य के विद्वान् ही विद्वान् कहे और माने जाने लगे। उनको अपने सम्प्रदाय के प्रचार से इतना समय ही न मिलता था कि इस विषय पर विचार करें फिर इस प्रकार के वैदिक विषयों का प्रचार उनके सम्प्रदाय-प्रचार का बाधक भी था। जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस मुख्य विषय पर प्रकाश डाला और अल्प समय में जितना हो सका इसका विवेचन भी किया तब से इस विषय में आर्य विद्वानों को हिन्दू साम्प्रदायिक और पश्चिमी विद्वानों से वितण्डावाद करना पड़ रहा है। पश्चिमी विद्वान् न केवल इतिहास को बताकर बल्कि भूगोल शब्द रचनाशास्त्र (Philology) पुराने आचार-विचार इत्यादि के विवेचन के बहाने वेदों को अर्वाचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु इतना श्रम करने पर भी वेद सब संसार में वर्त्तमान लभ्य ग्रन्थों में प्राचीनतम है। इस सिद्धान्तको उन्हें भी मानना पड़ा है। पश्चिमी और पूर्वीय विद्वानों को वेद में इतिहास मानने और बताने में वेद में आये हुए कुछ ऐतिहासिक और पौराणिक नाम और उनके साथ कुछ आलंकारिक वर्णन सहायक बन जाते हैं। पहले हम सामान्यतः इस भ्रम का निवारण करके फिर विशेषतः क्रम से कुछ आक्षेपों का उत्तर उदाहरण रूपेण रखकर यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र ही करते हैं।

वेदों में कुछ नाम आये हुए हैं जो कई पौराणिक और ऐतिहासिक व्यक्तियों के भी हैं। यही इस भ्रम का मुख्य मूल अथवा जनता को भ्रम में डालने का मुख्य साधन बन जाता है। इसका उत्तर मनुस्मृति में स्पष्ट है।

"सर्वेषां स तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्था श्च निर्ममे॥"

यहाँ पर कुल्लूक भट्ट की टीका के अनुसार पूर्व कल्प में जिसके जो नाम और कर्म थे वही इस कल्प में बनाये गये ऐसा है। परन्तु शङ्कराचार्य के आशय के अनुसार और सङ्गति युक्त अर्थ यह होगा कि सृष्टि के आरम्भ में जब वेद बन गये थे उसके बाद वैदिक नाम ही कर्मानुसार लौकिक पदार्थों के बनाए गये। वैदिक नाम ही किसी व्यक्ति का हो फिर उस व्यक्ति का चरित्र किसी इतिहासादि ग्रन्थों में हो तो इससे यह कदापि सिद्ध न होगा कि वेद उस व्यक्ति के चरित्र के पश्चात् बने हैं। वेद में आया हुए शङ्कर नाम को देखकर शङ्कराचार्य के पश्चात् के बने हुए वेद कभी नहीं मानने चाहिएं। अब पूर्व पक्षवाले यह कह सकते हैं कि वेद में व्यक्तियों के नामों का निराकरण इस प्रकार हो जाता है। परन्तु पुराण और इतिहास में आये हुए आख्यान भी कहीं-कहीं आनुपूर्वी के साथ मिलते हैं इसका क्या समाधान? दिङ्मात्रं यथा—

(१) ऊर्वशी को देखकर मैत्रावरुण का शुक्र स्खलित हुवा। वह घड़े में पड़ा उससे अगस्त्य का जन्म हुवा। (पुराणों की प्रसिद्ध कथा) ऋग्वेद में पाई जाती है।

(२) —वशिष्ठ की कथा ऋग्वेद में है। पुराणों और रामायण में भी है।

(३) वृत्र और इन्द्र का युद्ध और वृत्तवध वेद और पुराण दोनों में है।

(४) पुरूरवा और ऊर्वशी वेद में है और महाभारत में भी।

(५) अहल्या और इन्द्र की कथा वेद में है और रामायण में भी।

(६) देवापि और शन्तनु की कथा के मन्त्र निरुक्त में उदाहृत हैं। वह कथा महाभारत की कथा से मिलती-जुलती है।

इत्यादि अनेक उदाहरण वेद में इतिहास का होना प्रमाणित करते हैं और इन्हीं के आधार पर विद्वान् लोग वेदों में इतिहास मानते हैं।

अब इनका क्रमशः उत्तर लीजिये। पुराणों और इतिहासों में जो जो कथाएं वर्णित हैं उनमें से पौराणिक कथाएं तो जिन जिन व्यक्तियों के नाम पर हैं वह केवल अर्थवाद के लिये हैं। पुराणों में कुछ ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं और कुछ कल्पित भी। इन कथाओं का मूल कहीं कहीं वेदों में भी पाया जाता है। परन्तु वेदों में वह आलङ्कारिक कल्पना मात्र है। किसी व्यक्ति विशेष का

नाम नहीं। निरुक्तकार ने इसी बात को सूचित करने के लिये वैदिक नामों की व्युत्पत्तियों को रक्खा है। क्योंकि व्युत्पत्ति से जो नाम बनता है वह किसी व्यक्ति का नहीं होता है। उस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का जो भाजन हो उसी का वह नाम होता है। इतिहासों में भी अर्थवाद भरा पड़ा है, उसी के लिये ऐतिहासिक कथाओं को वैदिक घटनाओं से मिला दिया गया है। दृष्टान्त—स्व० श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा ने अपने सतसई संहार में एक दोहे के अर्थ को, जो पं० ज्वालाप्रसाद विद्यावारिधिजी कृत था, बङ्गविच्छेद से रूपकरूपेण मिला दिया है। इससे कोई दोहे में बङ्गविच्छेद ही समझ बैठे तो उसकी भूल है।

प्रथम आक्षेप का उत्तर

(१) इस कथा को बताने वाला मन्त्र निरुक्त में आया है। उसी पर टीका करते हुए दुर्गाचार्य ने इसी आशय का एक मन्त्र और दिया है। और उसमें वशिष्ठ का जन्म बताया है विद्युतो ज्योतिः—(यहाँ निरुक्त में दिये हुए मन्त्र में शुक्र शब्द है जो निघण्टु १।१२ के अनुसार जलका वाचक है) शब्दार्थ से तो यहाँ वशिष्ठ की उत्पत्ति और उसका देवताओं द्वारा अन्तरीक्ष में ग्रहण करता है। परन्तु वशिष्ठ शब्द का अर्थ (वाग्वाव वशिष्ठः छा० उ०) वाणी है। 'आत्मा बुद्ध्या-समेत्यार्थान०' से इसकी सङ्गति ठीक बैठ जावेगी। इस कथा

के उपक्रम में निरुक्तकार लिखते हैं कि—

"तस्याः (ऊर्वश्याः) दर्शनान्मित्रावरुणयो रेत-श्चस्कन्द तदभिवादिन्नी—एषर्ग भवति ।"

अर्थात् पुराणों की कथा ऐसी है कि ऊर्वशी को देखकर मित्र और वरुण का शुक्र स्खलित हो गया और इस अर्थ से मिलती-जुलती हीं यह ऋचा है। अभिवादिनी का अर्थ मिलती-जुलती है न कि कथा या दर्शयित्री। अन्त में दुर्गाचार्य लिखते हैं।

रौद्रेणकिल तेजसा निर्दग्धो वशिष्ठः मित्र-परिगृहीतायामुर्वश्यामुत्पन्नो वरुण तेजसो जातः—इति पुराणे श्रूयते तदप्युपेक्षितव्यम्। अनेक विधो-हिमन्त्राणामर्थः वशिष्ठस्येदमार्षं युम्मदश्चात्र प्रयोगः—उतसि—इति। तदेतद्विरुद्धार्थमिवोपलक्ष्यते ? नैत-द्वरुद्धम् नित्यत्वान्मन्त्राणां भवति।

अर्थात् रुद्र के तेज से वशिष्ठ जल गया (फिर) मित्र से ग्रहण की हुई उर्वशी में वरुण के तेज से उत्पन्न हुवा। ऐसी कथा पुराणों में सुनी जाती है उसकी भी (अन्य कथाओं की भाँति) उपेक्षा करनी चाहिये। क्योंकि मन्त्रों का अर्थ कई प्रकार का होता है (वाच्य और और इसमें लक्ष्य और)—(इसमें पूर्वपक्ष करते हैं) इस मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ है और युष्मद् शब्द का प्रयोग है (यदि

वाच्यार्थ न माना जाय तो अर्थ विरुद्ध प्रतीत होता है—
उत्तर— विरुद्ध अर्थ नहीं है क्योंकि वेदमन्त्र नित्य (अर्थात् उनमें किसी का इतिहास नहीं होता) ॥

दूसरे आक्षेप का उत्तर

(२) वाणी का नाम वशिष्ठ है यह कह चुके हैं इसलिये प्रथम के साथ ही दूसरे आक्षेप का उत्तर भी हो गया ।

तीसरे आक्षेप का उत्तर

(३) इन्द्र द्वारा वृत्र के बध की कथा वेद ब्राह्मण और भागवतादि पुराणों में है । निरुक्तकारने भी इस कथा को लिखा है ।

यह कथा शुद्ध पौराणिक है इसमें इतिहास के किसी व्यक्ति का नाम नहीं । निरुक्त में इसके लिये जो वेदमन्त्र दिये हैं उनमें वृत्र का मरना और उसका नाम इन्द्र शत्रु आया है । परन्तु अर्थ निरुक्त के अनुसार भी इन्द्रवृत्र युद्धपरक नहीं होता । प्रथम मन्त्र का अर्थ करके निरुक्तकार लिखते हैं कि—

"तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभाव-कर्मणो वर्ष कर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति ॥

१६

अर्थात्—तब वृत्र कौन हुआ ? निरुक्त के आचार्य कहते हैं कि वृत्र मेघ है। इतिहास वाले कहते हैं कि वह त्वष्टा का पुत्र एक दैत्य है। जल और अग्नि के कर्म मिलकर वर्षा होती है। यहाँ पर केवल इन्द्र और वृत्र का युद्ध उपमा के अर्थ से युद्ध के वर्णन वाला हो जाता है (शब्दार्थ—यहाँ उपमा के अर्थ से (शब्द) युद्ध के वर्णन करने वाले हो जाते हैं)। फिर **अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मण वादाश्च।** इस पर दुर्गाचार्य लिखते हैं कि—

ब्राह्मण वा दाश्च शाखान्तरेषु भवन्ति तद प्युपेक्षितव्यम्। अर्थात् इसमें ब्राह्मणग्रन्थों की कथा अनेक शाखाओं में हो जाती हैं। उसकी भी उपेक्षा करनी चाहिये। फिर **तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिर आपः। तस्मि न्हते वृत्राख्ये मेघेहते प्रसस्यन्दिर आपः प्रस्यन्दित वत्य आपः॥ दुर्गाचार्य॥** अर्थात् उस वृत्र नाम वाले मेघ के मरने पर (बिखर जाने पर) पानी बरसता है।"

चौथे आक्षेप का उत्तर

(४) पुरूरवा की कथा महाभारत में है। पुरूरवा ऐतिहासिक व्यक्ति है। उर्वशी कल्पनामात्र है। वेद में उर्वशी बिजली का नाम

और पुरूरवा मध्यस्थानीय देवता अथवा प्राण का नाम है—दुर्गाचार्य कहते हैं—**"प्राण एव हि पुरूरवा" ऐ० आ० ।**

निरुक्त में पुरूरवा शब्द को वेद में बताने के लिये जो मन्त्र हैं उसमें भी वर्षा का वर्णन है । (नि० १०,४६-४७)

ऊर्वशी अप्सरा नाम वद्युत्का । (निघं० ४।२) निरुक्त में एक और मन्त्र दिया है उसमें भी 'उर्वशी बृहद्दिवा—(दु० द्योतनवता विधूधुत्सहितेनोदकसमदहेन गृणाना शब्दायान्) है ।

पाँचवें आक्षेप का उत्तर

निरुक्तकार स्पष्ट लिखते हैं कि—

"आदित्योऽत्रजार उच्चते रात्रेर्जरयिता"
नि० ३ । १६ । ५ ॥

अर्थात् यहाँ पर सूर्य का नाम जार है क्योंकि वह रात्रि का जरण करता है । श्री० पं० सत्यव्रत सामश्रमीजी ने निरुक्तालोचन में अहल्या शब्द की व्युत्पत्ति "अहो लीयते ऽस्याम्" करके अहल्या का अर्थ उष:काल किया है । यह कथा इस प्रकार सङ्गत हो जाती है । इसमें गौतम की अहल्या और इन्द्र की कपोल कल्पित कथा की गन्ध भी नहीं । श्री म० म० दुर्गाप्रसाद द्विवेदीजी जो एक कट्टर पौराणिक हैं साहित्य दर्पण की भूमिका में वार्त्तिककार का मत इस जगह पर दिखाते हैं कि—

एवं समस्त तेजा परमैश्वर्य निमित्तेन्द्र शब्द वाच्यः सवितैव-अहनिर्लीयमानाया रात्रेरहल्या शब्द वाच्यायाः क्षमात्मक जरया हेतुत्वाज्जीर्यत्यस्मा दनेनैवोदितेनेत्यादित्यवाहुल्याजार इत्युच्यते न तु परस्त्री व्याभिचारात् ॥

छठे आक्षेप का उत्तर

(६) देवापि और शन्तनु की कथा जो कुरुवंश में उत्पन्न हुए थे और ऋषिसेन के पुत्र थे निरुक्त में २ मन्त्रों की सङ्गति लगाने के लिए कही गई है (नि० २, ११—१२) परन्तु निरुक्त उपक्रम के अनुसार तो यही प्रतीत होता है कि देवापि ने शतन्तनु का पुरोहित बन कर जिस वर्षकाम सूक्त से यज्ञ कराया था उसके मन्त्र उदाहरणार्थ दिए जाते हैं । परन्तु मन्त्रों में आर्ष्टिषेण देवापि शन्तनु इत्यादि नाम आये हैं इनका उत्तर इस प्रकार है ।

(क) देवापि दैवानामाप्त्या स्तुत्या च प्रदानेन च ।

अर्थात् देवापि जो स्तुति और यज्ञ से दिव्य गुणों को (शब्द० देवों को) प्राप्त होता है वह देवापि है (यह संज्ञा नहीं यौगिक शब्द है)

(ख) शन्तनुः शंतनोस्त्विति वा शमस्मै तन्वा अस्त्वितिवा ।

अर्थात्—शन्तनु वह है जो शरीर को सुखी रखने की इच्छा करता है । यह भी यौगिक शब्द है ।

यहाँ पर प्रकरण समुद्र (आन्तरिक्ष जल समूह या सागर) का है—विनियोग वर्षा की इच्छा से है । शब्द यौगिक हैं । एक बात विशेष याद रखने के योग्य है । यहाँ पर अन्त में दुर्गाचार्य लिखते हैं कि—

"निरुक्त पक्षे-ऋष्टिषेणो मध्यमः तद्यत्य मयमग्निः पार्थिव ऋष्टिषेणोदेवापि । स शन्तनवे सर्वस्मैयजमानायेतियोज्यम् । बृहस्पति वाचस्पतिरिति मध्यमः । स्तनयित्नु लक्षणां वाचमित्यर्थः ।

अर्थात्—निरुक्त पक्ष में इन मन्त्रों का अर्थ यह होता है कि-ऋष्टिषेण मध्यम अग्नि (विद्युत्) है उसका पुत्र यह पार्थिव अग्नि ऋष्टिषेण देवापि है । वह देवापि शन्तनुरूपी सभी यज्ञ करनेवालों को—ऐसी सङ्गति लगानी चाहिये । बृहस्पति वाचस्पति मध्यम (देवता) है । यहाँ पर (मन्त्र में) वाणी का अर्थ बादलों का गर्जना है । (प्रकरण समुद्र का है) मध्य स्थानीय और वही भौम पदार्थों में मिलने से भौमरूप बना हुआ अग्नि

रसों को ऊपर २ लेजाकर बादल के रूप में वर्षा करता है। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है—दुर्गा-चार्य ने यहाँ पर टीका शैली से उपसंहार किया है परन्तु इस टीका का मूल ये पाठ नहीं है। रौथ् वाली, कलकत्ते वाली, अजमेर वाली और बम्बईवाली पुस्तका में भी यह पाठ नहीं है। प्रायः १० वर्ष हुए मैं मैसूर में एक विद्यार्थी को निरुक्त का यही पाठ पढ़ा रहा था। जब मैंने यह बात उसको कही तो उसने कहा मेरे घर में एक हस्त लिखित पुस्तक है उसमें यह पाठ है परन्तु दुर्गाचार्य कृत टीका उसमें नहीं है। पुस्तक उसने मुझे दिखाई भी थी—परन्तु मैंने बम्बई से जब पत्र भेजा तो उसका कोई उत्तर न आया।

अस्तु—ये आक्षेप और उनका उत्तर निर्देश मात्र से बताये हैं। एक आक्षेप सामान्यतः यह भी होता है कि वेदों में वेदों और पुराणों की उत्पत्ति भी तो पाई जाती है। पुराण जब वेदों में नाम से ही हैं तो पुराणादि के बनने के बाद ही वेद हुए यदि ऐसा है तो पुराणों की कथा तो उनमें होनी ही चाहिये और उन्हीं कथाओं के होने को हम वेदों में इतिहास मान लेंगे। इसका उत्तर यह है कि वेदों में जिस विषय का नाम पुराण आदि है। वह वर्तमान कहानियों के ग्रन्थ या (Pre Vedic) हिस्ट्री नहीं है जैसा कि कई पश्चिमी विद्वान् मान बैठते हैं। वेद सभी विद्याओं का मूल है उसमे उल्लेख तो बहुत विद्याओं का होना अनिवार्य है। परन्तु इतिहास ऐसी विद्या है जिसका

उल्लेख होना वेद में इतिहास की कथाओं का होना नहीं कहाजासकता।

जैसे रथ में बैठ कर युद्ध करने का नाम किसी वेद मन्त्र में आया तो रथ विशेष या रथ में बैठ कर लड़नेवाले का नाम कुल या उस युद्ध का परिणाम नहीं हो सकता। क्योंकि वेद नित्य हैं। बाकी जितने पुराण और इतिहास वर्तमान में प्रसिद्ध हैं उनमें उनसे पूर्व वेदों का होना स्पष्ट पाया जाता है और वेद की अपेक्षा क्या ब्राह्मणादि ग्रन्थों की अपेक्षा भी इन ग्रन्थों की आयु बहुत कम है तब इनमें आई हुई बातें वेद वर्णित कैसे हो सकती हैं। हाँ वेदों में जो वेदोत्पत्ति पाई जाती है वह प्रथम तो उत्पत्ति ही नहीं केवल मनुष्यों की बुद्धि में वेदों का होने का प्रारम्भ है। फिर वेद में वेद की ही उत्पत्ति हो तो वह इतिहास होने को पुष्ट नहीं कर सकती। अथर्व वेद (११—२५—४) में जो पुराण शब्द आया है वह किसी विशेष पुराण या इतिहास के लिए नहीं आया है। "पुराणं यजुषासह" इत्यत्र पुराण पदेन पुराण मूलानां ब्राह्मणानामेव ग्रहणौचित्यात। ब्राह्मण भी कोई इतिहास के ग्रन्थ नहीं हैं। क्योंकि षड्गुरु शिष्य ने लिखा है कि "विधि-स्तुति करं वाक्यं ब्राह्मणं कथयन्ति हि" उपरोक्त सन्दर्भ यद्यपि संक्षिप्ततम है तथापि वेदों में इतिहास के न होने को प्रमाणित करने में मार्गदर्शक हो सकती है।

अब जरा वेदार्थ शैली के बारे में कुछ कहा जाता है। जब तक वेदों में इतिहास का अंश भी माना जायगा तब तक वेद का अर्थ होना बहुत कठिन क्या असम्भव है। वेदों में अर्थ करने के के लिये वेद के २ अङ्ग हैं व्याकरण और निरुक्त। जिनके प्रयोग करने में इतिहास से कोई भी सम्बन्ध नहीं। वेद के शब्दों को (नामों को) बताने के लिये निघन्टु है यद्यपि यह पर्याप्त नहीं है तथापि बहुत उपयोगी हो सकता है। व्याकरण से यौगिक अर्थ जहाँ ठीक न हो सकें वहाँ निघन्टु के अर्थ और उनको यौगिक बनाने के लिये निरुक्त की सम्मति बहुत उपयुक्त हो सकती है। इन दोनों में इतिहास का नाम भी नहीं। (जैसे लौकिक कोशों में "अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रयोः सुते" में अन्तिम पद है ऐसा निघन्टु और निरुक्त ये नाम और व्युत्पत्ति नहीं है। इतने पर काम न चले तो ब्राह्मण आरण्यक उपनिषदादि में पारिभषिक शब्दों को और उनके अर्थों को उपयोग में लाया जा सकता है। वहाँ भी कोई पारिभाषिक अर्थ इतिहास को वताने वाला नहीं है। जब इस प्रकार वेदों के अर्थ हो सकते हैं तो उनमें इतिहास मानने की क्या आवश्यकता ? जब कि वह किसी प्रकार उनमें हो ही नहीं सकता। क्या वेद में लक्ष्मी शब्द आगया तो लक्ष्मी नाम वाली आजकल की सभी देवियों (स्त्रियों) का जीवन चरित्र वेदमान लिया जाय ? इसी प्रकार वेदों में आये हुए नाम यौगिक हैं। कई इतिहास-प्रसिद्ध,

व्यक्तियों के ही वह नाम रक्खे गये थे। उन नामों को रखनेवालों ने तो वैदिक भाषा से अपना प्रेम और सम्बन्ध बताया था परन्तु परिणाम यह हुआ कि लोग उन नाम वालों की जीवनी वेदों में बताने और खोजने लगे।

अब हम उपसंहार में कुछ हेतु ऐसे देते हैं कि जो वेद में इतिहास के न होने के सिद्धान्त को पुष्ट करेंगे।

(१) "विनियोक्तव्य रूपो यः समन्त्र इति कीर्त्यते" षड्गुरुशिष्यः

अर्थात् (मन्त्र शब्द संहिता के लिए हैं) जिसका विनियोग किया जाना चाहिये वह मन्त्र (अर्थात् वेद) कहलाता है—यहाँ इतिहास का नाम नहीं।

(२) "उपास्यैताः कृत्स्नशो देवता याः।
ऋचोहि यो वेद सवेद देवान्॥
यजूंषि यो वेद सवेद कर्म (यज्ञम्)।
सामानि यो वेद सवेद तत्वम्॥"

(शौनकीय बृहद्देवता)

अर्थात् बृहद्देवता में बताये क्रम के अनुसार देवताओं की उपासना पूर्णतया करके जो ऋग्वेद को जानता है। वह देवों (अग्नि, वायु, आदि दिव्य पदार्थों) को जानता है। जो यजुर्वेद

को जानता है वह कर्म (यज्ञ) को जानता है। और जो सामवेद को जानता है वह तत्व (अध्यात्मज्ञान को) जानता है। इसमें भी कहीं किसी वेद का विषय इतिहास नहीं आया॥

(३) निरुक्त के दैवत काण्ड में ऋषियों को मन्त्रों के ज्ञाता कहा गया है वहाँ पर मन्त्रों के अभिप्रायों के ६ प्रकार के भेद बतायें हैं यथा—(दिव्य पदार्थों की)

(क) **स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः** किसी मन्त्र में स्तुति ही है न कि आशीर्वाद।

(ख) **अथाप्याशीरेव नस्तुतिः** कहीं आशीर्वाद ही है न कि स्तुतिः।

(ग) **अथापि शपथाभि शापौ।** कहीं गाली और कसम है।

(घ) **अथापि कस्यचिद्भावस्याचिख्यासा।** कहीं किसी भाव (सिद्धान्त या पदार्थ) को कहने की इच्छा है। (यह सिद्धान्त विज्ञान से भरा है)

(ङ) **अथापि परिदेवना कस्माश्चिद्भावात्।** कहीं किसी भाव से दुःख प्रकट करना है।

(च) **अथापि निन्दाप्रशंसे** कहीं निन्दा और प्रशंसा है।

इन ६ में भी कहीं इतिहास का नाम निरुक्तकारने नहीं लिया फिर अन्त में कहा है कि—

"एव मुच्चावचै रभिप्रायैऋषीणा मन्त्र दृष्टयो भवन्ति ।"

अर्थात् इस प्रकार अनेक प्रकार के अभिप्रायों से ऋषियों की मन्त्र दृष्टिएं होतीं हैं। अर्थ यह है कि उप रोक्त प्रकारों के मन्त्रों के अर्थों को ऋषियों ने पहिले जाना है।

(४) वेद मन्त्रों के अर्थ करने में व्याकरण के 'समर्थः पद विधिः। इस सूत्र को न भूलना चाहिये। सामर्थ्य दो प्रकार से होता है एक व्यपेक्षाकृत दूसरा आकांक्षादि कृत। जब वेदों में इतिहास माना जाय तो सान्निध्याभावात् आकांक्षादिकृत सामर्थ्य नहीं रहेगा। क्योंकि एक व्यक्ति का नाम (यद्यपि व्यक्ति के नाम वहाँ हैं ही नहीं तथापि तुष्यतुबालिश न्यायसे यदि कोई व्यक्ति नाम मान भी लेवे तब) कहीं एक स्थान में हैं तो उससे सम्बन्ध रखने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति नामाभास कहीं दूर इतस्ततः बिखरे हुए पाये जाते हैं। और वेद में इतिहास मानने से योग्यताऽभाव भी है क्योंकि—

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विन्दन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥" मनु०

जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमिति से भी नहीं प्राप्त होता। या जाना जाता है वह वेद से प्राप्त होता है इसी लिये वेद की वेदता है। यहाँ पर वेद से उपायों का अवगत होना बताया है न कि किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के चरित्र वृत्तान्त को। जब वेद का उपाय ज्ञान साधन है और प्रत्यक्ष और अनुमान से भी दुरधिगम ज्ञान (विधि-अथवा कर्त्तव्योपदेश) के प्राप्ति का साधन है तब उसमें इतिहास ढूँढना या बताना वह्निना सिन्चति इतिवत् योग्यता रहित होने से वेद में इतिहास बताने वालों की भी योग्यता का पता देता है।

(५) वेदों में चत्वारि शृङ्गा इत्यादि मन्त्र में व्याकरण है। क्योंकि वेद के एक मन्त्र में व्याकरण शास्त्र है। इसीलिए व्याकरण को पृथक् नहीं बताया। इसी प्रकार वेद में इतिहास होता तो 'पुराणं यजुषा सह' इस मंत्र में इतिहास-वाचक पुराण शब्द न आता! यहाँ पृथक् शब्द का आना ही बताता है कि वेद में यह विषय नहीं है। यदि कहीं भी होता तो व्याकरण के समान वेद में ही अन्तर्भावित मान कर इसका उल्लेख पृथक् न होता।

(६) इतिहास मानने से वेद की नित्यता पर कितना आघात पहुँचता है यह तो पुनरुक्ति ही है।

इस छोटे लेख में हुआ दिग्दर्शन आशा है मेरे वक्तव्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होगा। शमित्योश्म्

मुद्रक—रघुनन्दन शर्मा, हिन्दी प्रेस, प्रयाग।

जाति-विवेचना

[लेखक—पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्म्मा]

जो धर्म अनेक व्यक्तियों में रहे और नष्ट न होता हो उसे जाति कहा जाता है। आकृति को देख कर जति का ज्ञान होता है। जीवित और जीवन हीन पदार्थों के आकार एक से नहीं होते इसलिये उनसे विविध जातियों की प्रतीति होती है। गौ का आकार भैंस से भिन्न है इसलिए गौ में गौत्व का और भैंस में महिषत्व का दर्शन है। साधारणरूप से जाति के दो विभाग हैं, पर और अपर। जो अधिक स्थान में रहने के कारण व्यापक हो उसे पर कहते हैं। न्यून स्थान में रहनेवाली व्याप्य जाति का नाम अपर है। सत्ता जाति पर है, यह द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती है। द्रव्य में द्रव्यत्व, गुण में गुणत्व कर्म में कर्मत्व रहता है। ये सत्ता में अपर जातियां हैं। द्रव्यत्व पृथिवीत्वादि की अपेक्षा, गुणत्व रूपत्वादि की अपेक्षा और उत्क्षेपणत्वादि की अपेक्षा कर्नत्व पर है। पार्थिव पाषाण वृक्ष आदि वस्तुओं में रहने वाली पाषाणत्व वृक्षत्व आदि जातियां अपर ही होती हैं। अन्तिम अव-

यवी—जिनसे कोई इतर अवयवी नहीं उत्पन्न होता—में रहनेवाली जाति किसी की अपेक्षा पर नहीं होती। सत्ता से बढ़ कर अधिक स्थानों को व्याप्त करनेवाली कोई जाति नहीं होती इसलिये वह पर ही है। पर की तरह सत्ता सर्वदा सामान्य स्वरूप रहती है। पर इतर जातियां सामान्य विशेष स्वरूप हैं। सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म इन सब को सत् रूप से एकाकार बतलाती है। किसी से पृथक् नहीं करती। द्रव्यत्व जहां द्रव्यों को एक रूप का बतलाता है वहाँ गुण आदि से भिन्न भी करता है। इस विशेषता के कारण वह विशेष भी है। सत्ता के विना सब सामान्य विशेष भी हैं।

प्रायः जातियों को आकार देख कर जानते हैं। भगवान् गौतम ने आकृति उसको कहा है जो जाति और जाति के लोगों को बतलाये "आकृति जातिलिङ्गाख्या"। गौ आदि व्यक्तियों के नियत आकार को देखकर लोगों को गोत्व का पता चलता है। पर जिन का आकार ही नहीं उन में रहने वाली जाति आकृति से नहीं प्रकट होती। न्यायवार्तिककार उद्द्योतकराचार्य कहते हैं—

"यत्राकृति व्यङ्ग्या जातिर्नभवति यथा मृत्यु वर्ण रजतमिति। आकृतौ नियमो न जातौ, सर्वाकृति र्जातिलिङ्ग मिति न पुनः सर्वाजातिराकृत्या लिङ्ग्यते।"

(न्या० वा० २ अ० २ आ० सू० ६९ पृ० ३३३)

अर्थात् मिट्टी सोना चाँदी आदि का आकार गौ भैंस आदि के

समान विलक्षण नहीं होता। इनकी आकृति जाति नहीं बतलाती। आकृति में नियम है जाति में नहीं। हर एक आकृति जाति का लिङ्ग है। प्रत्येक जाति के ज्ञान में आकृति कारण नहीं है।

इसको व्याख्या में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

"मृत्सुवर्ण रजतादिकाहि रूपविशेषव्यङ्ग्या जाति नीकृतिव्यङ्ग्या, ब्राह्मणत्वादि जातिस्तु योनिव्यङ्ग्या, आज्य तैलादीनां जातिस्तु गन्धेन वा रसेन वा व्यज्यते"

(न्या० वा० ता० टी० पृ० ४८४)

अर्थात् मिट्टी सोने चाँदी आदि की जाति विशेष रूप से प्रतीत होती है। मिट्टी सोने या चांदी के आकार में इतना अन्तर नहीं पर रूप का भेद स्पष्ट है। चांदी का श्वेत और सोने का पीत रूप है। ब्राह्मणत्व आदि जाति को योनि प्रकट करती है। जिस के माता-पिता के ब्राह्मण होने का ज्ञान हो उसे अनायास ब्राह्मण कह देते हैं। घी तैल आदि की जाति का ज्ञान गन्ध या रस से होता है।

प्राणियों में गोत्व महिषत्व आदि अवान्तर जातियों के समान मनुष्यों में ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वैश्यत्व शूद्रत्व नाम की प्रधान और इतर सङ्कर जातियों को अवान्तर जाति मानकर इन विद्वानों ने वर्ण-व्यवस्था को जाति-मूलक माना है। जाति व्यक्ति में जन्म से ही रहती है इसलिये वह जन्म मूलक हो गई। दूसरी ओर बौद्ध

मनुष्यमात्र को समान समझते हैं। जन्म से ही अपरिहार्य वैषम्य उनकी दृष्टि से मनुष्यों में नहीं है। वे न केवल ब्रह्मणत्वादि जातियों को नहीं मानते प्रत्युत नित्यजाति मात्र का निषेध करते हैं। इनके यहाँ व्यक्ति प्रत्यक्ष है। उस से अतिरिक्त जाति वास्तव में कुछ नहीं। बौद्ध कहते हैं जब गौ दिखाई देती है तब आकार और रूप के अतिरिक्त इतरवस्तु उस में रहती हुई नहीं दिखाई देती। प्रत्यक्ष में नैयायिक और बौद्ध की विप्रतिपत्ति हुई, अब अनुमान देखना चाहिये। जो पदार्थ विलक्षण आकार के हैं उनमें एकाकार की प्रतीति नहीं होती। यदि उनमें कोई एक ज्ञान हो तो उसका कारण एक ही होना चाहिये। वस्त्र, चर्म और कम्बल परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इनमें एक प्रकार की बुद्धि नहीं हो सकती। कोई भी इन तीन पदार्थों को एक रूप की वस्तु नहीं समझता। यदि इन तीनों को लाल रंग से रंग दिया जाय तो सब लाल प्रतीत होते हैं। इस अनुभव का स्पष्ट कारण लाल रंग है। वह सब में है और सब अरुण हो गये हैं। इसी प्रकार बहुत-सी गौओं में भी एकाकार बुद्धि होती है। दो बरस की हो, जवान हो, बूढ़ी हो, काली हो, पीली हो, मोटी हो, पतली हो, कैसी भी हो गौ कहते हैं। वह कौन सी वस्तु है जो सब को एक प्रकार का बना रही है। हरे पीले श्वेत चित्र विचित्र फूलों को एक स्थान में करने के लिये सूत्र की तरह कोई वस्तु चाहिये जो सब प्रकार की विभिन्न गो व्यक्तियों से सम्बन्ध करके एक बुद्धि करदे। यह सूत्र के समान व्यक्तियों में अनुगत वस्तु है गोत्व जाति जो सब में रहती है।

बौद्धों में शान्तरक्षित नाम के बड़े भारी विद्वान् थे। तिब्बत में जाकर इन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। इनके शिष्य श्री कमलशील नालन्दा विश्व-विद्यालय में तन्त्र शास्त्र के अध्यापक थे। इन्होंने 'तत्व संग्रह' नामक ग्रन्थ में सामान्य परीक्षा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया है—

यथा धात्र्य भयादीनां नानारोग निवर्त्तने।
प्रत्येकं सह वा शक्तिर्नानात्वेऽप्युपलभ्यते ॥७२३॥
न तेषु विद्यते किंचित्सामान्यं तत्र शक्तिमत्।
चिरक्षिप्रादि भेदेन रोगशान्त्युपलम्भतः ॥७२४॥
सामान्ये ऽतिशयः कश्चिन्नहिक्षेत्रादि भेदतः।
एक रूपतया नित्यं धात्र्यादेस्तु सविद्यते ॥७२५॥
एवमत्यन्नभेदेऽपि केचिन्नियतशक्तितः।
तुल्य प्रत्यवमर्शादेर्हेतुत्वं यान्ति नापरे ॥७२६॥

अर्थात् हरड़ बहेड़ा आंवला आदि औषधियां एक एक करके या मिलकर नाना व्याधियों को दूर करती हैं। औषधियां आकार में अलग होती है रूप-रंग भी उनका विलक्षण होता है फिर भी रोग-विनाश में मिलकर काम करती हैं। उन औषधियों में एक सामान्य नहीं होता जो उन से एक काम कराता है। सामान्य कारण होता तो वे एक एक या मिल कर कभी किसी को जल्दी और कभी किसी को शीघ्र लाभ न देतीं। सामान्य सदा एक रस है उसमें विलक्षणकार्य के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

न्यूनाधिक गुण वाले क्षेत्रों में उत्पन्न होने से या किसी अन्य कारण से औषधियों में गुणों का तारतम्य उत्पन्न हो सकता है। सामान्य नित्य है उसमें किसी प्रकार का विकार असंभव है। इन औषधियों के समान वृक्ष आदि पदार्थ भी अपने अपने कारणों से नियत शक्ति वाले उत्पन्न होते हैं। वे अपनी स्वाभाविक शक्ति से नियत और अनुगत प्रत्यय उत्पन्न कर देते हैं।

इस दृष्टान्त से सामान्य का निराकरण नहीं हो सकता। औषधियों में रोग हटाने की शक्ति है, उसके लिये सामान्य की अवश्यकता नहीं है। जिस पदार्थ से जिस की उत्पत्ति हो उन दोनों को कार्य कारण कहते हैं। औषधि का रस जिस जिस दोष का विरोधी है वह वह दोष नष्ट होता जाता है। ज्ञान और विषय का कार्य कारण भाव इस शैली से अनियत नहीं है। वस्तु के अधीन ज्ञान है। जिस प्रकार एक औषधि या नाना औषधियाँ मिलकर कभी एक रोग को दूर करती हैं और कभी दूसरे को, या कभी शीघ्र लाभ देती हैं और कभी देर से इस प्रकार वस्तुयें कभी एक ज्ञान को और कभी दूसरे ज्ञान को नहीं उत्पन्न करती हैं। वस्तु को इन्द्रियां सम्बन्ध होते ही प्रत्यक्ष करा देती हैं कोई विलम्ब नहीं होता। इसलिये वस्तु और ज्ञान का विषय-विषयि भाव अनियत नहीं है। कोई भी पदार्थ हो वह अपना ही ज्ञान करा सकता है अपने समान व्यक्तियों में एकाकार प्रत्यय उसका विषय नहीं है। एक रोग हरड़ से दूर होता है तो आंवले से भी हो सकता है पर पत्थर का ज्ञान पत्थर से पैदा हुआ है तो वृक्ष से नहीं पैदा होता। जहाँ कहीं रस्सी

में साँप की प्रतीति होती है वहाँ भ्रम होता है। बहुत सी औषधियों के मेल से बना, अवलेह, चूर्ण या रस नया सामर्थ्य रखता है। अकेली औषधि जिसे न नष्ट कर सकती थी उसे मिलकर उखाड़ देती है। वस्तुओं में ज्ञान उत्पन्न करने का सामर्थ्य इस ढंग से नहीं है। यदि मिलकर वस्तुयें नये ज्ञान को पैदा करती तो कांच फूल लोहा चाँदी लकड़ी दवात आदि के इकठ्ठा होने पर वृक्ष का ज्ञान होने लगता। समूह में क्रम से या क्रम के बिना रक्खे हुए अपना अपना ज्ञान ही कराते हैं। अनुगत ज्ञान भी व्यक्तियों का अपना नहीं है। अतः उसका कारणान्तर आवश्यक है।

ज्ञान और नाम के अनुगत हाने का कारण संकेत को बता कर भी शान्तरक्षित सामान्य का निषेध करते हैं —

हेतावाद्येऽपि वैफल्यं समयाभोगभाविता।
तेषामिष्टैव संसर्गी सोन्वयव्यतिरेकवान् ॥७३२॥

अर्थात् संकेत सभी को मानना पड़ता है। बिना संकेत के कोइ ज्ञान होता ही नहीं। संकेत का सम्बन्ध सब व्यक्तियों से है इसलिये सब में गौ या भैंस अनुगत प्रत्यय और नाम होता है। संकेत एक अनुरूप सर्व सम्बन्धी निमित्त है। उसके रहते सामान्य की क्या आवश्यता। पर इस से सामान्य का निषेध तो दूर रहा उल्टा सामन्य मानने के लिये विवश होना पड़ेगा। वाच्य वाचक संबन्ध को संकेत कहते हैं। जिस ने वृक्ष पद को शाखा पत्र-फल पुष्पादि

से युक्त किसी वस्तु का वाचक समझा उस ने एक दो या पाँच दस वस्तुओं को देख कर समझा होगा। समग्र वृत्त उस के दृष्टि-गोचर नहीं हो सकते। जिन का वाचक समझ उन्हें देखकर गौ का ज्ञान और व्यवहार हो जाय पर इतर वृत्तों को देखकर न ज्ञान ही होना चाहिये और न व्यवहार ही ? इसलिये संकेत भी सामान्य की अपेक्षा रखता है।

जाति अनुगतबुद्धि को अवश्य उत्पन्न करती है। पर अनुगत बुद्धि का कारण जाति ही नहीं होती। रसोई बनाने वालों को पाचक और अध्यापकों को अध्यापक कहा जाता है।

जब से रसोई बनाने का काम किया तब से पाचक कहते हैं। यदि पाचकत्व भी जाति होती तो आरम्भ से ही उसका ज्ञान होता फिर यदि कोई कुछ दिन रसोइया रह कर पीछे चिरकाल तक रसोइये का काम न करे तो उसे पाचक नहीं कहा जाता। इस से भी वह जाति नहीं सिद्ध होती। व्यक्ति के विद्यमान होने पर जाति सदा रहती है और अनुभव में आती है। पाचकत्व उपाधि है। उपाधि सब प्रकार की होती है। यहाँ पाचकत्व का स्वरूप है पाक में योग्यता। इस पर शान्तरक्षित जी का आक्षेप है—

न पाचकादिबुद्धिनामस्ति किंचिन्निबन्धनम्।
कर्मादि चेत्प्रतिव्यक्ति ननुतद्भिद्यते तथा ॥७८०॥

भिन्नेऽष्वन्वयिनो ऽसत्वे न युक्तान्वयिनी मतिः ।
इत्येकमिष्टं सामान्यं सर्वव्यक्त्यनुष्टन्तिमत् ॥७६१॥

कर्मान्वय द्ररिद्रं च यदि हेतु, प्रकल्प्यते ।
तथा व्यक्तय एवास्याः किमितीष्टा न हेतवः ॥७६२॥

पाचकादिमतिर्नस्याततन्न चोपरतक्रिये ।
न सदासन्निधानं हि कर्मेष्टं जाति वत्परैः ॥७६३॥

अतीतानागतं कर्म निमिन्त्तकृयतेषुचेत् ।
पाचकादिषु धीशब्दौ तन्न हेतुरसत्वतः ॥७६४॥

अर्थात् पाक के कारण अनुगत पाचक बुद्धि नहीं हो सकती । एक अनुगामी निमित्त के विना अन्वयशील ज्ञान नहीं बनता । इसलिए आप सामान्य मानते हैं । यदि व्यक्ति की तरह विलक्षण विलक्षण पाक कर्म एक अनुगामी प्रत्यय कर दे तो व्यक्तियों ने कौन-सा अपराध किया है । उन्हें ही क्यों न इस ज्ञान का कारण मान लिया जाय ! फिर पाचक प्रतिक्षण पकाता ही नहीं रहता, उसे और भी बहुत कुछ करना होता है। उस अवस्था में पाक कर्म न होने से पाचक न समझना चाहिए । अतीत या अनागत पाक कर्म उसे पाचक समझने का कारण नहीं बन सकता । जो है नहीं वह किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता ।

पाक योग्यता को कारण मान लेने पर सब शंकाओं का समाधान हो जाता है । योग्यता पाचक में त्रैकालिक है । जब पका रहा

है तब योग्यता स्पष्ट है और जब नहीं पकाता तब योग्यता अव्यक्त है। शान्तरक्षित जो योग्यता को भी असमर्थ बतलाते हैं--

प्राधान्यं किमिदं नाम न शक्तिरसमन्वयात्।
द्रव्य क्रियागुणात्मादि नात एवावकल्प्यते ॥७६३॥

अर्थात् योग्यता यदि शक्ति रूप है तो वह प्रत्येक आत्मा में भिन्न भिन्न है इसलिए अनुगत ज्ञान नहीं करा सकती। शक्ति को द्रव्य गुण या कर्म कहा जाय तो भी यही बात है। ये सभी व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् रहते हैं। यह सब ठीक। शक्ति आत्माओं की अपनी अपनी हैं। आत्माओं की शक्तियों को शक्ति रूप से एक मान कर एक शक्ति को अनुगामी उपचार से कहा जा सकता है। शक्ति के औपचारिक अनुगम से सभी पाचक पाचक हैं।

उपलक्षण मानकर पाक कर्म से भी पाचक बुद्धि हो सकती है। हर एक पाचक के पाक कर्म अलग अलग हैं। कर्मत्व जाति से वे सब कर्म एकाकार हैं। जाति द्वारा पाक का पाचक मात्र में सम्बन्ध है। कर्म नष्ट होने पर भी उपलक्षणीय पाचक का ज्ञान करा देता है। स्वयं नाश हो जाने पर भी सम्बन्धी पदार्थ का ज्ञान कराना उपलक्षण का स्वभाव है। जब देवदत्त के घर को कौए से उपलक्षित करके बतलाया जाता है तब कौए के उड़ जाने पर भी देवदत्त के घर का ठीक ज्ञान हो जाता है। कौए के जाने पर काक

युक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि उस समय कौए का संयोग नहीं होता। पाचक समझने के लिए पाक कर्म का सम्बन्ध ज्ञान होना चाहिए। चाहे कर्म विद्यमान हो या अतीत। जो पाक रहा हो उसे हो पाचक नहीं कहते। जो कभी पका चुका है या पकायेगा वह भी पाचक है। उपलक्षण होने से पाक कर्म का ज्ञान साक्षात पाचक प्रतीति का कारण है पाक कर्म नहीं। अनागत धूम के ज्ञान से नई रसोई में जब लोग भविष्यत में वह्नि का अनुमान करते हैं तब धूम उपलक्षण होता है और धूम का ज्ञान हेतु होता है। श्रीकमल-शील जी की उक्ति से प्रतीति होता है—शङ्कर स्वामी नाम के प्राचीन विद्वान कर्मत्व जाति को उपलक्षणीय मानकर पाक कर्म से शून्य पुरुष में पाक कर्म द्वारा पाचक बुद्धि का अनुगम करते थे। इस पक्ष में शान्तरक्षित जी का दोष बना ही रहता है।

दण्डाङ्गदादिजाती नामेकदा नहि लक्षणे।
तद्वियोगेऽपि दण्डयादिमतिस्तेषु प्रवर्त्तते ॥७८७॥

अर्थात् यदि जाति के एक बार लक्षित होने से कर्मत्व सम्बन्धी ज्ञान पैदा कर दे तो एक बार दण्डत्व जाति के जान लेने पर दण्ड के बिना भी पुरुष दण्डवान प्रतीत होना चाहिये। जाति के नित्य होने से कर्म अपना सम्बन्ध नष्ट होने पर दिखा सके और दण्डत्व जाति के नित्य होते हुये भी अपना सम्बन्ध न प्रकाशित कर सके इसमें कोई युक्ति नहीं है। कर्म से कर्ता को उपलक्षित मानने पर यह आपत्ति नहीं रहती। कर्म उपलक्षण होता हुआ

क्षणिक है ! नाश होने पर अपने वर्त्तमान सम्बन्ध को नहीं प्रकट करता ! उपलक्षित की प्रतीति के लिये पूर्वकाल का सम्बन्ध भी पर्याप्त है। एक बात और भी, क्रिया से उपलक्षित हुई कर्मत्व जाति और संबन्ध कर्म और कर्त्ता का ज्ञान हुआ यह कैसे ? कौए से घर उपलक्षित होता है तो घर को छोड़ कर कौए और घोंसले का सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता।

शान्तरक्षित एक नवीन आक्षेप करते हैं—

इच्छारचितरूपादावर्थे जातिर्नविद्यते ।
व्यक्तेरसम्भवादेव स्थिता तद्व्याभिचारिता ॥७८९॥
अतीतानुपजातेषु नित्यसामान्यगोचरम् ।
ज्ञानं चेत्केवलं चेदं सामान्यं गृह्यते न तु ॥७९०॥
केवलस्योपलम्भेवा न व्यक्तीनामिदं भवेत् ।
सामान्यं न च तद्व्यङ्ग्यं विन्ध्यस्येव हिमालयः ॥७९१॥
नोत्पत्ति पारतन्त्र्यण प्रतिबद्धं हि तास्विदम् ।
न ज्ञानपारतन्त्र्यं च नित्यत्वात् केवल ग्रहात् ॥७९२॥
स्वाश्रयेन्द्रिय योगादिव्य पेक्षाया असंभवात् ।
तत्सदैवोपलभ्येत यदि वा न कदाचन ॥ ७९३ ॥
स्वात्मनि ज्ञानजनने योग्यं वाऽयोग्य मेव वा ।
यद्यंकदात्तदारूपं सर्व दैवहि तद्भवेत् ॥७९४॥

तस्य योग्यमयोग्यं वा रूपं यत्प्रकृतिस्थितम् !
तद्ध्रौव्यादप्रकम्प्यं हि को नाम चलायेष्यति ॥७९८॥

अर्थात् काल्पनिक पदार्थों में अनुगत प्रत्यय होता है । अनेक लोग कल्पित मनुष्यों का चरित्र लिखते हैं । परमार्थ में न होने पर भी उन सब को लोग मनुष्य समझते हैं । जो वस्तुएँ नष्ट हो चुकी हैं या जो अभी उत्पन्न होंगी उन में भी लोगों का एकाकार ज्ञान होता है । जो मकान गिर चुके हैं और जो बनेंगे उन सब को घर कहते हैं । काल्पनिक अतीत और अनागत पदार्थों में जाति नहीं रह सकती । वास्तव में इनकी सत्ता ही नहीं, फिर जाति कैसे रह सकती । यदि व्यक्तियों के विना सामान्य को विद्यमान कहा जाय तो सिद्धान्त का व्याघात है । स्वतन्त्र रूप से सामान्य का ज्ञान हो तो व्यक्तियों के साथ उसका कोई सम्बन्ध न रहेगा । व्यक्तियां सामान्य के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का सम्बन्ध रख सकती है । किन्तु नित्य जाति पर व्यक्ति का कोई उपकार असम्भव है इसलिये वह व्यञ्जक भी नहीं । उपकार शून्य पदार्थ व्यञ्जक नहीं होता जिस प्रकार विन्ध्य का हिमालय । नित्य होने के कारण ही व्यक्ति जाति की उत्पादक भी नहीं इसलिए कार्य कारण भाव भी गया । व्यक्ति की अपेक्षा उसका ज्ञान हो सो बात भी न रही, अभी सामान्य का स्वतंत्र ज्ञान मानना पड़ा है । इन्द्रिय आत्मा या मन के संयोग की अपेक्षा भी उसे नहीं हो सकती । यदि वह ज्ञान उत्पन्न कर सकता है तो सर्वदा करता रहे । और यदि असमर्थ है

जो कभी न उत्पन्न होना चाहिये। उस की नित्य शक्ति को कोई बदल नहीं सकता।

अब देखिए, यह उलझन भी दूर होती है। काल्पनिक अतीत और अनागत पदार्थों में जाति से अनुगमशाली ज्ञान नहीं होता। आप ने जो दोष दिए हैं वे स्पर्श नहीं करते। इनमें अनुगत बुद्धि का कारण और कुछ है। पर इस से जहाँ बाधक नहीं है वहाँ जाति का निषेध नहीं हो सकता। काल्पनिक व्यक्ति में मनुष्य बुद्धि मुख्य नहीं गौण है। मनुष्यत्व का काल्पनिक सम्बन्ध उनमें मनुष्यत्व का समन्वय दिखलाता है। अतीत और अनागत मनुष्यों में अनुगत मनुष्यबुद्धि को मनुष्यत्व का ज्ञान उत्पन्न करता है। इस अवस्था में मनुष्यत्व उपलक्षण है। अतीत मनुष्य जो मनुष्य प्रतीत होते हैं उसका कारण मनुष्यत्व का संबन्ध नहीं, उपलक्षण है। वे मनुष्यत्व से उपलक्षित हैं। काक के उड़ने से काक और घर का सम्बन्ध नहीं रहता। मनुष्य के नष्ट होने से मनुष्यत्व का सम्बन्ध नहीं है। उपलक्षित दोनों हैं। रही सामान्य के ज्ञान की बात सो उसमें आत्मा मन आदि के संयोग की आवश्यकता है। नित्य होने से बिना साधन के ज्ञान नहीं होने लगता। नित्य हो या अनित्य, विषय होने के कारण ज्ञान का साधन है। असाधारण कारण इन्द्रियाँ हैं उनके बिना ज्ञान असंभव है।

सामान्य का व्यक्ति के साथ आधाराधेयभाव नहीं बनता इस से भी शान्तरक्षित सामान्य को अनुपपन्न कहते हैं—

अपि चानेकवृत्तित्वं सामान्यस्य यदुच्यते।
तत्र केयंमतावृत्तिः स्थितिः किं व्यक्तिरेव वा॥७९८॥

स्वरूपाप्रच्युतिस्तावत्स्थितिरस्य स्वभावतः।
नाधरस्तत्कृतौ शक्तो येन स्थापकता भवेत् ॥७९९॥

गमनप्रतिबन्धोऽपि न तस्य बदरादिवत्।
विद्यते निष्क्रियत्वेन नाधारोऽतः प्रकल्प्यते ॥८००॥

स्थिति स्तत्समवायश्चेन्न तदेव विचार्यते।
सोऽभनिष्टोऽयुतसिद्धानामाश्रयाश्रयितात्मक ॥८०१।

अर्थात् जाति व्यक्ति में रहती है, इस रहने का भाव स्वरूप के अविकृत रहने से हो तो इस में व्यक्ति को क्या काम! नित्य होने के कारण आत्मा या परमाणुओं की तरह उसमें कोई विकार नहीं है। आधार उसको विकारों से नहीं बचा सकता? बेर जिस प्रकार पात्र में रहते हैं इस प्रकार भी जाति व्यक्ति में नहीं रह सकती। यदि पात्र न हो तो बेर नीचे गिर जाँय इसलिये पात्र उनके पतन को रोक कर आधार कहलाता है? जाति निरवयव व्यापक है, उसमें क्रिया नहीं हो सकती तो गति कहाँ से होगी। कहने के लिये व्यक्तियों में समवाय को जाति की स्थिति कह लीजिये पर यह उत्तर नहीं है। अयुतसिद्ध पदार्थों के आश्रयाश्रयि भाव को आप समवाय कहते हैं और उसी आश्रित होने के ढंग का विचार हो रहा है। संबन्ध से यदि कुछ होता नहीं तो आधारा-

धेय भाव कैसा ? यह सारा आक्षेप एक प्रकार का आधाराधेयभाव मानने से हुआ है। जहाँ संयोग होता है वहाँ एक दूसरे को गिरने से रोकता है। बेर इतना बड़ा नहीं होता कि प्रत्येक अवयव में व्याप्त हो के पात्र में रहे। छोटा होने से उसकी गति रुक सकती है। जाति व्यक्ति में सर्वथा व्याप्त हो रही है और न व्यक्ति के बिना कहीं थी इसलिये न वह गिरती है न रुकती है। संयोग होने पर भी सब स्थानों में एक प्रकार से आधाराधेय की स्थिति नहीं होती। बेर ऊपर होता है और पात्र नीचे। बाँध और नदी-जल के संयोग में दोनों एक दिशा में सीधे हैं। जाति और व्यक्ति संबन्ध इन से विलक्षण है। व्यक्ति न नित्य स्वरूप की रक्षा के कारण आधार है और न गति रोकने से; वह आधार है तो इसलिये कि जाति कभी पृथक् प्रतीत नहीं होती।

आचार्य प्रशस्तपाद व्यक्तियों में जाति की स्थिति के लिये सीमा के सम्बन्ध में दो पक्ष बतलाते हैं। एक पक्ष में जाति केवल अपने आश्रयों में रहती है। दूसरे पक्ष में जाति आकाश के समान सब जगह पर है। इस पर शान्त रक्षित पहले पक्ष को लेकर कहते हैं—

तत्र देशान्तरे वस्तुप्रादुर्भावे कथंनु ते।
दृश्यन्ते वृत्ति भाजो वा तस्मिन्निति न गम्यते ॥८०६॥
नहि सेम सहोत्पन्ना नित्यत्वान्नाप्यवस्थिताः।
तत्र प्रागविभुत्वेन न चायान्त्यन्यतोऽक्रिया ॥८०७॥

अर्थात् आप के पक्ष में जाति अपने विषय की व्यक्तियों में विद्यमान है। जब कहीं नयी गौ उत्पन्न होती है तब उसमें गोत्व कैसे रहा ? वह नित्य है गौ के साथ भी नहीं पैदा हुई, पहले से उस स्थान पर नहीं थी, किसी इतर गौ से आ भी नहीं सकती क्योंकि निष्क्रय है। इसलिये श्रीकमलशील अनुमान का प्रयोग करते हैं—जो जहाँ न उत्पन्न होते हैं न पहले से रहते हैं न पीछे कहीं से आते हैं उनकी न वहाँ प्रतीति होती है न सत्ता, जिस प्रकार शशक के सिर पर उसका सींग। घर आदि से शून्य स्थान में नये घर आदि के उत्पन्न होने पर जाति भी इसी प्रकार की है, इसलिये वह भी वहाँ नहीं है। ये सब विकल्प सामान्य के नैसर्गिक स्वरूप को न जान कर हैं। जब कहीं कोई उत्पन्न होता है तो उत्पत्तिकाल में ही जाति से संबन्ध कर लेता है। द्रव्य आया जाया करते हैं। जाति को इसकी अपेक्षा नहीं। जिन वस्तुओं का संयोग होता है वहाँ कर्म या पूर्वकाल में सन्निधान की अपेक्षा होती है। समवाय को न कर्म की अपेक्षा है न पूर्वकाल के सन्निधान की। दूसरे पक्ष में कहा है —

स्वाश्रयेन्द्रिययोगादेरेकस्मिंस्तद्ग्रहे सति ।
सर्वत्रैवोपलभ्येरंस्तत्स्वरूपा विभागतः ॥८०८॥

ज्ञाताव्यतिरिक्तं चेत्तस्यापि ग्रहणं भवेत ।
तद्वदेव न वा तस्य ग्रहणं भेद एव वा ॥८०९॥

अर्थात् जाति यदि सर्वत्र है तो गोत्व भैंस ऊँट आदि में क्यों

×

नहीं प्रतीत होती है ? व्यक्तियों के मध्यवर्ती शून्य देश में भी दिखाई देनी चाहिये। उसका स्वरूप सदा एक-सा रहता है। यदि इतर प्राणियों में या मध्य में नहीं उपलब्ध होती तो गौ में भी न प्रतीत होनी चाहिये। इस पक्ष में भी दोष नहीं है। जाति सर्वत्र है पर प्रतीत वहीं होती है जहाँ समवाय होता है। व्यापक होने पर भी उसका समवाय अपने विषय में ही है। व्यक्तियों के मध्यवर्ती स्थान से यदि आकाश का अभिप्राय है तो आकाश में उसका समवाय नहीं है। अभाव या किसी द्रव्य को कहिये तो भी यही बात है। सब जगह रहने पर भी क्यों समवाय अपने विषय में ही होता है इसका उत्तर पदार्थ स्वभाव है। व्यक्तियों के विना वह आकाश या काल के समान सर्वत्र है और प्रत्यक्ष नहीं होती।

इस प्रकार न्याय वैशेषिक की प्रतिपादित जाति में कोई भी अनुपपत्ति नहीं रहती। अब परीक्षा करनी चाहिये कि जाति कहाँ हो सकती है अर्थात् किस किस को जाति कह सकते हैं। उद्योतकराचार्य और वाचस्पति मिश्रजी के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय आदि में ब्राह्मणत्वादि जातियाँ हैं जो योनि से व्यक्त होती है। श्रीभगवत्पादशङ्कराचार्य और भट्टपाद कुमारिल स्वामी भी ब्राह्मण्य को जन्म से स्वीकार करते हैं। शान्तरक्षित ब्राह्मणत्व जाति का निराकरण इस प्रकार करते हैं—

शतशः प्रतिषिद्धायाँ जातौ जाति मदश्चकिम् ।
तदन्यासिशयासिद्धौ विशिष्टा सा च किं मता॥३५७५॥

वशित्वादिगुणाधारा: प्रक्षीणा शेषकल्मषा ।
सर्वेऽप्यन्नाविशेषेण तद्योगे च द्विजातय ॥३५७६॥
भवेयुर्यदि सिद्धयन्ति विशिष्टास्तत्समाश्रया ।
वैशिष्ट आधायमन्यथा नैव-लुब्धकद्विजातिवत् ॥३५७७॥

अर्थात् जाति का सौ बार निषेध किया चुका है अत: जाति का गर्व निमू'ल है । जाति मान ली जाय तो भी ब्राह्मणत्व का कोई उत्कर्ष नहीं सिद्ध होता । ब्राह्मणों की बुद्धि और मल मूत्र शरीर जिस प्रकार हैं उसी प्रकार के शूद्रादि के भी हैं । ब्राह्मणों में कोई अतिशय नहीं दिखाई देता । जब आधार में कोई भेद नहीं तो जाति को बड़ा मानने में कारण नहीं है । अगर ब्राह्मण जन्म से ही भूतेन्द्रियवशी पाप रहित और विद्वान् होते तो जन्म का अभिमान कर सकते थे । नहीं तो उन ब्राह्मणों के समान जो व्याध धीवर और चमार आदि का काम करते हैं आप का भी ब्राह्मण जाति के संबन्ध से कोई अतिशय नहीं है । यदि आप जाति कर्मादि संस्कारों से संस्कृत होने का अभिमान रखते हैं तो व्यर्थ ही । सुनिये—

जातकर्मादयो ये च प्रसिद्धास्ते तदन्यवत्
आचारा साँवृतास्ते हि कृत्रिमेष्वपिभाविन: ॥३५७८॥

अर्थात् जात कर्मादि संस्कार, जिन्हें शूद्र कहा जाता है उनमें भी किया जा सकता है । संस्कार व्यवहार की वस्तु है, नाम रखने की तरह ये भी किसी की इच्छा के अधीन हैं । ब्राह्मण माता पिता से

उत्पन्न होने का अभिमान भी अयुक्त है। ब्राह्मण और शूद्रादि के शरीर की समानता पहले कही जा चुकी है। और एक बात यह भी है —

अतीतश्चमहीन्कालो योषितां चात्ति चापलम् ।
त्तद्भवत्यपि निश्चेतुं ब्राह्मणत्वे न शक्यते ॥३८७९॥

अर्थात् बहुत काल बीत चुका है, हो सकता है आप ब्राह्मण वंश के न होने पर भी ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिये गये हों। फिर वंश में किसी स्त्री की चंचलता से क्षत्री या किसी इतर के सम्बन्ध से भी संतान हुई हो तो कोई असम्भव नहीं। इस दशा में ब्राह्मणत्व का निश्चय नहीं हो सकता। यहाँ जाति को अविद्यमान समझ कर ब्राह्मण्य का जो निषेध किया है। उसके सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि जाति एक प्रमाणसिद्ध पदार्थ है। जाति मूलक अभिमान के सम्बन्ध में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। जैन विद्वान प्रभाचन्द्र अपने 'प्रमयेकमलमतिण्ड' नामक ग्रन्थ में ब्राह्मणत्व जाति का निषेध इस प्रकार करते हैं—प्रत्यक्ष या अनुमान से ब्राह्मणत्व जाति का ज्ञान कहा जा सकता है पर ये दोनों प्रमाण इसमें असमर्थ हैं। निर्वि-कल्पक प्रत्यक्ष में जाति आदि का ज्ञान नहीं होता इस लिये उससे ब्राह्मणत्व का बोध असम्भव है। अविकल्प से जाति का मान होता है पर कोई मनुष्य देखने से ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं प्रतीत होता। माता-पिता की ब्राह्मण जाति का जिसे ज्ञान है उसके उपदेश की

सहायता से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि यदि माता-पिता के ब्राह्मण्य का ज्ञान भ्रान्त हो तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं करा सकता। प्रमाण है तो प्रत्यक्ष है या अनुमान! इस विषय में प्रत्यक्ष का असामर्थ्य पहले ही कह दिया है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी है, ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्ष सिद्ध हो ले तो माता-पिता के ब्राह्मण्य का उपदेश प्रत्यक्ष का हेतु सिद्ध हो और उपदेश प्रत्यक्ष का हेतु सिद्ध होले तो ब्राह्मण्य प्रत्यक्ष सिद्ध हो। फिर उपदेश यदि ब्राह्मण का प्रत्यक्ष करा सकता है तो अद्वितीय ब्रह्म का भी प्रत्यक्ष करा देगा। इस दशा में न्याय सिद्धान्त का मूल ही नहीं रहता। यदि कहिए अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, प्रत्यक्ष से विविध पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। इसलिए वह प्रत्यक्ष का अंग नहीं है तो जातिके प्रत्यक्ष में भी उपदेश विरोधी है। ब्राह्मण्य के विना व्यक्ति ही प्रत्यक्ष है। यदि ब्राह्मणत्व जाति परोक्ष अदृश्य है तो उसे प्रत्यक्ष क्यों कहते हैं और, ब्राह्मण शब्द औपाधिक है इसलिए उसका निमित्त बतलाइये। यदि ब्राह्मण माता-पिता से जन्म निमित्त हो तो उसका अनादिकाल में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। स्त्रियों में व्यभिचार पाया जाता है योनि से ब्राह्मण होने का निश्चय असम्भव है। ब्राह्मण माता-पिता से जो सन्तान उत्पन्न होती है उसमें और ब्राह्मणी क्षत्रिय के सम्बन्ध से जो सन्तान होती है उस में कोई अन्तर नहीं उपलब्ध होता। सन्तान में जहाँ वैलक्षण्य पाया जाय वहाँ योनि का निर्धारण होता है जिस प्रकार घोड़ी में गधे और घोड़े के सम्बन्ध से जो सन्तति होती उसका भेद स्पष्ट होता है। यज्ञादि के छोड़ देने से

और शूद्र के अन्न खाने से आप ब्राह्मण का नाश मानते हैं। इस विषय में यह उक्ति है—शूद्र के अन्न से, शूद्र के स्पर्श, शूद्र के साथ वार्तालाप करने से इस जन्म में शूद्र और मर कर कुत्ता होता है। फिर ब्रह्मा व्यास और विश्वामित्र ब्राह्मण सन्तान नहीं हैं उन्हें भी क्या ब्राह्मण न कहा जायगा।

ब्रह्मासे उत्पन्न होने के कारण भी ब्राह्मण नहीं होता। सभी ब्रह्मा से पैदा हुए हैं संसार ब्राह्मण होना चाहिए जो ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ वह ब्राह्मण यह भेद भी नहीं रहता। संसार ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ उसमें कोई मुख से हो या भुजा से जाति भेद नहीं हो सकता। एक वृक्ष के फल चाहे मूल में या मध्य शाखा में हो या और किसी भाग में विजातीय नहीं होते। नाग वल्ली के मूल में उत्पन्न पत्ते कंठ का भ्रम करते हैं और मध्य के पत्ते कंठ का स्वर मधुर कर देते हैं? उत्कृष्ट निकृष्ट प्रदेश भेद से उसके पत्तों में भेद हो सकता है। ब्रह्मा में प्रदेश नहीं हैं इसलिए उसका फल एक जातीय होना चाहिए। यदि उसके भी देश हों तो उत्कर्षापकर्ष भी होगा। यह भी देखना चाहिए कि ब्रह्मा ब्राह्मण है या नहीं! नहीं तो ब्राह्मण कैसे उत्पन्न होगा! गौ से मनुष्य नहीं होता है? तो भी सारे शरीर में ब्राह्मण है या एक भाग में शरीर भर ब्राह्मण हो तो जाति भेद का कारण नहीं है। केवल मुख ब्राह्मण हो तो अन्य प्रदेश शूद्र होना चाहिए। इस प्रकार चरण प्रमाण योग्य नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ही उसके मुख से उत्पन्न हुवा या उसके मुख के ही होता है? उभयपक्ष में अन्योन्याश्रय है। ब्राह्मणत्वसिद्ध

हो ले तो उसी की या उसके मुख से ही जन्म सिद्धि हो और यह हो ले तो ब्राह्मणत्व सिद्ध हो। ब्राह्मण जाति प्रत्यक्ष का विषय नहीं इसलिए उसे साधक नहीं कह सकते। वह प्रत्यक्ष होती तो संदेह क्यों होता कि यह ब्राह्मण है या नहीं ? प्रत्यक्ष हो तो गोत्रादि का उपदेश व्यर्थ है। गौ या मनुष्य के निश्चय के लिए गोत्र की अपेक्षा नहीं होती। सोना केवल आँखों से नहीं निश्चित होता, जौहरी चाहिए जो बतलाये यह रीति भी ब्राह्मणज्ञान में नही हो सकती। पीले रंग को सोना नहीं कहते हजारों वस्तुयें पीली हैं। विलक्षण पीत रूप का नाम सोना है और वह प्रत्यक्ष नहीं है। नहीं तो तपाने या काटने की क्या आवश्यता ? वह भी सहायक हो तो ब्राह्मणत्व देखने के लिये भी इसी प्रकार का सहकारी होना चाहिये। विशेष आकार का नाम लीजिये तो वह क्षत्रियादि में मिलता है। वेदपठन और वेद विहित कर्मों के आचरण को भी नहीं समझा जा सकता ? स्थानान्तर में जाकर शूद्र भी ब्राह्मण बन कर वेद पढ़ते और उन कर्मों को करते पाये जाते हैं। इस लिए ब्राह्मणत्व ज़ाति प्रत्यक्ष नहीं है। इसीकारण वेदपठनादि का अधिकारी किसी विशिष्ट व्यक्ति को नहीं कह सकते। 'अनुमान भी इस विषय में नहीं है ? एक अनुमान किया जाता है कि पदों का व्यक्ति के अतिरिक्त इतर निमित्त से भी सम्बन्ध होता है ? पट पद को देखिये यह पट व्यक्ति का वाचक है और पटत्व जाति के साथ इसका सम्बन्ध है। ब्राह्मण पद भी व्यक्तिवाची है उसका एक निमित्त से सम्बन्ध होना चाहिए। वह निमित्त ब्राह्मणत्व होगा

पहले तो ब्राह्मण पद का व्यक्ति भिन्न सामान्य से सम्बन्ध प्रत्यक्ष से बाधित है। प्रत्यक्ष के विरोध में युक्ति का कोई बल नहीं है। आँखें ब्राह्मण्य से पृथक व्यक्ति को देखती हैं जिस प्रकार कान शब्द को अश्रावणत्व से पृथक् सुनते हैं। फिर हम जैन या कुमारिल के अनुयायी किसी पद को व्यक्ति भिन्न एक निमित्त का सम्बन्धी नहीं मानते। हमारे यहाँ जाति व्यक्ति से भिन्ना-भिन्न और सत्ता आकाश काल अद्वैत इन पदों का व्यक्ति भिन्न जाति से कहाँ सम्बन्ध है। इन्हें जातिमान् कहिये तो अद्वैत और अश्व के सींग आदि वास्तव सिद्ध होने चाहियें। ये पद हैं इन में भी जाति आवश्यक है। सत्ता में आप जाति नहीं मानते उससे विरोध होगा। आकाशादि तो एक-एक हैं उनकी जाति कहाँ से होगी। जिस प्रकार के नित्य सर्वगति जाति मानते हैं उस प्रकार के जाति का सम्बन्ध पट में भीं नहीं हैं।

दूसरा अनुमान यह है—ब्राह्मणज्ञान की निमित्त कोई वस्तु होनी चाहिए। रूप अध्यन आचार यज्ञोपवीत आदि इस के निमित्त नहीं हो सकते। इनसे जो ज्ञान होते हैं उनमें इनकी प्रतीति होती है। पर ब्राह्मण-ज्ञान में यह बात नहीं है। गौ और अश्व के ज्ञान को देखिये ? दोनों परस्पर विलक्षण हैं और दोनों के निमित्त गौ और अश्व हैं। ब्राह्मण-ज्ञान का निमित्त ब्राह्मणत्व होगा। यह नियम भी व्यापक नहीं है। नगर-ज्ञान होता है पर वृक्ष घर बांस आदि की तरह कोई एक व्यक्ति भिन्न वस्तु उसका निमित्त नहीं है। कक्षादि को एक ढंग से रख देने पर घर आदि का नाम देते हैं ? ये ही घर

जहाँ इकट्ठे होते हैं उसे नगर कहते हैं। इस ज्ञान में जाति नहीं इकट्ठी व्यक्तियाँ विषय हैं। यहाँ भी जाति हो तो छै नगरियों के समूह का आलम्बन करनेवाले षण्णगरी इत्यादि ज्ञान में भी जाति माननी पड़ेगी।

रह गया आगम जिस में लिखा है ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए, उसके वल पर ब्राह्मण्य की सिद्धि नहीं हो सकती। तृण के अग्र भाग पर जो हाथियों के सौ झुण्ड खड़े हैं इस प्रत्यक्ष विरुद्ध वचन को जिस प्रकार लोग नहीं मानते उसी प्रकार हम भी इस अत्यन्त अनुपपन्न आगम का आदर नहीं करते। जाति के लोप होने से जैनों की वर्ण व्यवस्था या उससे सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं में गड़बड़ी की शंका नहीं है? जो विशेष क्रियाओं को करें उनमें वर्णव्यवस्था और व्यवहार हो सकता है। होता भी इसी तरह रहा है? नहीं तो परशुराम ने पृथिवी क्षत्रियों से शून्य करके ब्राह्मणों को दे दी थी फिर क्षत्रिय कहाँ से आये! और जिस प्रकार इसने क्षत्रिय शून्य की थी इसी प्रकार संभव है किसी ने ब्राह्मणों से शून्य कर दी हो। जिन्हें त्रिवर्ण के लोग ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहते हैं वे उस जाति के हैं यह नियम भी ठीक नहीं? तीनवर्ण जिन्हें ब्राह्मण कहते हैं इस प्रकार के बहुत से आदमी ब्राह्मणों के के प्रतिकूल आचारवाले पाये जाते हैं। जाति यदि पवित्रता का कारण हो तो वेश्या के घर में रहने वाली ब्राह्मणी की निन्दा न होनी चाहिये? जाति हर समय एक-सी रहती है। नहीं तो ब्राह्मण गोत्व से भी निकृष्ट ठहरा। चंडाल के घर में गई गौ को लोग ले

लेते हैं पर ब्राह्मणी को नहीं लेते। कर्मों के भ्रष्ट होने में निन्दा कीजिये तो भी अनुचित। जाति वही व्यक्ति वही फिर क्रिया का अधिकार कैसे हट सकता है ? क्रिया का अधिकारी होने के लिये ब्राह्मण होना चाहिये और ब्राह्मण्य अब भी है ? क्रिया नाश से जाति जाती हो तो व्रात्य में भी न रहनी चाहिये। क्रिया के नाश होने पर दो कारणों से जाति निवृत्त हो सकती है या क्रिया उसकी कारण हो या व्यापक हो। अग्नि न रहे तो धूम नहीं रहता और वृक्षत्व न रहे तो शिंशपत्व या आमूत्व नहीं रहता ? पर जाति का न कारण है न व्यापक। नित्य निरवयव जाति का क्रिया नाश से कोई विकार भी नहीं होता ? विना विकार के निवृत्ति भी नहीं हो सकती। यह भी बतलाना चाहिये कि जीव ब्राह्मण है या शरीर या दोनों संस्कार या वेदपठन। जीव तो सभी हैं क्षत्रिय वैश्य शूद्र भी ब्राह्मण होने चाहिये। शरीर पाँचभौतिक हैं जिस प्रकार घट आदि भौतिक पदार्थ ब्राह्मण नहीं इसी प्रकार शरीर भी नहीं हो सकता एक-एक भूत ब्राह्मण हो तो शरीर के बिना भी भूतों में वर्णव्यवस्था होनी चाहिये ? समस्त भूत ब्राह्मण हों तो घटादि ब्राह्मण होने चाहिये ? शूद्र बालक का भी संस्कार किया जा सकता है इसलिए संस्कार भी ब्राह्मण का कारण नहीं। संस्कार से पहले ब्राह्मण बालक में ब्राह्मण्य है या नहीं। हो तो व्यर्थ है ही। न हो तो भी व्यर्थ, जो ब्राह्मण नहीं वह भी यदि संस्कार से ब्राह्मण हो जाय तो शूद्र भी होना चाहिये। शूद्र भी देशान्तर में जाकर वेद पढ़-पढ़ा सकता है। परन्तु आप फिर भी उसे ब्राह्मण नहीं

मानते। इसलिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि की व्यवस्था उचित कर्म के कारण है।

प्रभाचन्द्रसूरि की इन युक्तियों पर विचार कर लेना उचित है। पहले प्रत्यक्ष को लीजिये, योनिज्ञान की सहायता से जो नैयायिक ब्राह्मण्य को प्रत्यक्ष मानते हैं उन्हें प्रत्यक्ष-विरोध नहीं दिया जा सकता। यदि प्रत्यक्ष ब्राह्मण्य से पृथक् व्यक्ति मात्र का ज्ञान करता है तो घट ज्ञान में घटत्व से पृथक् घटमात्र का ज्ञान होना चाहिये। सहकारी के बिना नेत्र केवल व्यक्ति को देखती हैं उसके उस प्रत्यक्ष का बोध नहीं हो सकता जो सहकारियों के साथ मिल कर किया है। आप प्रत्यक्ष के विरोध का उदाहरण शब्द के श्रवण से अग्राह्य होने को कहते हैं। शब्द की प्रतीति कान से होती है। कान से न सुनाई दे तो उसको सत्ता ही न सिद्ध हो। निःसन्देह जो शब्द को कर्ण-गोचर नहीं मानता वह प्रत्यक्ष-विरोध करता है। ब्राह्मण्य और व्यक्ति का कोई इस प्रकार कर विरोध नहीं है। बिना जाति प्रत्यक्ष के व्यक्ति का प्रत्यक्ष असंभव नहीं है। एक व्यक्ति में बहुत सी जातियाँ रहती है। उन सबका ज्ञान नियम से पहले नहीं होता। वृक्ष में वृक्षत्व के साथ द्रव्यत्व पृथिवीत्व और और सत्ता भी है। जब वृक्ष ज्ञान होता है तब वृक्षत्व के अतिरिक्त इतर जातियों का बोध नहीं होता है। ब्राह्मण को देखने पर भी पहले मनुष्यत्व जाति और मनुष्य व्यक्ति का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष विरोध के लियेस्थान नहीं है? अन्योन्याश्राय भी नहीं है, जिस प्रकार सुवर्णत्व के प्रत्यक्ष करने में सुनार के उपदेश को जाँचने की आवश्यकता नहीं है इसी

प्रकार योनि ज्ञान में भी नहीं है ? ब्राह्मण के प्रत्यक्ष ज्ञान का जब-तक प्रत्यक्ष निराकरण न करें योनि ज्ञान की सहकारिता का निराकरण नहीं हो सकता ? अध्यापन या क्रिया को सहकारी कहें तो दोष हैं पर योनि ज्ञान के सहकारी होने में आपत्ति नहीं है ? अनुमान में भी सत्ता अवकाश काल आदि पदों को लेकर व्याप्ति नहीं टूटती। सत्ता आकाश एक-एक हैं उनमें जाति सम्बन्ध नहीं है। पर जिन पदों के वाच्य अनेक हों उनका जाति सम्बन्ध आवश्यक है ? पट आदि पदों के समान ब्राह्मणादि पद अनेक व्यक्ति-वाचक हैं उन्हें जाति सम्बन्धी होना चाहिये। आगम को वेद का प्रामाण्य स्वीकार करनेवाले अप्रमाण कह ही नहीं सकते।

ये तो हुई जैनों और बौद्धों की युक्तियाँ। अब ईश्वरचन्द्र का तर्क सुनिये जो ब्राह्मणत्वादि जातियों को प्रतिष्ठित नहीं होने देता। गोत्व गौ देखते प्रत्यक्ष हैं। सुवर्णत्व तपा गला कर या काटकूट कर देखने से प्रत्यक्ष है पर योनि ज्ञान ब्राह्मण्य ज्ञान को कराले तो भी इन्द्रिय का विषय नहीं वना सकता। तपाने गलाने या काटने से सुवर्ण के आकार प्रकार या रूप का विशेष प्रत्यक्ष होता है जो पहले नहीं था इसलिये प्र यक्ष रूप विशय काले सुवर्ण की जाति दीखने लगती है पर योनि ज्ञान से ब्राह्मण का कोई विशेष आकार या रूप नहीं प्रकाशित होगा इसलिये वह ब्राह्मणत्व का प्रत्यक्ष नहीं करा सकता। जिसकी सहायता से प्रत्यक्ष हो उसके प्रभाव से वस्तु का अस्पष्ट कोई गुण कर्म प्रत्यक्ष होना चाहिये जो उस वस्तु में रहता हो। साधारण लोगों को सुनने से भैरव श्री राज आदि का विलक्षण

स्वरूप नहीं मालूम होता पर अभ्यासी को स्वरों का आरोहावरोह ज्ञान होने से झट मालूम हो जाता है। आरोहावरोह भी शब्द के हैं। जो प्रत्यक्ष हैं। ब्राह्मण के देखने पर उस समय उसके देह में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। अनुमान में पद का जाति सम्बन्धी होना आवश्यक कहा गया था सो न्याय नय के अनुसार ही नियत नहीं है। अनेक व्यक्तिवाचक पाचक आदि पद औपाधिक हैं ब्राह्मण आदि भी औपाधिक हो जायँगे। (यजनादिषट्कर्मकर्तृत्वं ब्राह्मणत्वं) यह ब्राह्मणत्वोपाधि का निर्वचन होगा। श्रुति में भी ब्राह्मणादि शब्द औपाधिक हैं।

यहाँ पर प्रभाकर संप्रदाय के अनुयायी महामहोपाध्याय श्री शालिकनाथ मिश्रजी का पक्ष भी सुनिये ब्राह्मणत्व को जाति वे भी नहीं मानते पर उपाधि मान कर भी वे जन्म से ही कर्म व्यवस्था मानते हैं। कहते हैं—"ब्राह्मणत्वादि जाति नहीं है। नाना स्त्री पुरुषों में पुरुषत्व से पृथक एकाकार मति नहीं होती। ब्राह्मणों में अनुगत और क्षत्रियादि से अलग आकार बहुत देर तक देखने पर भी नहीं मालूम होता। कहते हैं कि पहले पहल नहीं मालूम होता पर पीछे ब्राह्मण माता पिता के सम्बन्ध को जान लेने पर प्रकाशित होता है। यह भी अपने अनुभव का विरुद्ध है। माता-पिता को जान कर भी एक आकार कौन जान सकता है। यह कहा था कि पिघला घी तेल सा हो जाता है। गन्धज्ञान की सहायता से आँख उसे भिन्न समझ लेती है वह भी ठीक नहीं। चक्षु उस समय रूप से अतिरिक्त कुछ नहीं देखने लगती। उस समय

अनुमान होता है। जो चतुर सूक्ष्मरूप देख लेता है वह घृत की जाति भी देख सकता है। यदि कहिये कि इस प्रकार तो बहुत अनिष्ट होगा, जाति नहीं तो किसी को आहवनीयादि द्वारा यज्ञों में अधिकार और किसी को नहीं इसका क्या कारण? किसी विशेष व्यक्ति को ही ब्राह्मण क्यों कहा जाय? इसका उत्तर सुनिये। अनादि संसार में कुछ एक स्त्री-पुरुष हैं जो ब्राह्मण कहे जाते हैं। उनकी सन्तति ब्राह्मण है इसलिये ब्राह्मण उसे कहते हैं जो सन्तति विशेष में हो। उन्हीं विशिष्ट लोगों का कर्म में अधिकार है। वे कौन से लोग हैं? गिन कर नहीं बताये जा सकते। लौकिक प्रसिद्धि से जानना चाहिये। जिसे ब्राह्मण पुत्र समझते हैं उसे ब्राह्मण कहते हैं। यदि कहिये स्त्रियों में व्यभिचार है यथार्थ जन्य-जनक का ज्ञान कैसे हो? सुनिये, जहाँ ज्ञान सामग्री के अनुसार व्यभिचार न सिद्ध हो वहाँ नहीं है। सावधान होकर स्त्रियों की रक्षा करने पर व्यभिचार की सम्भावना नहीं है। जिनमें है उनमें विशिष्ट-सजाति से उत्पत्ति का भी निश्चय नहीं होता। परन्तु जहाँ निश्चय हो सकता है वहाँ क्यों न किया जाय?" (प्रकरण पंचिका पृ० ३०-३१) जाति की अपेक्षा भी इस उपाधि से जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था की हद हो जाती है। इस उपाधि को असंगत नहीं कह सकते पर इसके अनुसार कर्म के अधिकार को युक्तिबल पर विभक्त नहीं कर सकते। उपाधि मान लेने से सभी मनुष्य एक जाति के हो गये और जाति की व्यक्तियाँ उन सब कामों को कर सकती हैं जिसे एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह करता है। जन्म सिद्ध सहज गुणों के आधार

पर विभाग कीजिये तो भी एक समूह दूसरे समूह के गुणों को कुछ पीढ़ियों में पा सकता है। प्रत्यक्ष में देखा जात है कि क्षत्रिय और वैश्यादि ब्राह्मणों के समान मेधावी हैं। इसलिये कर्म को ही उपाधि मानना चाहिये। तभी तो स्मृतियाँ निरन्तर पीढ़ियों में शूद्र व्यवहार करने वाले ब्राह्मण-सन्तति को अन्त में शूद्र कहती हैं। यदि विशिष्ट सन्तति में उत्पत्ति ब्राह्मणत्व के लिये आवश्यक होती तो विश्वामित्र ब्राह्मण न हो सकता।

कई एक अर्वाचीन लोग ब्राह्मणत्वादि जाति मान कर भी अनित्य मानते हैं। इस मत में जाति दो प्रकार की नित्य और अनित्य। अनित्य पदार्थों की जाति अनित्य और जीवादि की नित्य। ब्राह्मणत्वादि भी अनित्य हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शूद्र भी ब्राह्मण होकर यज्ञादि कर सकता है।

अब आगम को देखना चाहिये। स्मृति में चारवर्णों के अधिकार नियत हैं। उनका आधार जन्म है या कर्म! भट्टपाद कुमारिल श्रुति स्मृति की विवेचना में प्रमाणिक विद्वान् हैं।वे वर्णों का आधार जन्म को मानते हैं उनके अनुसार दूसरे विद्वानों का कहना है कि शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। शूद्रादि केलिये प्रतिपादित होने से उन्होंने बौद्धशास्त्रों को वेद विरुद्ध कहा है। वे कहते हैं—

"वेदमूलत्वं पुनस्ते तुल्यकक्षमूलत्वाक्षमयैव लज्जया च मातापितृद्वेषि दुष्टपुत्रवन्नाभ्युपगच्छन्ति।

अन्यच्च स्मृतिवाक्यमेकमेकेन श्रुतिवचनेन विरुध्येत। शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदम दानादि वचन वर्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थान विरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थित विरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्ण निरवसित प्रायेभ्यो व्यामूढ़ेभ्यः समर्पितानीति न वेद मूलत्वेन संभाव्यन्ते। स्वधर्मातिक्रमेण च येन क्षत्रियेण सता प्रवक्तृत्वप्रतिग्रहौ प्रतिपन्नौ स धर्ममविलुप्तमुपदेक्ष्यतीति कः समाश्वासः। उक्तं च—

परलोकविरुद्धानि कुर्वणं दूरतस्त्यजेत्।
आत्मानं यो ऽतिसंधते सोऽन्यस्मै स्यात् कथं हितः॥

बुद्धादेः पुनरयमेव व्यति क्रमो ऽलंकारबुद्धौ स्थितः। येनैवमाह 'कलिकलुषकृतानि यानि लोके मयिनिपतन्तुविमुच्यतांतुलोकः,' इति

स किल लोक हितार्थं क्षत्रियधर्ममतिक्रम्य ब्राह्मणवृत्तं प्रवक्तृत्वं प्रतिपद्य प्रतिषेधातिक्रमासमर्थैर्ब्राह्मणैरननुशिष्टं धर्मं वाह्यजनाननुशासद्धर्मपीड़ामप्यात्मनो ऽङ्गीकृत्य परानुग्रहं कृतवानित्येवं विधैरिव गुणैः स्तूयते तदनुशिष्टानुसारिणश्च सर्व

एव श्रुतिस्मृतिविहितधर्मातिक्रमेण व्यवहरन्तो विरुद्धाचारत्वेन ज्ञायन्ते ।

(तन्त्रवार्तिक पृ० १९५, अ० १ वा० ३ अधि० २, आनन्दाश्रम)

अर्थात् "बौद्ध लोग अपने शास्त्रों को वेद की अपेक्षा भी उत्कृष्ट बताने के लिये माता-पिता से द्वेष करने वाले दुष्ट पुत्र की तरह नहीं मानते। उन्हें इसमें लज्जा मालूम होती है। स्मृति का कोई वाक्य श्रुति से विरुद्ध होता है, पर शाक्यादि के वचन कुछ एक दमदयादानादि के वचनों को छोड़ कर सब के सब चौदह विद्या स्थानों के विरुद्ध हैं और वेद-विरोधी बुद्धादि के बनाये हैं। वेदबाह्य शूद्रचाण्डालादि को दिये हैं इसलिये वेदमूलक नहीं हैं। फिर बुद्ध ने क्षत्रिय हो कर भी अपना धर्म छोड़ कर उपदेशक का काम किया! जो अपने धर्म का पालन नहीं करता वह धर्म का यथार्थ उपदेश देगा इसका क्या विश्वास ? कहा भी है—परलोकविरुद्ध आचरण करने वाले का त्याग कर देना चाहिये। जिसे अपने हित की चिन्ता नहीं वह दूसरे का हित क्या करेगा ? बुद्धादि ने इसी नियम-भंग को भूषण समझा है। उसने कहा है—संसार के जितने पाप हैं वह मुझ पर गिर जाँय, संसार छूट जाय! वह लोकहित के लिये क्षत्रियधर्म को छोड़ कर ब्राह्मणकर्म स्वीकार कर के उस धर्म का उपदेश दे गया जिसे निषेधवचनों से डर कर ब्राह्मण बाह्य लोगों को नहीं बतलाते थे। इस प्रकार उस की स्तुति की

१९

जाती है। उसके अनुयायी भी श्रुतिस्मृतिविरुद्ध आचरण करते हैं।"

इसका उत्तर शान्तरक्षित जी ने बहुत सुन्दर दिया है—

वेदमूलं च नैवेदं बुद्धानामुपदेशनम्।
निष्कलंकं हि तत्प्रोक्तं सकलंकं श्रुतौ पुनः॥
स्वार्थसंसिद्धये तेषामुपदेशो न तादृशः।
आरम्भः सकलस्त्वेष परार्थं कर्तुमीदृशः॥
तस्माज्जगद्धिताधानदीक्षिताः करुणात्मकाः।
अनिबन्धनबन्धुत्वादाहुः सर्वेषु तत्पदम्॥
ये हि लोभभयद्वेषमात्सर्यादिवशीकृताः।
प्रादेशिकी भवेत्तेषां देशना निःकृपात्मनाम्॥
करुणापरतंत्रास्तु स्पष्टतत्वनिदर्शिनः।
सर्वापवादनिःशंकाश्चक्रुः सर्वत्र देशनम्॥

यथा यथा च मौर्ख्यादिदोषदुष्टो भवेज्जनः।
तथा तथैव नाथान्तं दया तेषु प्रवर्तते॥ ३५७२॥

नैवावाहविवाहादिसम्बन्धो वाञ्छितो हि तैः।
उपकारस्तु कर्तव्यः साधुगीतमिदं ततः॥३५७३॥

विद्याचरणसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥३५७४॥

अर्थात् बुद्धों का उपदेश वेदमूलक नहीं है। वेद का उपदेश दूषित है और बुद्ध का निर्दोष है। संसारहितैषी अकारण-बन्धु बुद्ध ने सब को उपदेश दिया। निर्दय लोग लोभभय ईर्ष्या के वशीभूत होकर संकुचित क्षेत्र में उपदेश देते हैं। शूद्रों के साथ विवाहसंबन्ध इष्ट नहीं है, उपकार करना चाहिये। इसीलिये गीता में पण्डित को सब में समदर्शी होने के लिये कहा है।

सचमुच शूद्र को वंचित रखना वेद के उपदेष्टा को संकुचित चित्त का बतलाना है। पर वेद सब के लिये है। वेद में कहीं जन्म के कारण किसी को वेदपाठ से वंचित नहीं रक्खा। शान्तरक्षित भी समयप्रभाव से आक्रान्त थे, नहीं तो शूद्रों से विवाहसम्बन्ध करना निषेध न करते।

पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा में अपशूद्राधिकरण है। उसमें उस शूद्र का निषेध है जो कर्म से शूद्र है, जिसमें दृढ़ता से वेदपठन और तदनुसार यज्ञादि के आचरण का सामर्थ्य नहीं है। विस्तारभय से यहीं विराम करता हूँ।

वेद और निरुक्त

"असतो मा सद् गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्माऽमृतं गमयेति"

[लेखक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु]

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है, जो आदि सृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ संसार के अन्य भोग्यपदार्थों की भाँति, कर्मों की यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ, तदनुसार आचरण करने के लिये, परम पवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई । भावी कल्पकल्पान्तरों में भी यही वाणी इसी प्रकार सदा प्रादुर्भूत होगी । यह किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेषों की कृति नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परम पिता परमात्मा की ही रचना है । इसमें किसी प्रकार न्यूनाधिकता नहीं हो सकती । "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" समग्र संसार तथा तत्-सम्बन्धी ज्ञान यह सब विधाता की यथापूर्व कृति है ।

यह है सार (निचोड़) वेद सम्बन्ध में वैदिकधर्मियों की धारणा का, जिसे सत्य के देवता आप्त अर्थात् यथार्थवक्ता ऋषि दयानन्द ने अपने जीवनकाल में उपदेश द्वारा, तथा अपने ग्रन्थों में एक-एक पंक्ति द्वारा दर्शाया। यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को अङ्गीकार किया है—और उस के पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक परिश्रम करना पड़ा, और वह भी उस अवस्था में जब वेद का पठन-पाठन लुप्तप्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। मैं तो उस भयंकर तूफान का ध्यान करके स्तब्ध हो जाता हूँ जब "दयानन्द" को शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, सब शास्त्रकारों के नाम पर परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविध वादों के भँवर में—मत-मतान्तरों का तो कहना ही क्या—इस सब तूफान में चट्टान की तरह अविचल पाता हूँ। नहीं-नहीं, दयानन्द उस तूफान में डिगे नहीं, अपने आप को केवल सम्भाले रहे, इतना ही नहीं अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्परविरुद्ध रूढ़ियों और वादों के विरुद्ध

घोषणा

कर दी कि "वेद प्रभु की वाणी" "नित्य" "स्वतः प्रमाण," इसमें किसी का इतिहास नहीं। "अन्य सब शास्त्र वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं।"

कल्पना मात्र से नहीं अपितु सब प्रमाण-युक्ति के आधार पर।

हम साधारण बुद्धि तथा विद्या वाले जितना-जितना दयानन्द का विस्तृत अध्ययन करते हैं उतनी-उतनी उस महापुरुष में अधिक निष्ठा होती जाती है।

वेद-सम्बन्धी आचार्य दयानन्द की इस धारणा की प्रामाणिकता का दिग्दर्शन कराना ही हमारे इस प्रयास का ध्येय है क्योंकि उनकी इस धारणा के साधनों में निरुक्त एक मुख्य अङ्ग है।

१० वेद और निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध

वेद का स्वरूप ऊपर कहा गया। निरुक्त उसी वेद का अङ्ग होने से "वेदाङ्ग" है। यह प्रत्येक आर्य को आबालवृद्ध विदित है। वेद का अध्ययन अङ्गोपाङ्ग सहित ही यथावत् हो सकता है। भगवान् पतञ्जलि महाभाष्य में स्पष्ट लिखते हैं—

"ब्राह्मणेन निष्कारणे धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येय ज्ञेयश्च"

इसीलिए यास्क मुनि अपनी भूमिका (निरु० १-१५) में निरुक्त शास्त्र के प्रयोजन दर्शाते हुये लिखते हैं—

"अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते, अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशस्तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।"

अर्थात्—इस निरुक्त शास्त्र के विना मन्त्रों में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता। जो अर्थ नहीं जानता वह स्वर संस्कार (प्रकृति प्रत्ययरूप) का यथावत् अवधारण नहीं कर सकता। अतः यह शास्त्र अर्थ परिज्ञान का साधक होने से निर्वचन विद्या का स्थान है तथा व्याकरण शास्त्र की पूर्णता करने वाला और मन्त्रार्थ बोध का साधक है।

इससे स्पष्ट है (१) निरुक्त शास्त्र के विना वेद मन्त्रों के अर्थ का परिज्ञान नहीं हो सकता (२) जो अर्थ करने की ठीक ठीक शैली को नहीं समझ लेगा वह केवल व्याकरण के प्रकृति प्रत्यय की योजनामात्र से मन्त्रों के ठीक ठीक अभिप्राय तक नहीं पहुँच सकता। इससे आगे भी—

"अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते (२) अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तदेतेनोपेक्षितव्यम्।......अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च।"

अर्थात्—निरुक्त के विना पदविभाग सम्बन्धी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा यज्ञ कर्मों में देवता द्वारा बहुत से विधि-निर्देश किये जाते हैं, वह देवतासम्बन्धी ज्ञान इस निरुक्तशास्त्र द्वारा ही जानना होगा। जो अर्थज्ञ होता है उसी की संसार में प्रशंसा होती है। यह सब निरुक्तशास्त्र के विना नहीं हो सकता।

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि महामुनि यास्क के मत में "निरुक्त और व्याकरण वेदार्थ के मुख्य साधन हैं।"

हाँ यह ठीक है जब वेदार्थ की परम्परा अविछिन्न रूप से संसार में वर्तमान हो रही थी उस अवस्था में वेदाङ्गों की भी आवश्यकता नहीं थी। केवल वेद से ही वेद का अर्थ समझा और प्रवचन द्वारा पढ़ा दिया जाता था, परन्तु यह व्यवस्था यास्क से बहुत पूर्व की थी। इसी से उसने लिखा—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे, बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।"

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा (जिन्होंने धर्म का साक्षात् कार किया) ऋषि हुये। उन्होंने पीछे होने वाले असाक्षात् कृतधर्मा (जिनको धर्म का साक्षात् नहीं था) को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये (अर्थात् मन्त्रों का उपदेश किया)। वे उपदेश के लिये ग्लानि करने लगे। अतः (ऋषियों ने) विस्पष्ट ज्ञान के लिये इस निघण्टु निरुक्त-ग्रन्थ तथा वेद का उनको अभ्यास कराया।

यास्क से पूर्व १२ निरुक्तकार थे जिनको उसने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है जो निम्न प्रकार हैं—१—औपमन्यव २—औदुम्बरायण

३—वार्ष्यायणिः ४—गार्ग्य ५—आग्रायण ६—शाकपूणि ७—और्णवाभ ८—तैटीकि ९—गालव १०—स्थौलाष्ठीवि ११—क्रौष्टुकि १२—कात्थक्य। इससे ज्ञात होता है कि यास्क ने अपने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुये निघण्टु ग्रन्थ की रचना की।

उपर्युक्त स्थल में "इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च" इस अंश पर "वेदं समाम्नासिषुः" का अर्थ आधुनिक लोग "वेद बनाये" ऐसा करते हैं। पारदर्शी दयानन्द ने (ऋ० भूमिका पृ०३७२) इसका अर्थ "सम्यगभ्यासं कारितवन्तः" किया है। आप सज्जनों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि इस स्थल का बहुत ही अच्छा अर्थ "निरुक्त वार्त्तिक" नामक प्राचीन ग्रन्थ में किया गया है जो मण्डन मिश्र की "स्फोटसिद्धि" की गोपलिका नाम की टीका में है। यह हस्तलेख (ms) यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी लाहौर में वर्तमान है जो मुझे अपने मित्र श्री० पं० भगवद्दत्तजी की कृपा से प्राप्त हुवा।

वहाँ लेख इस प्रकार है—

पृ० १७१—योक्तं निरुक्तवार्त्तिके—

"असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
उपदेशश्च वेदव्याख्या। यथोक्तम्

अर्थोयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि ।
व्याख्यैवात्रोपदेशस्स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः ॥इति॥

उपदेशाय ग्लायन्त इति। उपदेशेन ग्राहयितुमशक्या इत्यर्थः । अपरे द्वितीयेभ्यो न्यूना इति बिल्म ग्रहणायोपायतो वशीकरणाय इमं ग्रंथं वक्ष्यमाणं समाम्नासिषुः समाम्नातवन्तस्तमेवाह—वेदं च वेदाङ्गानि चेति । अङ्गशब्द उपाङ्गादेरप्युपलक्षणार्थः ।

वेदमुपदेशमात्राद् ग्रहीतुमशक्ताः । वेदं समाम्नासिषुः वेदार्थं चोपदेशेन ग्रहीतुमशक्ताः । अङ्गानिच समाम्नासिषुरिति । यथोक्तम्—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए उन्होंने असाक्षात्कृतधर्माओं को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये (अर्थात् मन्त्रों का उपदेश दिया)। यहाँ वेद की व्याख्या उपदेश शब्द का अर्थ है। दूसरे लोग उपदेश मात्र से आलस्य मानने लगे। वेद को उपदेश (व्याख्या) मात्र से यह लोग अब ग्रहण नहीं कर सकते

यह सोच कर उन्होंने उनको वेद तथा वेदाङ्गों का साथ साथ अभ्यास कराना आरम्भ किया और वे लोग अभ्यास करने लगे। बस इसी से वेदाङ्गों की उत्पत्ति हुई।

अभी तक निरुक्त पर आर्यभाषा में दो टीकायें हमारी दृष्टि में आई हैं। जिस में प्रथम श्री पं० राजाराम जी वर्तमान प्रधान आर्यसमाज अनारकली लाहौर की है। द्वितीय श्री पं० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार जी की है। प्रथम टीका पर यद्यपि गवर्नमेंन्ट ने न जाने क्या उपयोगिता समझकर ७००) रु० का इंनाम दिया है, तथापि हमें दुःख से लिखना पड़ता है आर्य समाज की दृष्टि से यह ग्रन्ध सर्वथा हेय है। तथा इनके अन्य ग्रन्थ भी प्रायः इसी प्रकार हैं।

श्री पं० चन्द्रमणि जी ने निरुक्त ग्रन्थ पर बहुत प्रसंशनीय उद्योग किया है जिसके लिये प्रत्येक आर्य को उनका अनुगृहीत होना चाहिये।

यह उपर्युक्त स्थल उनकी टीका में भी विचारणीय है। इस स्थल का भाषार्थ वहाँ इस प्रकार है—

"साक्षात्कृतधर्मा ऋषि हुए। उन्होंने पीछे होने वाले असाक्षात्कृतधर्मा मनुष्यों को उपदेश द्वारा मन्त्र प्रदान किये। उपदेश के लिये ग्लानि को प्राप्त हुए पीछे होंने वाले मनुष्यों ने विस्तारपूर्वक या स्पष्टतया परिज्ञान के लिये इस निघण्टु ग्रन्थ वेद और—वेदाङ्गों को ग्रन्थित किया"।

ग्लानि को प्राप्त हुये मनुष्यों ने जो साक्षात्कृतधर्मा नहीं थे

निघण्टु निरुक्तादि वेदाङ्गों को ग्रन्थित किया यह अर्थ सुसङ्गत नहीं प्रतीत होता। विद्वज्जन इस पर विशेष विचार कर सकते हैं। कह नहीं सकते यह स्थल कैसे इस प्रकार रह गया। अस्तु।

"वेदं च वेदाङ्गानि च" का अर्थ "वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः" कैसा स्पष्ट लेख है। क्या दयानन्द को पारदर्शी कहना पक्षपात कहला सकता है? इसी से हम कहते हैं कि अभी तक हम लोगों ने अनार्ष ग्रन्थों को अपने हृदय से नहीं छोड़ा। दयानन्द का अध्ययन हो कैसे।

यह एक प्रसिद्ध स्थल है जिस पर अनेक आर्य पुरुष तथा विद्वान शङ्कायें उठाते रहे।

इस प्रकार वेद और निरुक्त का "साध्य साधन" रूप सम्बन्ध है। इस साध्यसाधनभाव की पुष्टि में हम एक अपूर्व ग्रन्थ का प्रमाण और उद्धृत करते हैं, जो अभी तक छपा नहीं, जिसकी प्रतिलिपि लाहौर डी० ए० वी० कालिज के पुस्तकालय में मद्रास से करा कर मँगाई गई है।

इस ग्रन्थ का नाम "निरुक्तसमुच्चय" है। जिसका कर्त्ता "आचार्य वररुचि" है जो नैरुक्त सम्प्रदाय का एक प्राचीन आचार्य जान पड़ता है। इसके समयादि के विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, आचार्य स्कन्दस्वामी ने इसको उद्धृत किया है अतः ग्रन्थ उससे पूर्व का अवश्य है इतना तो निश्चित है। स्कन्दस्वामी का काल छठी शताब्दी कहा जाता है। वर्तमान

उपलब्ध वेदभाष्यकारों में स्कन्द स्वामी सब से प्रथम वेद भाष्यकार हैं। इस ने आचार्य वररुचि को अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

प्रकृत विषय में इस "निरुक्तसमुच्चय" ग्रन्थ का उपर्युक्त स्थल निम्न प्रकार है —

पृ० १—" अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते " इति नानिरुक्तार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हति इति च वृद्धानुशासनम्। निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। मन्त्रार्थज्ञानस्य शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा (नि० १-१८)। शास्त्रान्ते च यां यां देवतां निराह तस्यास्तया ताद्भाव्यमनुभवति।....

"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रचलिष्यति। इति व्यास वचनम् "॥

महाभा० आदि पर्व १—२६५॥

अर्थात्—जो निरुक्त के अभिप्राय को नहीं जानता वह मन्त्र का निर्वचन नहीं कर सकता, यही (परम्परा) से वृद्धों की शिक्षा है। निरुक्त की प्रक्रिया से ही मन्त्रों का निर्वचन करना चाहिये। मन्त्रों के अर्थों का ज्ञान क्यों करना आवश्यक है यह शास्त्र (निरुक्त) के आरम्भ में ही कहा जा चुका है······ इत्यादि"

वेद तथा निरुक्त का परस्पर कहाँ तक साध्यसाधन भाव है, इस विषय का यह कैसा ज्वलन्त उदाहरण है।

निरुक्त-वेदार्थ के लिये कहाँ तक आवश्यक है, इसमें अनेक ग्रन्थों के प्रमाण तथा कारण लिखे जा सकते हैं, परन्तु विस्तार-भय से हम न लिख कर केवल इतना ही लिख कर इस विषय को समाप्त करते हैं—कि—वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले "वेदभाष्यों" में ब्राह्मणों को छोड़ कर निरुक्त आर्षऋषि प्रोक्त सर्वतः प्रथम वेदभाष्य है जो वेदार्थ की शैली केवल नियम बता कर ही नहीं छोड़ देता, अपितु सोदाहरण सोपपत्तिक वेद-मन्त्रों का अर्थ आजकल की भाषा में नहीं अपितु प्राचीन काल की भाषा में देता है।

२—निरुक्त और आर्यसमाज

आप महानुभाव इस शीर्षक को सुन कर घबड़ाहट में न पड़ जावें। ऋषि दयानन्द जी महाराज ने जो धारणा "वेद और वेदार्थ" के सम्बन्ध में निर्धारित की, मेरे विचार में वह धारणा प्रथम व्याकरण अष्टाध्यायी और महाभाष्य (क्योंकि केवल यही दो व्याकरण की पुस्तक हैं) तथा द्वितीय निरुक्त—इन दो के आधार पर ही निश्चित की। अन्य ब्राह्मण-उपाङ्गादि सहायक सामग्री कहे जा सकते हैं।

मन्त्रों के भाष्य में ऋषि ने इस बात को पदे पदे भली भाँति

व्यक्त किया है, वेदाङ्ग होने से निरुक्त को पाठ्यग्रन्थों में भी लिखा है।

ऐसी अवस्था में निरुक्त जैसे प्राचीन ग्रन्थ की अवहेलना नहीं की जा सकती। आर्यसमाज का इस विषय में निश्चित सिद्धान्त क्या है यह मैं पूर्णतया नहीं कह सकता। इतना तो जानता हूँ कि "निरुक्त वेदानुकूलतया हो आर्यसमाज के लिये प्रमाण है"। ऐसी धारणा प्रायः देखी जाती है। और यह है भी ठीक। परन्तु इतना कह देने मात्र से हम किसी भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता से मुक्त नहीं हो सकते जब तक कोई प्रबल प्रमाण उसके विपरीत न दर्शा देवें।

वेदार्थ की शैली बतलाने वाले आचार्य ने वेद को जैसा समझा होगा इसका कितना महत्व है इसको सभी विज्ञ जानते हैं।

जो महानुभाव वर्तमान समय की विविध कठिनाइयों के होते हुए "वेद" जैसे गहन विषय रूपी अछूती शिला को चाटने में लग रहे हैं वह सभी धन्यवाद के पात्र हैं। ऐसे ही महानुभावों में मैं स्वर्गीय श्रद्धेय वेद के प्रौढ़ विद्वान्-ऋषि दयानन्द के परम भक्त मिथिलानिवासी पूज्य श्री पं० शिवशङ्कर जी महाराज को समझता हूँ। उन्होंने वेद विषय में आर्यसमाज की अति प्रशंसनीय सेवा की है। उनके ग्रन्थ वेद विषय में उनकी अलौकिक बुद्धि का परिचय देते हैं। इन पङ्क्तियों का लेखक उन में गुरुबुद्धि रखता है। उनके ग्रन्थों में अन्य विद्वानों के ग्रन्थों की भाँति

कुछ विचारणीय स्थलों का होना उन ग्रन्थों के गौरव को कुछ भी कम नहीं कर सकता।

"वेद में इतिहास" विषय पर "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" जैसा अपूर्व ग्रन्थ लिख कर उन्होंने अपने अपूर्व पाण्डित्य का परिचय दिया। यदि वह केवल इस ग्रन्थ को ही लिखते और कुछ भी न लिखते तब भी इनकी महिमा चिरस्थायी ही रहती।

प्रकृत में जो बात हम कहना चाहते हैं वह यह है कि "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" 'आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाब' के द्वारा प्रकाशित हुआ है जो एक प्रतिष्ठित सभा है। इस ग्रन्थ में निरुक्त के सम्बन्ध में जो धारणायें उक्त श्रद्धेय श्री पं० शिवशङ्कर जी ने निश्चित की हैं उनको मैं अतीव संक्षेप से लिखता हूँ जिससे यह व्यक्त हो जायगा कि आर्यसमाज की निरुक्त के सम्बन्ध में क्या धारणा रही है। सज्जनों को ज्ञात रहे कि बहुत काल तक मेरी भी लगभग ऐसी ही धारणा रही—वह उद्धरण निम्न प्रकार हैं—

(१) सायणादि कैसे अवाच्य-घृणित-अश्लील अर्थ वेदों का कर गये हैं......क्या वेदों का यही अर्थ है ? यह सम्मति केवल सायण की ही न समझनी किन्तु यास्क, कात्यायन-शौनकादिकों की भी जाननी। क्योंकि यथा हरिस्तथा हरः। ऐ विद्वानो !...

(२) पृ० ३४—

"सायण—महीधर-कात्यायन-आपस्तम्ब-शौनक-यास्क आदिकों

ने वेदों के अर्थ कर जो दुर्मार्ज्जनीय, अकथनीय लाञ्छन वेदों पर लगा गये हैं उनका निकालना दुःसाध्य सा होगया है। यदि यह सब वेदों पर टीका टिप्पणी न कर जाते तो अच्छा था।

ऐसी घोर अन्धकार की अवस्था में पिता दयानन्द ने ही वेदों की पुनः स्थापना की और वेदों के सत्यार्थ जानने के लिए पूर्ण विधि-उपाय और संकेत बतला गये, जिनकी सहायता से आप भारतवासी वेदों के सत्यार्थ निकाल सकते हैं यदि आप इस कार्य में तत्पर हो जायें"।

(३) पृ० १२४—

"परन्तु शोक यह है कि यास्काचार्य सदृश बुद्धिमान जन भी इन आख्यायिकाओं-कथाओं-इतिहास के आशय का सङ्केत मात्र भी न कर गये"

(४) पृ० २४६—

"यास्काचार्य ने और अन्य ग्रन्थकारों ने समान ही कथा लिखी हैं। "अर्चिषि भृगुः सम्बभूव अङ्गारेष्वङ्गिराः" अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्यूचुःतस्मादत्रिर्नंत्रयः (निरु० ३-१७)"

मुझे बहुत ही शोक होता है कि इन आचार्यों ने वेद की एक बात भी सीधी नहीं लिखी। आश्चर्य २ और अश्लील २ कथायें लिख कर वेदों को भ्रष्ट कर दिया है"।

(५) पृ० १८२—"प्रथम यास्काचार्य का सर्वभ्रमोत्पादक लेख यह है—

२०

तत्रेतिहासमाचक्षते विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवांचकार"

निरु० १०—२६ ॥

६—(२) पृ० १८३ "मैं नहीं कह सकता कि यास्काचार्य के समान विद्वान् प्रामाणिक ग्रन्थों (ब्राह्मणों—ले०) को छोड़कर क्यों वेदों पर कलङ्क लगा गए"।

यह सब उद्धरण इतने स्पष्ट हैं कि इन पर कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं। उक्त पूज्य पण्डित जी की सम्मति में "निरुक्त" ग्रन्थ वेदार्थ के लिये एक दम उठाकर खूँटी पर रख देने योग्य ही है। सहृदय पाठकों की सेवा में हम विनम्र भाव से कहना चाहते हैं कि अप्रमाणिक आचार्यों की इस सूची में से अब समाधान की पर्याप्त प्रमाण सामग्री मिलने के कारण यास्क का नाम निकाल देना चाहिये।

यह सब लिखने का तात्पर्य यही है कि यास्क और निरुक्त के विषय में अभी तक बहुत कुछ आशङ्कायें बनी हुई हैं, इसलिये भी "वेद और निरुक्त" के विषय में बहुत कुछ प्रकाश डाला जाना चाहिए। जिस के लिए हम यथाशक्ति पूर्ण रीति से विद्वानों की सेवा में अपने विचार उपस्थित करते हैं।

३—निरुक्तकार का वेद का स्वरूप

सब से प्रथम हम "यास्क" के वेद का स्वरूप सज्जनों के आगे रखते हैं। क्योंकि मूल के बिना आधार कैसे होगा।

"निरुक्त" के प्रारम्भ में ही चार प्रकार के पद-विभाग तथा शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए यास्क का लेख है—

(i) अपौरुषेयत्व

"पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"

ऐसा लिखा है। जिसका अर्थ है "पुरुष की विद्या अनित्य होने से वेद में कर्मों का सम्पादन (प्रकार) यद्वा कर्मों की सम्पूर्णता (यथा ऋ० भूमिका पृ० ६०) का प्रतिपादन है।

इस लेख से निम्न बातें स्पष्ट हैं—

(१) पुरुष की विद्या अनित्य है। वेद में ऐसी अनित्य विद्या नहीं, वेद में इस के विपरीत नित्य विद्या है जो पुरुष की (पौरुषेय) नहीं किन्तु अपौरुषेय है।

(ii) मंत्रों के कर्त्ता ऋषि

इस विषय में यास्क की क्या सम्मति है सो भी सुनिये—

(पूर्व पक्षी) (१) देखो निरु० ३——११ में

"ऋषिः कुत्सो भवति, कर्त्ता स्तोमानाम् इत्यौपमन्यवः"

अर्थात्—कुत्स ऋषि होता है, स्तोमों (मन्त्रों) का कर्त्ता ऐसा औपमन्यवाचार्य का मत है। इसमें "कर्त्ता स्तोमानाम्" का अर्थ—मन्त्रों का बनाने वाला—कितना विस्पष्ट है। क्या इससे प्रत्यक्ष सिद्ध

नहीं कि यास्क ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता (बनाने वाला) मानता है ?

(२) और देखिये—निरु०—१०—४२

"अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते तत् परुच्छेपस्य शीलम्"

यहाँ परुच्छेप ने मन्त्र बनाये ऐसी झलक प्रतीत होती है। आगे का पाठ निम्न प्रकार है :—

"परुच्छेप ऋषिः पर्ववच्छेपः परुषि परुषि शेपो ऽस्येति वा ॥

यहाँ भी परुच्छेप को "ऋषि" कहा गया है। क्या इन प्रमाणों से ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता हैं इसमें कुछ भी सन्देह रह जाता है ? (सिद्धान्ती) सब से प्रथम हम निरुक्त के "कर्त्ता स्तोमानाम्" का अर्थ स्वयं न कर के आचार्य यास्क के अपने शब्दों में ही दर्शा देते हैं।

देखिये निरुक्त १०—४२ में "कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः" में जिस औपमन्यव आचार्य के मत से "कर्त्ता स्तोमानाम्" ऐसा यास्क ने लिखा। उसी औपमन्यव आचार्य के मत से यास्क ने निरु० २—११ में ऋग्वेद दशम मण्डल के ९८ सूक्त के ५वें मन्त्र में आये हुए "ऋषि" शब्द का अर्थ दर्शाते हुए लिखा है—

"ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः"

अर्थात् ऋषि—द्रष्टा होने से—स्तोमों (मन्त्रों) को देखा (न कि बनाया) ऐसा औपमन्यव आचार्य का मत है ॥

कितना विस्पष्ट लेख है। जिस औपमन्यव आचार्य के मत से "कर्त्ता स्तोमानाम्" लिखा उसी का मत दिखाते हुये यास्क ने "स्तोमान् दर्श" ऐसा लिखा। यदि किसी दूसरे के मत से लिखा होता तो पूर्वपत्ती को ऐसा कहने का अवसर भी मिल सकता था कि एक आचार्य ऋषियों को मन्त्रों का कर्त्ता मानते हैं दूसरे द्रष्टा। परन्तु यहाँ पर तो दोनों स्थलों में वही एक ही औपमन्यव आचार्य है। अतः इस में शङ्का का यत् किञ्चित भी स्थान नहीं रह जाता। परुच्छेपस्य शीलम्—: यहाँ दुर्गाचार्य का लेख निम्न प्रकार है—

"परुच्छेपस्य मन्त्रदृशः शीलम्" स हि नित्यमभ्यस्तैः शब्दैः स्तौति । मन्त्रदृशोऽपि स्वभाव उपेक्ष्य इत्युपप्रदर्शनायेदमुक्तम् ॥

कैसी हृदयग्राही सङ्गति लग रही है। इसमें भी कोई खींचातानी का व्यर्थालाप करे तो अन्धेर है ॥

इस विषय में एतद्देशीय तथा विदेशीय विद्वान कुछ आशंकायें उठाते हैं—कि

(३) "नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः……… तै० आ० ४-१-१ तथा शा०

अण्यक ॥ ताण्ड्य महाब्राह्मणे १३-३-२४ आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् तथैव आपस्त० श्रौतसूत्रे ॥

(४) "यावन्तो वा मन्त्रकृतः" कात्यायन श्रौत सू०३-२-८॥ तथा च बौधायन श्रौ० सू०

(५) गृह्यसूत्रों में—काठक गृह्यसूत्र-४१-११ ॥ श्रद्धाया दुहिता—स्वसर्षीणां मन्त्र कृतां बभूव । सत्याषाढ श्रौ० सू० ३--१ ॥ ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यः ॥

इत्यादि प्रमाणों को लेकर ऋषियों को मन्त्रों के बनाने वाले बताते हैं। (विशेष देखो ऋग्वेद पर व्याख्यान पृ० ३४ से ३५) ।

इस पर अधिक न लिख कर कुछ ही स्थलों का भाष्यकारों का अर्थ दर्शाये देते हैं--

(i) तै० आ०—— के भाष्य में महा विद्वान भट्ट भास्कर का निम्न लेख है—

"अथ नम ऋषिभ्यः द्रष्टृभ्यः मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शन मेव कर्त्तृत्वम् ॥

(ii) सायणाचार्य ने भी तै० आ० के इसी स्थल पर लिखा है—

"ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मंत्रकृत्
करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः ॥

इन दोनों उद्धरणों से सर्व श्रौत गृह्यादि में इस शब्द के अर्थ

की व्यवस्था समझ में आ जाती है। इस प्रकार वेद तथा इन गृह्य श्रौत आदि सब कर्तृत्व से द्रष्टत्व ही यास्क और औपमन्यव सदृश ऋषियों को अभिमत है। तब हमें "मन्त्रकृतां" का ऐसा अर्थ मानने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है।

यहाँ यास्क का प्रमाण सब प्रमाणों में सर्वतः उपरि है।

(iii) यदि आप कहेंगे कि "डुकृञ्" तो 'करणे' अर्थ में धातुपाठ में पढ़ा है। सो भी अज्ञान की बात है। देखिये महामुनि भगवान् पतञ्जलि 'करोति' का अर्थ क्या मानते हैं—

महाभाष्य "भूवादयो धातवः" के भाष्य में—

"बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्त्तते केशश्मश्रु वपतीति।......करोतिरभूत प्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते पृष्ठं कुरु। पादौ कुरु। उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्त्तते। कटे कुरु। घटे कुरु। "अश्मानितः कुरु स्थापयेति गम्यते।

अर्थात्—धातु बहुत अर्थ वाले भी होते हैं। जैसे वप् धातु बखेरने के अर्थ में देखा जाता है। काटने के अर्थ में भी होता है। जैसे केशश्मश्रु को (वपति) काटता है। करोति अभूत प्रादुर्भाव—जो नहीं था और हो गया इस अर्थ में देखा जाता है। निर्मलीकरण (धोने) अर्थ में भी होता है। जैसे पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, का

अर्थ पृष्ठ को धोओ, पाँवों को धोवो यह है। 'इतः कुरु' का अर्थ है। इधर कर दो, रख दो या हटा दो यही प्रतीत होता है। इत्यादि

अकस्मात् यहाँ करोति का ही अपना अभिमत अर्थ पतञ्जलि ने दे दिया है। अब भी इसे कोई कल्पनामात्र ही समझता रहे तो परमात्मा ही उसकी बुद्धि को सुमार्ग = सीधे, सरल मार्ग पर लावे। इससे अधिक और क्या कह सकते हैं।

(iv) वर्त्तमान उपलब्ध आधुनिक वेद भाष्यकारों में सर्व प्रथम आचार्य स्कन्द स्वामी जिसके हम बहुत कृतज्ञ हैं—की भी सम्मति देते हैं।

निरुक्त भा० vo ll पृ० e४८३—

"क्रिया सामान्यवचनत्वात् करोतिरत्र रक्षणार्थः उत्तरणार्थो वा"

धात्वर्थ पर हम पुनः किसी समय अवसर मिलने पर विचार करेंगे, यहां पर इतना ही पर्याप्त है।

अन्त में निरुक्त का एक स्थल और उपस्थित करता हूँ—

(२) निरुक्त ७—३

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैॠषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"

ऋषियों को मन्त्रों का दर्शन होता है, न कि वह मन्त्रों के बनाने वाले होते हैं। यह इस लेख से विस्पष्ट है।

स्कन्द स्वामा (४—१९ पृ० २४९)—— ऋषि का अर्थ स्तोता करते हैं।

"च्यवन इत्येतदनवगतम् । च्यावन इत्येव न्याय्यम् । ऋषिमिधेयः । तदाह च्यावयिता स्तोमानाम् देवनाम् प्रति गमयिता स्तोतेत्यर्थः ।

इसी प्रकार इस विषय में अन्य भी बहुत से प्रमाण हैं परन्तु यहाँ पर इतने ही पर्याप्त हैं। अतः यास्क वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। यह सर्वथा सिद्ध है।

३—यास्क तथा वेदों का नित्यत्व तथा प्रयोजनत्व

यह भी पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण—"पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" में पुरुष की विद्या अनित्य होने से—तद् भिन्न नित्य विद्या वाले (प्रभु) की नित्य विद्या होने से नित्यत्व सिद्ध है।

"कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" इस वचन से वेद में सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों की सम्पत्ति (सम्पादन प्रकार) सम्पूर्णता प्रतिपादित है। इसी से वेद ज्ञान की प्रयोजनता प्रत्येक मनुष्य को स्वकल्याणार्थ अवश्य है। यह भी सुस्पष्ट है॥

४—निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं।

यास्क कृत वर्त्तमान निरुक्त ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य दस ग्रन्थों में से एक है। इनके अन्तर्गत होने से यह केवल ऋग्वेद का ही निरुक्त है ऐसा किन्हीं लोगों का विचार है। क्योंकि यास्क से पूर्व शाकपूणि आदि १३ नैरुक्तों का यास्क ने स्वयं उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि सम्भव है कि वह निरुक्त अन्य वेदों के

तथा ऋग्वेद के भी हों। यास्क ने अपने ग्रन्थ में 'शाकपूणि' को २० वार स्मरण किया है। वृहद्देवता में भी १० वार इसका उल्लेख मिलता है। देखो 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाष्य १, श्री० पं० भगवद्दत्त जी कृत पृ० १६९ से १७७। यह ग्रन्थ पर्याप्त परिश्रम और योग्यता से लिखा गया है।

इस से अनुमान हो सकता है कि सम्भव है वह निरुक्त भिन्न भिन्न शाखाओं के हों। परन्तु जब तक वह ग्रन्थ समक्ष में नहीं आ जाते, उनकी किसी प्रकार की कल्पना करना व्यर्थ ही है। उपर्युक्त युक्ति के विपरीत यह भी तो युक्ति हो सकती है कि जैसे प्राचीन वैयाकरणों शाकल्य शाकटायनादि के पश्चात् अगाधमति पाणिनि ने "केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च" महाभाष्य के इस वचन के अनुसार सब का समन्वय करके एक ही सर्वाङ्ग पूर्ण शास्त्र "अष्टाध्यायी" बना दिया, और प्रतिशाख्य ग्रन्थों की व्याकरण विषयक आवश्यकता को भी पूर्ण कर दिया। व्याकरण विषय के लिए इन प्रातिशाख्यों की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती ऐसा हमारा मत है। शेष उच्चारणादि की प्रक्रिया को सुरक्षित बनाये रखने के लिए तो ये ग्रन्थ उपयोगी हैं ही।

पाणिनीय अष्टाध्यायी के विषय में हमारे इस मत का आधार है महाभाष्यकार का वचन "सर्ववेदपारिषदंहीदं शास्त्रम्" महाभाष्ये।

अर्थात्—"पारिषत् कृतिरेष तत् भवताम्" कह कर महाभाष्य-कार राकार-ओकार के उच्चारणों के स्वरूप को बताते हैं और पुनः इस पाणिनीय शास्त्र को "सर्व वेद पारिषदं" सब वेदों का पारिषद

ग्रन्थ बताते हैं। इतने ही से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि "अष्टाध्यायी" को सब वेदों से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ मानते हैं। न कि ऋग्वेद के अन्तर्गत दश ग्रन्थों में होने से केवल ऋग्वेद का ही यह ग्रन्थ है।

इस विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि "अष्टाध्यायी" से अतिरिक्त और कोई भी व्याकरण का ग्रन्थ संहिता भेद अथवा शाखा भेद को लेकर बना हो यह कोई नहीं कह सकता।

इसी प्रकार निरुक्त भी समस्त वेदों का अंग है न केवल ऋग्वेद का ही। उपर्युक्त विषय की साक्षी हम स्वयं निरुक्त से ही देते हैं।

निरुक्त अष्टमाध्याय दैवत काण्ड में चौथे खण्ड से १५ वें खण्ड तक का सम्पूर्ण द्वितीय पाद "अथातः आप्रियः" आप्री सूक्त परक ही है। इस प्रकरण में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस पाद के सब मन्त्र ऋग्वेद-यजुर्वेद और अर्थव वेद तीनों में आये हैं। आप्री देवता इध्म से लेकर स्वाहाकृतयः तक १२ देवता निरुक्त कार ने क्रमशः व्याख्यात किये हैं जो निम्न प्रकार हैं—

इध्म-तनूनपात्-नराशंसः-ईडःबर्हिः-द्वारः-उषासानक्तः। दैव्या होतारः। तिस्रा देवी। त्वष्टा। वनस्पतिः। स्वाहाकृतयः।

इन बारह देवताओं के उदाहरण में १२ ही मन्त्र यास्क ने क्रमशः दिये हैं। हमें यहाँ वक्तव्य इतना है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११० सूक्त में ११ ही मन्त्र हैं। "नराशंस:" तृतीय देवता का जो मन्त्र यास्क ने दिया है वह ऋ० १०–११० सूक्त में नहीं है। क्योंकि सूक्त में तो केवल ११ ही मन्त्र हैं। १२ आवे कहाँ से। हाँ यास्क ने "नराशंस:" देवता के उदाहरण में जो मन्त्र दिया है वह ऋग्वेद में अन्यत्र ऋ० ७-२-२ में है।

यहाँ पर विचारणीय बात यही है कि यास्क यदि केवल ऋग्वेद का ही व्याख्याकार है तो उसने १२ देवताओं का क्रम क्यों रखा जब ऋग्वेद की संहिता में १२ देवता इस प्रकार के हैं ही नहीं अपि तु ११ ही हैं। इस से यह स्पष्ट सिद्ध है कि—निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं। अन्यथा इतने भिन्न क्रम से यास्क इन देवताओं का व्याख्यान न करता।

जैसा ऊपर लिखा यह मन्त्र अथर्व वेद ५—१२ में भी क्रमशः ऋग्वेद के सर्वथा सदृश हैं। अर्थात् इसी क्रम से है तथा संख्या में भी ११ ही हैं।

अब देखिए यजुर्वेद अ० २९ मं० २५ से ३६ तक जैसे के तैसे १२ संख्या में और निरुक्तकार प्रदर्शित १२ देवताओं के ठीक वैसे ही क्रम से वर्त्तमान हैं। इससे स्पष्ट है कि यास्क ने अपने निघण्टु में जिन १२ पदों को क्रम से रखा उनकी मन्त्रों के उदाहरणों सहित ठीक उसी क्रम से व्याख्या की जो यजुर्वेद का क्रम है न कि ऋग्वेद के क्रम को लेकर।

इससे सिद्ध है कि निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं अपितु सम्पूर्ण वेद संहिताओं की व्याख्यान प्रक्रिया दिखाना ही इसका प्रयोजन है।

यहाँ एक बात स्कन्द भाष्य Volume का संक्षेप ३ पृ० १२४ में ध्यान देने योग्य है—"आप्रियो ऽधीता अनन्तरं वक्ष्यन्ते इति शेषः

आप्नोतेरित्यादि ऋक् पक्षे करण साधनः। तथा च ब्राह्मणम् आप्रीभिः इति ऋक पक्ष एव, देवतापक्षे- आप्तव्या तर्पितव्या भवति कर्म साधनः (?) ॥१४॥

यहाँ इध्मादि आप्रियों को ऋक् पक्ष तथा देवता पक्ष से भिन्न २ माना है। केवल देवता नहीं यह विचारणीय बात है॥ निघण्टु के यह सब पद देवता वाची हो हैं यह बात नहीं॥

यदि कहा जावे कि उपर्युक्त मन्त्र ऋग्वेद की किसी अनुपलब्ध शाखा में इसी क्रम से होंगे तो यह केवल अनुमान मात्र ही है।

"उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचत इति बाधित न्यायः" के अनुसार हेय ही समझा जायगा॥

यास्क ने सब वेद संहिताओं तथा उन की शाखाओं को लक्ष्य में रख कर ही सब का एक सामान्य वेदाङ्ग निरुक्त निर्माण किया। इसी से उस में "आर्चाभ्याम्नाये" (नि०) करके किसी शाखा का वर्णन किया है (देखो वैदिक वाङ् मय का इतिहास पृ०)।

तथा नि० १०-६ "इति काठकम्" "इति हारिद्रविकम्" ऐसा वचन है ।। जो यजुर्वेद की शाखा रूप ग्रन्थों में है। इस से भी स्पष्ट है कि यास्कीय निरुक्त सम्पूर्ण वेदार्थ की शैली की दूसरी कुञ्जी है, क्योंकि प्रथम कुञ्जी तो "सर्वं वेदपारिषदं हीदं शास्त्रम् ।" महाभाष्यकार के इस वचन से 'पाणिनीयाष्टकं अर्थात् अष्टाध्यायी ही है ।।

अतः यास्क का निरुक्त सब वेद तथा उस की शाखाओं के सम्बन्ध में अर्थ की प्रक्रिया का प्रतिपादन करता है। यही कहना हमें यहाँ अभिप्रेत है ।।

५—निरुक्तकार के ब्राह्मणों का स्वरूप

निरुक्त १३-४ में निम्न पाठ है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आ विवेश। ऋ० ४-५८-५

"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः, त्रयो अस्य पादा, इति सवनानि त्रीणि, द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये, सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि, त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्र ब्राह्मण कल्पैः वृषभो रोरवीति

रेरवणमस्य सवन क्रमेण ऋग्भिर्यजुभिः सामाभिः, यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः।...... स्तुवन्ति ।........महोदेव इत्येष हि महान् देवो यक्षज्ञो मर्त्यां आविवेश।"

यहाँ पर "त्रिधा बद्धः" का अर्थ मन्त्र, ब्राह्मण कल्पैः निरुक्त में किया गया है।

इससे यास्क ब्राह्मण को वेद से पृथक मानता है यह सुस्पष्ट है।

आश्चर्य की बात है कि गोपथ ब्राह्मण में भी इसी 'चत्वारि शृङ्गा' की व्याख्या में लगभग निरुक्त जैसा ही पाठ है। जो निम्न प्रकार है:—

"चत्वारो वा इमे वेदा। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः........चत्वारि शृङ्गा वेदावा एत उक्ताः........त्रिधा बद्धः इति मन्त्रकल्पो ब्राह्मणम्। गो० ब्रा० १-३४

इस लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यास्क ने ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की।

काठक ब्रा० में भी ऐसा ही पाठ है।

"चत्वारि शृङ्गा वेदा वा एतदुक्ता........त्रेधा बद्धो मन्त्र ब्राह्मण कल्पैः।

सवन क्रमेण ऋग्भिर्यजुभिः सामभिरथर्वभिः। यदेन मृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभि र्जपन्ति।

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के आधार पर यास्क भी मन्त्र से पृथक ब्राह्मण को मानता है। यह स्मरण रहे कि १३ वीं अध्याय को स्कन्द, दुर्ग, सायणादि ने नह क्त के अन्तर्गत ही माना है। (२) "यथा एतद् ब्राह्मणं भवतीति बहुभक्ति वादीनि हि ब्राह्मणानि" नि० ७--२४॥ निरुक्त प्रक्रिया को न समझते हुये बहुत से लोग एक शब्द का एक ही अर्थ प्रायः लेने लग जाते हैं। इस विषय पर विचार के लिए पृथक् प्रकरण चाहिए। यहाँ पर इतना ही है कि ब्राह्मणे ने गुणों के सादृश्य को लेकर अनेक शब्दों के अर्थ दर्शाये हैं जिन शब्दों के अनेकार्थ अथवा एकार्थ अनेक शब्द निघण्टु में दर्शाये हैं, उनसे इस विषय की व्यवस्था ठीक बन जाती है।

(३) निरुक्त १ - १५

"अथापि ब्राह्मणेन रूप सम्पन्ता विधीयन्ते। उरु प्रथस्वेति प्रथयति (श० १--१--६--८) (४) निरुक्त २--१६

तत्रोपमार्थेन युद्ध वर्णा भवन्ति, अहिवन्तु खलु मन्त्र वर्णा। ब्राह्मणवादाश्च" तै० सं० २--४--१२--२

अर्थात् ब्राह्मण मन्त्रों को रूप सम्पन्न करता है। मन्त्र में आये

हुये 'उरु प्रथस्व' आदि को इति प्रथयति द्वारा उसका विनियोग बताता है। तथा मन्त्रवर्णा और ब्राह्मणवादाश्च से मन्त्र और ब्राह्मण को पृथक्-पृथक ही ग्रहण करते हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यास्क ब्राह्मणों के बहुभक्तिवाद को लेकर वेद के व्याख्यान ग्रन्थ मानते हैं। जो 'उरु प्रथस्व' आदि प्रतीकों को लेकर उनकी क्रिया बतलाते हैं। क्योंकि "विनियोजकं हि ब्राह्मणम्" यह प्रसिद्ध है। इस विषय में अधिक श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत "क्या ब्राह्मण वेद है" तथा श्री० पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार कृत "शतपथ में एक पथ" देखें।

निरुक्त के टीकाकार स्कन्द और दुर्ग तो तै० सं० काठक तथा मैत्रायणी सं० को भी स्पष्ट ब्राह्मण के नाम से उद्धृत करते .

ऋषिः—देवता—विनियोग और यास्क

(६) ऋषिः—इस विषय का प्रतिपादन हम "वेद का अपौरुषेयत्व ही यास्क को अभिप्रेत है" इस प्रकरण में कर चुके हैं। "कर्त्तास्तोमानामित्यौपमन्यवः" का अभिप्राय उसी औपमन्यवाचार्य के ही शब्दों में

"ऋषिदर्शनात् ददर्शेत्यौपमन्यवः"

से स्पष्ट है।

ऋषि को यास्क प्रवक्ता मानते हैं यह वहीं दरशाया जा चुका है। पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं।

(७) देवता—देवता विषय में ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० ६५ में :—

(१) "यत् काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः समन्त्रो भवति" निरु० ७-१

तथा च—

(२) "महाभाग्याद्देवताया एक एव "आत्मा" बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति" नि० ७–४

अत्रोच्यते। ऋषिरीश्वरः सर्व दृक्, यत् कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति, स यत् कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थं गुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति.......

यत् प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते"

अर्थात्—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही देवता कहलाता है। तथा प्रधानत्वेन एक आत्मा (परमात्मा) ही सब मन्त्रों का मुख्य देवता है। यह निरुक्त कार के देवता का स्वरूप है, जिसका प्रतिपादन ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ६३ से ७५ तक उत्तम रीति से किया हुआ है।

(३) "या तेनोच्यते सा देवता। ओङ्कारः सर्व देवत्यः.......अन्या देवता तद् विभूतयः, एकैव महानात्मा देवता.......तदप्येतदृचोक्तं "इन्द्रं मित्रं......."

(४) अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमास्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः
॥ वृ० १—६ ॥

(५) "तेनवाक्येन यत् प्रतियाद्यं वस्तु सा देवता"
षड्गुरु शिष्य वेदार्थ दीपिका पृष्ठ ६० ॥

(इङ्गलैंड की छपी)

यह सब प्रक्रिया निरुक्तकार यास्क के आधार पर ही बृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी में व्याख्यात की गई है। आगे के विद्वानों ने मूल रूप से तो इस बात को स्वीकार ही किया है कि मन्त्र में प्रतिपाद्य विषय का नाम ही देवता है॥

२—सर्वानुक्रमणियें ही देवता विषय में एक मात्र प्रमाण (निर्णायक) नहीं

वर्तमान में देवता का जितना व्यवहार है उस बात का आधार सर्वानुक्रमणियों को ही माना जाता है। यह तो सब को ही मन्तव्य है कि समय २ पर जिन २ आचार्यों ने मन्त्रों के अर्थ का विचार किया यथामति उन २ मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय लोक उपकारार्थ बताया। पर उन्होंने सीमा नहीं बाँध दी अर्थात् इयत्तामात्र का अवधारण नहीं कर दिया। क्योंकि ऐसा करने से उपर्युक्त देवतावाद का प्रकार ही नहीं बन सकता जिसको कि स्वयं यास्क--बृहद्देवताकार तथा सर्वानुक्रमणीकारों ने माना।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि "देवता नियत हैं" "जो देवता बना दिये उनसे भिन्न देवता हो ही नहीं सकते" यह बात नहीं।

इस विषय में निरुक्त के ही कुछ और स्थल विद्वानों की सेवा में उपस्थित करता हूँ---

(१) निरु० ११--६ पृ० १६३

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधात्यायन प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥ ऋ० १०—८५—१९ ॥

इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क लिखते हैं—

" आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके........ प्रवर्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः "

अर्थात्—इस मन्त्र में द्वितीय पाद को सूर्य देवता वाला कोई २ मानते हैं। ऐसा यास्क कहते हैं।

इस मन्त्र का देवता कात्यायन सर्वानुक्रमणी में पृष्ठ ४० पर सूक्त का देवता दर्शाते हुए निम्न प्रकार है—

" सत्येन सप्तचत्वारिंशत् सावित्री सूर्यात्मदैवताम नुष्टुभं पञ्चभिः "

' सर्वानुक्रमणीकार ' इस सूक्त का सूर्य-आत्मा-देवता मानते हैं।

अब 'बृहद्देवता' में इसी सूक्त पर निम्न प्रकार लेख है।

"सप्तदशी वैश्वदेवी सौर्याचन्द्रमसीपरा ॥ १२४ ॥
परस्याः प्रथमौपादौ सौर्यौचन्द्रमसौपरौ।
और्णवाभो हयृचे त्वस्मिन् अश्विनौमन्यते स्तुतौ॥१२५॥
सूर्याचन्द्रमसौ तौहि प्राणापानौ च तौस्मृतौ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥१२६॥
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥१२७॥

अर्थात् इस ऋ० १०—८५ वें सूक्त के १९ वे मन्त्र में "प्रथमौ

पादौ सौर्यौ" प्रथम दो पाद सूर्य देवता वाले हैं। "चन्द्रमसौपरौ" पर दोनों पाद चन्द्रमा देवता वाले हैं।

ध्यान देने योग्य यहाँ इतनी बात है कि सर्वानुक्रमणी इस सूक्त को सूर्य-आत्मा देवता वाली बताती है। निरुक्तकार द्वितीय पाद को "आदित्य दैवतो द्वितीयः पाद इत्येके" (निरु० ११—६) में 'इत्येके' पद पढ़ कर स्वयं "चन्द्रमा" देवता परक व्याख्यान करते हैं। उधर बृहद्देवता में इसी मन्त्र के प्रथम दो पादों को "सूर्य देवताक" तथा अग्रिम दो पादों को "चन्द्रमा" देवता वाला माना है।

हम यहाँ इतना ही दिखाना चाहते हैं कि इन देवता प्रतिपादक ग्रन्थों में स्वयं परस्पर भेद (दूसरे शब्दों में परस्पर विरोध) है, यदि देवता को नियत ही माना जावे तब। जब देवता "मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय मात्र" है और सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ है जैसा कि आगे चल कर सप्रमाण दिखाया जायेगा तब देवता विकल्प से किसी को कभी घबराहट में न पड़ जाना चाहिये। जहाँ कहीं ऋषि दयानन्द ने भी इन प्रचलित देवताओं से भिन्न देवता माने हैं, वहाँ की योजना इस प्रकार समझनी चाहिये।

(२) निरुक्त १२—३०

"पवीरवी तन्यतुरेक पादजो........ऋ० १०-६५-१३॥

इस मन्त्र का देवता यास्क ने 'वैश्वदेव्यामृचि'...करके विश्वे

देवा, लिखा है। आगे "अतितस्थौ पवीरवान...॥ ऋ० १०-६० ॥ इत्यपि निगमो भवति ॥

"तद्देवता वाक् पवीरवो, पवीरवो च दिव्या वाक्"

ऐसा यास्क का लेख है। अर्थात् "अतितस्थौ पवीरवान्" वाला (ऋ० १०—६०) सूक्त "पवीरवी वाक् देवता वाला है।

उधर सर्वानुक्रमणी तदनुगामी सायणादि सब इस सूक्त को

"चतसृभिर समातिमस्तुवन्" सर्वानु० पृ० ३९ ॥

असमाति राजा की स्तुति देवता बताते हैं।

बृहद्देवताकार इसे वृ० दे० ७—९६ में

"ऋगभिरेति चतसृभिस्तत् तत् ऐक्ष्वाकुमस्तुवन"

ऐक्ष्वाकु की स्तुति लिखा है।

ऐक्ष्वाकु राजा—अथवा असमाति राजा—देवता का निरुक्त-कार यास्क के "पवीरवान् वाक्" देवता के साथ भला क्या सम्बन्ध है !

(४) इस विषय में हम एक प्रौढ़ प्रमाण और विद्वत्महानुभावों की सेवा में उपस्थित करना चाहते हैं।—

महाभाष्य के पस्पशाह्निक में "चत्वारि शृङ्गा"... ऋ ४—५८—३ का व्याख्यान पतञ्जलि भगवान् ने इस प्रकार किया है—

"चत्वारिशृङ्गात्रयो अस्यपादा,
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधावद्धो वृषभोरोरवीति, महो देवोमर्त्यां अविवेश।

ऋ० ४-५८-३ गो०ब्रा०का०ब्रा०

चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयोऽस्य पादाः। त्रयःकाला भूत भविष्यद् वर्त्तमानाः सप्तहस्तासो सप्त विभक्तयः।....... महान् देवः शब्दः। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्॥

महाभाष्यकार ने इस मन्त्र को "महान् देवः शब्दः" ऐसा कह कर शब्द परक ही व्याख्यान किया है। शब्द रूप महान् देव के ही चार शृङ्ग (सींग) चार पाद, दो शीर्ष, सात हाथ दर्शाये हैं यहाँ यह व्याख्यान इतना स्पष्ट है कि इस में किसी को यत् किञ्चित् भी कहने का अवसर नहीं रह जाता।

उधर देखिये यह सर्वानुक्रमणियें और बृहद्देवतादि क्या कहते हैं, जिनके बोझ के नीचे दबे—ऋषि दयानन्द की धारणा का ठीक अध्ययन न करने वाले—अनार्ष विधियों और क्रमों के प्रवाह में वैदिक धर्मी कहलाने वाले भी इन्हीं में गोते खाते रहते हैं। देवता वाद के शुद्ध स्वरूप को प्रचलित रूढ़ियों के चक्र में पड़े होने के कारण नहीं जान सकते या जानते हुए भी क्यों चुप हैं? क्या ऐसे

सत्योक्ति देवता के उपासक दूसरे शब्दों में सत्य के ठेकेदार सत्य के वास्तविक स्वरूप तक कभी पहुँच सकते हैं ?

नहीं तो हम यहाँ पर ही ऐसे लोगों से पूछते हैं कि—

क्या महामुनि पतञ्जलि ने "चत्वारि शृङ्गा" की व्याख्या तुम्हारी सर्वानुक्रमणियों या बृहद्देवतादि के पीछे चलकर की ?

देखिये ! ऋक् सर्वानुक्रमणी में इस मन्त्र का देवता पृ० १८ पर निम्न प्रकार है—

"आग्नेयं—सौर्यं वापं वा गव्यं वा घृतस्तुतिर्वा"

अर्थात्—सर्वानुक्रमणीकार के मत में इस मन्त्र का देवता अग्नि, सूर्य, आपः गव्य अर्थात् गो विकार दुग्ध दधि आदिस्तथ घृत की स्तुति ये पांच देवता हैं।

उधर बृहद्देवताकार ने बृ० दे० ५—१० में निम्न प्रकार माना है-

"समुद्रादित्यग्नेर्मध्यमस्य" ऋ० १०-४-५८ ॥

आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टं
आग्नेयं वाप्याज्यसूक्तं हि दृष्टम् ।
अपां स्तुतिं वा यदि वा घृतस्तुतिं
गव्यमे के सौर्यमेतद् वदन्ति ॥११॥

अर्थात्—मध्यमाग्नि—ब्राह्मणों के अनुसार आदित्य, अथवा अग्नि इस सूक्त का देवता है। कई एक के मतों में जलों की स्तुति घृत की स्तुति—गव्य गो विकार—सूर्य ये देवता इस सूक्त के हैं।

यहाँ पर बृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी लगभग एक जैसा ही दर्शाते हैं। परन्तु महाभाष्यकार के "महान् शब्दः" देवता की इनमें गन्ध भी नहीं।

भला बताइये सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में बतलाई घृत स्तुति अग्नि सूर्य आदि देवताओं की पतञ्जलि के महाभाष्योक्त "महान्देवः शब्द" शब्द देवता के साथ कुछ भी सङ्गति लग सकती है ?

और देखिये ! यह तो हुआ महाभाष्य से विपरीत सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता का लेख। निरुक्त का इन सब से भेद है। इसी "चत्वारि शृङ्गा" का व्याख्यान नि० १३—७ में यज्ञ परक किया गया है।

"अथैषा यज्ञस्य........"

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः..........

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः......महोदेव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञः" मर्त्यां आविवेशेति एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय...... ॥

यहाँ पर स्पष्ट ही "एषहि महान् देवो यद्यज्ञः" यज्ञ को मन्त्र गत महादेव बताया है।

यहाँ पर इतना और ध्यान रहे कि निरुक्त के इस १३वें अध्याय को सायणाचार्य ने द्वादशाध्यायी के अन्तर्गत ही माना है तथा दुर्ग-स्कन्द दोनों ने ही १३-१४ वें अध्याय को इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ही माना है। कई स्थलों मे उन्होंने इन अध्यायों को प्रमाण रूप में लेखन किया है।

यह भी ज्ञात रहे कि बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी दोनों हो निरुक्त की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता से भी पीछे की है। देवता विषय का एक और हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसका नाम "नीति मञ्जरी" है जो लगभग ३-४ सौ वर्ष का कहा जाता है। उसमें भी अनेक स्थलों में भेद है जिसे विस्तार से कभी पुनः दिखाने का यत्न किया जायगा।

हमारे उपर्युक्त लेख से सिद्ध है कि "चत्वारि शृङ्गा" की व्याख्या में बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी एक ओर हैं और घृत स्तुति आदि देवता मानते हैं। उधर महाभाष्यकार पतञ्जलि शब्द देवता और निरुक्तकार यास्कमुनि यज्ञ देवता मानते हैं।

क्या इसको कोई देवता का नियतत्व कह सकता है? जब नियत नहीं तब सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता की देवता वाद पर अन्तिम मुहर नहीं। इसीलिये स्वामी जी महाराज ने यत्र तत्र मन्त्रों के अर्थ करने में प्रचलित देवता की उपेक्षा कर दी है। इस का आधार ऋषि मुनि प्रणीत ग्रन्थ ही हैं न कि स्वामी जी की अपनी कल्पना।

इसी से हम कहते हैं पक्षपात और अनार्षत्व को छोड़ कर दयानन्द का जितना अधिक अध्ययन किया जायगा उनकी वेद सम्बन्धी धारणाओं में उतनी ही अधिक निष्ठा बढ़ेगी।

३—देवता ऐच्छिकत्व में अन्य प्रमाण

उपर्युक्त ग्रन्थकारों के पश्चात् भी आचार्यों की यही धारणा रही है। इस विषय में बहुत संक्षेप से कुछ प्रमाण और दिये जाते हैं :—

(१) निरुक्त टीका पृ० ७२८

"कामतो देवताः कल्पयाः"

अर्थात् इच्छानुसार देवता की कल्पना कर लेनी चाहिये॥

(२) पृ० २३१—

"तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा" ऋग्० ५-४४-१ नि० ३-१६

स एष सर्वथाप्येवं दुरवधार देवतो मन्त्रः॥

(३) पृ० २३२

"एव मेष यथाभिमतदैवतं योज्यः"॥

अर्थात्—इस मन्त्र के देवता का निश्चय नहीं हो सकता।

यद्वा अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार इस मन्त्र में यथाभिमत देवता मान कर मन्त्र के अर्थ की योजना कर लेनी चाहिये। "यथाभिमत दैवतं" पद विशेष ध्यान देने योग्य है॥

(४) उवट ने यजुर्वेद भाष्य के आरम्भ में लिखा है।—

" गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन्वक्ष्यामि मन्त्राणां देवता छन्दसां च यत्"॥

अर्थात् गुरु से तर्क द्वारा तथा शतपथ से वेद मन्त्रों के ऋषि-देवता और छन्द कहूँगा। केवल शतपथ से नहीं अपितु गुरु परम्परा और तर्क से भी वेद मन्त्रों के ऋषि देवतादि की कल्पना की जा सकती है। यह उवट भाष्य के इस लेख से स्पष्ट है।

(५) स्कन्द निरु० भा० १ पृ० १०८

" नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुम् "

अर्थात्—निरुक्त शास्त्र का जानने वाला देवता जान सकता है। दूसरे शब्दों में देवता का ज्ञान निरुक्त शास्त्र के आधार पर करना चाहिये। अर्थात् देवता नियत नहीं, क्योंकि देवता यदि नियत ही है तो पुनः निरुक्त शास्त्र से जानने योग्य हैं यह बात नहीं बनती।

(६) स्कन्द निरु० भा० २ पृ० २५५

"पूर्वो देवता विषयः। अयमात्माविषय इति विशेषः"

इससे यह स्पष्ट है कि स्कन्द स्वामी के मत में आध्यात्मिक पक्ष

में "एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते" के अनुसार किसी भिन्न देवता की आवश्यकता नहीं। आत्मा ही सबका देवता है।

दूसरे शब्दों में आध्यात्मिक पक्ष में भिन्न देवता वाद का अस्तित्व ही नहीं रह जाता।

इस प्रकरण में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि "वेद के सम्पूर्ण मन्त्रों का अर्थ आधि दैविक, आधि भौतिक- तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार का होता है। जिसको इसी आचार्य स्कन्द स्वामी ने भी स्वीकार किया है।" इस अवस्था में आध्यात्मिक पक्ष में इन सर्वानुक्रमणी और वृहद्देवता आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी से प्रत्यग् दर्शी दयानन्द ने (प्रचलित देवतावाद को देखते हुए) इनके व्यर्थ के भार से आर्य जाति के सिर को हलका कर दिया। नहीं तो इन बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणियों के देवता वाद के भँवर में पड़े हुये पवित्र वेदार्थ का सहस्रों वर्षों तक भी आर्य जाति को दर्शन न हो पाता।

स्वामी जी ने तत् तत् स्थल पर वेद भाष्य में देवताओं को भी यौगिक प्रक्रिया के आधार पर व्याख्यात किया है जिससे लोग बहुत चौंकते हैं। परन्तु यह भी स्वामी जी महाराज की अपनी कल्पना नहीं अपितु प्राचीन ऋषि मुनियों के आधार पर है। इस की विशेष व्याख्या आगे करेंगें। यहाँ केवल इतना ही कहना

पर्याप्त होगा कि निरुक्त के देवता काण्ड में देवता प्रकरण में यास्क ने नि० १२-१ में अश्विनी को व्युत्पत्ति "यद् व्यश्नुवाते सर्वम्...... करके अनेक अर्थ दिखाये हैं।

इसी विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है–जैसा कि पूर्व भी दर्शाया गया है स्कन्द नि० भा० ३ पृ० १२४ में निम्न लेख है–

"आप्रियोऽधीता अनन्तरे वक्ष्यन्ते इति शषः आप्रीरित्यादि ऋक्पक्षे करणसाधनः। तथा च ब्राह्मणम् "आप्रीभिः" इति ऋक् पक्ष एव देवता पक्षे तु आप्तव्या तर्पितव्या भवति कर्म साधनः। आप्री सूक्तेषु च क्रम नियमो दृष्टः"।

यहाँ इध्मादि आप्रियों को ऋक् पक्ष तथा देवता पक्ष से भिन्न भिन्न माना है, केवल देवता नहीं यह विचारणीय है। अर्थात् निघण्टु के यह सब पद देवता वाची ही हैं यह बात नहीं।

योगिक प्रक्रिया ही इसका आधार है। इसके लिए इसका आश्रयण अनिवार्य है। इस सब से सिद्ध है कि "यास्क देवता वाद में भी यौगिकवाद के आधार पर अर्थ करते हैं।" वेदार्थ के जिज्ञासुओं के लिये यह बात बहुत ही ध्यान देने योग्य है।

बृहद्देवता-सर्वानुक्रमणी का परस्पर विरोध (भेद)

बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी में वैदिक देवताओं का जो उल्लेख है उनमें अनेक स्थलों में परस्पर विरोध (भेद) है । इस से भी "देवतावाद" का नियतत्व सिद्ध नहीं हो सकता । अतः जब बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी ही देवता विषय में सहमत नहीं तो देवता वाद नियत रूपेण कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

इस विषय में कुछ उदाहरण विज्ञ सज्जनों के सन्मुख रखे जाते हैं --

बृहद्देवता में	सर्वानुक्रमणी में
१—ऋ० १०-१७--३ में अग्नि देवता है ।	पूषा देवता लिखा है ।
२—ऋ० १०—१७—१३ में सोमो देवता ।	आपः अथवा सोम ।
३—ऋ० १० १८—१०—१३ में पृथ्वी देवता ।	पितृमेध ।
४—ऋ " " " " आशीः देवता ।	पितृमेध अथवा प्रजापतिः ।
५—ऋ० ३६—१२—१४ सवितृ इत्येके (तीनों मन्त्र) यह कई एक आचार्यों का	सामान्य विश्वेदेवा माना है । इन तीनों मन्त्रों का कोई उल्लेख नहीं ॥

मत है । शौनक-यास्क गालव के मत में केवल अन्तिम १४ वें मन्त्र का ही सवितृ देवता है ।	
६—ऋ०-५५- सूर्या चन्द्रमा सौ	सर्वानुक्रमणी में कोई उल्लेख नहीं । सामान्य इन्द्र देवता है ।
७— " ६०—१—४ ऐक्ष्वाकु ५ ऐक्ष्वाक्त्रर्थ स्तुति	सर्वा० असमाति राजा इसी मन्त्र का यास्क १२-३० में पवीरवी वाक् देवता मानते हैं ॥
८— " —१.४—१५ राज्ञां दान स्तुतिः, राजाओं की दान स्तुति	सर्वा० अनुवृत्या-विश्वेदेवाः
९— " ११४—विश्वेदेवाः । देवाः इन्द्रः । छन्दांसि । मध्यमोऽग्निः इत्येके ॥	सर्वा० में विकल्प नहीं ॥
१०—"—११७—अन्नम् ।	सर्वा० धनान्न दान प्रशंसा ॥
११—"—१२०—६ इन्द्रो देवता । निपाति तस्तु "आप्त्या"	सर्वा० में इसका उल्लेख नहीं ।
१२—" —१२६—परमेष्ठी तथा भाव वृत्तम्	सर्वा० में केवल भाव वृत्तम् ॥

१३—ऋ० १३७—६७ "आपः",	सर्वा० में वैश्वदेवम्
१४—" १४१—अग्निः। तथा विश्वे देवाः।	सर्वा० में केवल विश्वेदेवाः ॥
१५—" १६१—ऐन्द्राग्नं मन्यते यास्क एके लिङ्गोक्तदैवतम्। राचोघ्नाग्नेयमित्युक्तम्	सर्वा० में तु अनादिष्ट दैवते तु 'इन्द्रो देवतेति न्यायेन "इन्द्रो देवता" इति ॥

यहाँ पर षड्गुरु शिष्य का लेख निम्न प्रकार है—

"यक्ष्म नाशनो नाम प्रजापतिपुत्रः।...अनादेशादिन्द्रो देवता। अत्र वृहद्देवतायां विकल्प उक्तः—

"ऐन्द्राग्नं मन्यते यास्क एके लिङ्गोक्त दैवतम्" ॥ नैतदस्ति। अत्रान्येषां मतमुक्तं। स्वयं शौनकस्येन्द्रः। एक इत्यादेशादैन्द्रत्वमेवानेनाङ्गी कृतम् ॥ वेदार्थ दीपिका पृ० १६४।

१६—ऋ० १०—१७७—सूर्य तथा माया भेद	सर्वानु० में केवल माया भेद।
१७— " १०—१७७—२ वाक् इति शौनकः	सर्वानु० में इसका उल्लेख नहीं।
१८— " १—१८५—० शान्त्यर्थं पावमान	सर्वानु० में स्वस्त्ययनम्।

सूक्तम् आदित्य—सूर्य—वरुण-मित्र ।	सर्वानु० में आदित्यम् । आदित्यदैवतमिति षड्गुरुशिष्यः ।
१६—ऋ० १०—१८९—आयं गौरिति यत् सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ । तस्मात् सा देवता तत्र सूर्य मेके प्रचक्षते । मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः त्रिस्थानाधिष्ठितं वाचं मन्यन्ते प्रत्यृचं स्तुतम् ॥ अर्थात्—सार्पराज्ञी देवता है । कई एक आचार्यों के मत में सूर्य देवता है । मुद्गल शाकपूणि तथा शाकटायन के मत में प्रत्येक मंत्र का वाक् देवता है ।	सर्वानु० में (सार्प राज्ञी) आत्मदान स्तुतिः सौर्यवा ।
२०—ऋ० १०—६५—१२—अश्विनौ ।	सर्वानु० में विश्वेदेवाः

ऋ० १०—१७—३ का देवता बृहद्देवता में तो 'अग्नि' बताया गया है उधर सर्वानुक्रमणां "पूषा" बताती है।

अग्नि पृथिवी स्थानः है और पूषा द्युस्थानः।

ऋ० १७—११—१३ में बृहद्देवता केवल सोम देवता कहता है। सर्वानु० में "सोम' या आपः ऐसा कहा है भला इस विकल्प का क्या कारण। यदि कोई कहे कि 'सोम' और 'आपः' एक ही वस्तु हैं, तब तो यौगिक प्रक्रिया के आश्रय के बिना कोई आधार नहीं उसी की शरण आना पड़ा। ऐसी अवस्था में देवतावाद को सम्पूर्ण प्रक्रिया ही बदल जाती है॥

क्या पृथिवी और पितृमेध (ऋ० १०—१८—१०—१३) एक ही हैं?

इतना ही नहीं कि इनमें भेद है प्रत्युत स्वयं बृहद्देवता में ही अनेक विकल्प तथा अनेक मत दर्शाये गये हैं। जैसे (ऋ० १०—३६—१२—१४) में कई एक आचार्य तो तीनों मन्त्रों का देवता 'सविता' बताते हैं उधर शौनक, यास्क और गालव तीनों आचार्य केवल अन्तिम मन्त्र का ही सविता देवता मानते हैं॥

क्या यह देवता विकल्प का स्पष्ट विधान नहीं। इसी का देवता सर्वानु० विश्वेदेवा प्रतिपादन करती है।

ऐसे ऋ० १०—६०—१—४ का निरुक्त बृहद्देवता-सर्वानु० इन सब में भेद हम पूर्व दिखा चुके हैं। इसी प्रकार ११४-१६१-१८९

इन सूक्तों के देवता भिन्न मत से बृहद्देवता में दर्शाये गये हैं। देवता के विकल्पत्व में इससे अधिक और क्या साक्षी दी जा सकती है।

हमने यह देवताविकल्पत्व के उद्धरण ऋग्वेद के केवल एक ही मण्डल अर्थात् दशम मण्डल के ही दिये हैं। शेष ९ मण्डलों के तथा अन्य संहिताओं के उदाहरणों को विस्तारभिया छोड़ते हैं।

एक उदाहरण देवता विषय पर अन्य प्रकार से प्रकाशक होने के कारण और उपस्थित कर देना अनुचित न होगा।

(२१) ऋग्वेद ८--२४--२८ से ३० इन तीनों मन्त्रों के विषय में बृहद्देवता में ऐसा लेख है—

"यथा वरो सुषाम्ण इत्युक्तमस्तवौषसस्तृचः" बृ० दे० ६—६३॥

अर्थात्—"यथा वरो सुषाम्णे" ऋ० ८—२४—२८ मन्त्र को लेकर तीनों देवता का उषा देवता है।

उधर सर्वानुक्रमणी में निम्न प्रकार पाठ है:—

"सौषाम्णस्य वरोर्दानस्तुति रन्त्यानुष्टुप् "

अर्थात् सोषाम्ण वरु की दानस्तुति इन तीनों मन्त्रों का देवता है।

यहां षड्गुरु शिष्य कहते हैं—

"अन्त्यस्तृचः सुषामाख्यराजपुत्रस्य वरुनाम्नो राज्ञो दानस्तुतिः"

अर्थात् अन्य की तीनों ऋचायें सुषाम नामक राजा के पुत्र वरु नामक राजा की दान स्तुति देवता वाली हैं।

भला बताइये ! कहाँ बृहद्देवता का "उषा देवता" और कहाँ वरु की दान स्तुति ! ! ! है कुछ इनका परस्पर सम्बन्ध ? बृहद्देवता में दानस्तुति की गन्ध भी नहीं। क्या देवता वाद का यही नियतत्व है ? इस देवतावाद के नियतत्व के भँवर से आर्य जाति को निकालने वाले दयानन्द को प्रत्यग्दर्शी न कहें तो और क्या कहें ?

यहाँ पर हम सत्य के उन ठेकेदारों को (जिन्होंने ने सत्य का स्वरूप "केवल जो हमारी बुद्धिमानें" के आधार पर मान कर आर्य-समाज को भी अपने सत्याभास के पीछे चलाने की कमर बाँध रखी है) चेतावनी देना चाहते हैं कि वे अपनी बुद्धि को विमल बनावें। ऋषि मुनि आप्तों के दर्शाये मार्ग को समझने का यत्न करें। व्यर्थ बुद्धि भेद को पैदा न करें। अन्यथा चन्द्रमा पर धूल फैंकने से चन्द्रमा का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। दयानन्द जब भी पक्षपात का आवरण हटेगा सम्पूर्ण विश्व में एक दिव्य ज्योतिः के रूप में चमकेगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

सर्वानुक्रमणी की सदोषता

हम ही ऐसा नहीं कह रहे परन्तु पुरा काल से इस देवतावाद के विषय में ऐसा ही मत चला आता है। दुःख की बात तो यह है कि दयानन्द को दूसरों के आधार पर माना (परखा) जाता है। एक

बात दयानन्द कहता है तब नहीं मानी जाती, पर यदि वही बात सायण कह दें या किसी और की मिल जावे तो तत्काल बिना ननु नच के मान ली जाती है, औरों की तो क्या कहें—आर्य कहलाने वालों—जो विद्वान प्रसिद्ध हो रहे हैं—का भी यही हाल है।

ऐसे लोगों के सन्तोष के लिये 'दुर्जन सन्तोष न्याय' से हम दयानन्द से पूर्व का भी प्रमाण दे कर इस देवता प्रकरण को समाप्त करते हैं:—

ऋग्वेद भाष्य आनन्द तीर्थ—इस भाष्य की छलारी नामक टीका के पृ० ५५ पर

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ऋ० १–६–१ ॥

के व्याख्यान में निम्न लेख हैं :—

"अनुक्रमणिकायां युञ्जन्त्यादहेत्येता षण् मारुत्य इति वाक्ये युञ्जन्तीति सूक्तप्रतीकं तत्र सुरूप कृत्नुं दशेत्यनुवृत्तेः सूक्त संख्यासिद्धिरिति भावः । अनुक्रमणिकोक्त देवतानां भाष्ये (आनन्दतीर्थ भाष्ये—ले०) दृष्यमाणत्वादू भाष्यानुसारेण सूक्त देवता ह (जयतीर्थः) ॥"

यहाँ ऋग्वेद के प्रथम ४० अध्यायों का भाष्य "आनन्द तीर्थ" ने किया है। उस पर जयतीर्थ ने टीका की, उस पर आगे फिर नृसिंह देव यति ने टीका की जिसका नाम छलारि टीका है। वह लिखता है—

अनुक्रमणिका (कात्यायन सर्वानुक्रमणी) में कहे हुए देवताओं को भाष्य (आनन्द तीर्थ के भाष्य) में दूषित माना गया है। इसी से भाष्य के टीकाकार जयतीर्थ ने भाष्य के अनुसार सूक्त का देवता कहा है।"

इस विषय में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ इतना ही पर्याप्त है। "वैदिक देवता" पर एक पृथक् स्वतंत्र लेख होता तो इस विषय की अधिक विवेचना हो सकती।

वेद से देवता (यास्क मुनि के मतानुसार मन्त्रप्रतिपाद्य विषय) का जो निर्णय तपस्वी पूर्ण विद्वान् महायोगी पुरुषों के द्वारा निर्धारित हो वही माननीय है। यही हमारी इस विषय में धारणा है। यास्क मुनि के मत की पुष्टि के निमित्त ही हमारा उपर्युक्त लेख है।

८—छन्दः

३ छन्दः—इस विषय में हम सङ्ग्रह नहीं कर सके। पुनः किसी समय पर अपने विचार कहे जा सकेंगे।

९—विनियोग

विनियोग के सम्बन्ध में निरुक्त १—९ में—

ऋचां त्वं पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विनिमीत उत्वः
॥ ऋ० १०-७१-११ ॥

(१) इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे "।

ऐसा पाठ है। यास्क कहते हैं कि इस मन्त्र से (यज्ञ में) ऋत्विग् लोगों के कर्मों का विनियोग—नियुक्ति-प्रतिनियम-अथवा प्रयोग-यह इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। यथार्थ विनियोग मन्त्र के अर्थ द्वारा ही जाना जाता है। मन्त्र लिङ्ग से तत् तत् कर्म में नियुक्ति ही विनियोग का लक्ष्य है। यह निरुक्त-कार के उपर्युक्त वचन से ज्ञात हो जाता है।

यास्क के इस स्थल का व्याख्यान आचार्य स्कन्द स्वामी ने इस प्रकार किया है:—

(२) पृ० ७२ भा० १—

"ऋत्विक् कर्मणां विनियोगमाचष्टे इति समस्तार्थकथनम् । विनियोगः प्रतिनियमः एक ऋत्विगिदं कर्म करोत्यन्य इदमिति, ऋचां पोषमिति यथाविधि कर्मणि प्रयोगम् ॥"

(३) इसी मण्डल के इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र का व्याख्या महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस प्रकार किया है :—

"सक्तुमिव तित उना पुनन्तो,
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते,
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ऋ० १०-७१-२॥

धीरा ध्यानवन्तः । मनसा प्रज्ञानेन । वाचमक्रत वाचमकृषत ।....अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते....य एष दुर्गो मार्ग एक गम्यो वाग् विषयः । के पुनस्ते वैयाकरणाः । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मी निहिता भवति ॥"

इसके विवरण में नागेश लिखते हैं :—

"पृ० ४४—एते च मन्त्रा सर्वानुक्रम भाष्येऽन्यत्र विनियुक्ता अपि भाष्यप्रामाण्यात् एतत्तात्पर्यका अपीति"

अर्थात्—इन मन्त्रों का विनियोग सर्वानुक्रम भाष्य में अन्य प्रकार से कहा गया है । परन्तु महाभाष्यकार के प्रमाण से यह समझना चाहिये कि यह वाग्-विषयक—शब्द विषय भी है ।

अब इस विषय में पुनः निरुक्त का एक और उद्धरण विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित करता हूँ जिससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि विनियोग मुख्यतया मन्त्रों के लिङ्ग अर्थात् तत्तत्मन्त्र में ही व्यक्त

शब्दार्थ के ही आश्रित है। दूसरे शब्दों में कोई मन्त्र किसी कर्म में विनियुक्त (Applied) लगाया हुआ यदि अपने अर्थ से उस कर्म का बोधन नहीं करता तो वह विनियोग, विनियोग ही नहीं हो सकता।

जैसे "उद्बुध्य स्वाग्ने...मन्त्र से हम अग्नि प्रज्वलित करते हैं यह इस मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अर्थात् मन्त्र लिङ्ग से ही इस कार्य का द्योतन हो रहा है। इससे अग्नि प्रज्वलन में इस मन्त्र का विनियोग ठीक है॥

निरुक्त १--१५—में मन्त्र अनर्थक हैं इसके पूर्व पक्ष में यास्क ने जहाँ कौत्स का मत दिया उसमें आक्षेप उठाते हैं —

"अनर्थका मन्त्रा....अथ ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते, उरु प्रथस्व इति प्रथयति॥"

अर्थात् मन्त्र अनर्थक हैं क्योंकि यदि ब्राह्मण न हों तब 'उरु प्रथस्व' आदि का स्वरूप ही कुछ नहीं बनता। ब्राह्मण ने बताया कि "इति प्रथयति" तब ज्ञात हुआ कि "उरु प्रथस्व" का यह अर्थ है। अतः मन्त्रों का अर्थ ब्राह्मण के अधीन हुआ। यह पूर्व पक्षी ने स्थापना की।

यास्क इसके उत्तर में कहते हैं :—नि०-१-१६ के प्रारम्भ में :—

"एतद् वै यज्ञस्य यद्रूप समृद्धं, यत् कर्म

क्रियमाणमृग्यजुर्वाभि वदतीति च ब्राह्मणम् । क्रीडन्तो पुत्रैर्नप्तृभिः ”

अर्थात्—यही तो यज्ञ कर्म को समृद्धता (उत्तमता) है कि उस २ कर्म को मन्त्र के शब्द ही बतलाते हैं (उस मन्त्र से वह कर्म ही तो सम्पूर्णता को प्राप्त होता है)। इसी को आगे और स्पष्ट करते हैं कि “यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभि वदति” अर्थात् समृद्धता तो यही है कि ऋग् या यजु क्रियमाण कर्म को ही कहता है।

दूसरे शब्दों में तत् तत्कर्म में विनियुक्त हुआ मन्त्र स्वयं अपने अर्थ के कारण ही उस २ कर्म का द्योतन करने से उस २ कर्म में विनियुक्त है। शेष ब्राह्मण ने फिर ‘इति प्रथयति’ आदि कह कर क्या किया सो यास्क इसको “इति च ब्राह्मणम्” कह कर दर्शाते हैं कि ब्राह्मण भी उस मंत्र के लिङ्ग से (तद्गत शब्दों से ही) उस अर्थ को कहता है। इसमें दुर्गाचार्य भी लिखते हैं :—

“शब्दसामान्यात्, ब्राह्मणप्रामाण्याच्चेति च शब्दः। ब्राह्मणमपिच मन्त्राणामर्थवत्त्वमेव दर्शयति। अनर्थका हि सन्तः कथं कर्माभिवदेयुः । कथं वानभिवदन्तः समर्द्धयेयुः”

अभिप्राय यह कि ब्राह्मण ने स्वतन्त्र किसी मन्त्र का विनियोग नहीं बताया अपि तु मन्त्र के अनुकूल ही उसका विनियोग दर्शाया।

ऋग्-यजुः क्रियमाण कर्म को कहता है। इसका उदाहरण यास्क विवाह कर्म में विनियुक्त हुये वैदिक विवाह संस्कार के प्रसिद्ध मन्त्र "क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः" द्वारा देते हैं। समग्र मन्त्र इस प्रकार है:—

इहैव स्तं मा वियौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वगृहे॥ऋ० १०-८५-२२

मन्त्र का अर्थ सर्वथा विस्पष्ट है:—"यहीं (गृह) पर ही रहो। पृथक् मत होओ स्वगृह में धर्मानुसार आमोद प्रमोद करते हुये पुत्र और पौत्रों से खिलाड़ करते हुए सम्पूर्ण आयु को भोगो।"

बतलाइये मन्त्र पुकार पुकार कर कह रहा है कि मुझे विवाह कर्म में लगाओ। कहने का तत्पर्य यह कि विनियोग मन्त्र के अधीन है —न कि मन्त्र विनियोग के अधीन।

यह यास्काचार्य को अभिमत है:—

अब हम इस विषय में प्रत्यग्दर्शी दयानन्द की धारणा को भी दिखा देना आवश्यक समझते हैं:—

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका प्रतिज्ञा विषय पृ० ३६६ संस्करण ६—

"अत्र वेद भाष्ये कर्म काण्डस्य वर्णने शब्दार्थः करिष्यते, परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्ड विनियोजितै र्यत्र यत्राग्नि होत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः कर्मकाण्डा

ष्ठानस्यैतरेय शतपथब्राह्मण पूर्व मीमांसा श्रौत सूत्रादिषुयथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत् कथनेना नृषि ग्रन्थवत् पुनरुक्त पिष्टपेषणापत्तेश्चेति ॥

तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादि प्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृत स्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति"

भाषार्थ प्रकृत में—इसलिए जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल-युक्ति प्रमाण सिद्ध-मन्त्रार्थानुसारी (जिसे कि मन्त्र का अर्थ ही बता रहा हो) को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं । यह है धारणा विनियोग विषय की जिसे भूमिका में लिखा ।

यहाँ प्रकृत में इतना ही है कि ऋषि दयानन्द ने विनियोग का मन्त्रार्थानुसारी होना ही मुख्य स्वरूप बताया ।

यही बात यास्क का ऊपर वाला लेख कहता है ।

मूल वेद मन्त्रों पर विचार करने से विनियोग के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु यहाँ इतना ही पर्याप्त है ॥

यास्क और पदपाठ

निरुक्त की भूमिका १—१७ में लिखा है—

(१) "अथापीदमन्तरेण पद विभागे न विद्यते"

अर्थात्-निरुक्त के बिना पदविभाग सम्बन्धी ज्ञान नहीं हो सकता ।

(२) निरुक्त ६-२—

"वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेव-माख्यातमभविष्यत् असुसमाप्तश्चार्थः॥"

अर्थात्—"वने न वायोन्यधायि चाकन्" ऋ० १०-२९।१ इसमें 'वायः' शब्द को यास्क "वेः पुत्रः" लिखते हैं। अर्थात यह एक पद है। आगे लिखते हैं कि शाकल्य ने इसको दो पद माना है "वा" तथा "यः"। यास्क कहते हैं यदि दो पद माने जावें तो 'न्यधायि' आख्यात 'तिङतिङः' (अष्टा० ८-१-२८) सूत्र विषय में निघात नहीं होगा क्योंकि "यद्वृत्तान्नित्यम्" अष्टा० ८-१-६६" इसका अपवाद है। यदि पाणिनि के सूत्र यास्क के काल में न भी रहे हों तो व्याकरण रूप वेदाङ्ग तो कोई न कोई किसी न किसी रूप में रहा ही होगा यत् के योग में सर्व निघात का प्रतिषेध हो जाने से 'न्यधायि' आख्यात उदात्त हो जायेगा। अतः एक पद मानना ही ठीक है। ऐसा यास्क कहते हैं।

(३) निरुक्त ४-१७—

"नूचिदिति निपातः" दुर्ग नूचित् को एक निपात मानता है। परन्तु पदकार शाकल्यादि तथा आचार्य स्कन्द स्वामी इसे दो पद मानते हैं।

(४) निरुक्त ५-२१

"अरुणो मासकृद्वृकः........ऋ० १–१०५–१८
मास कृत् मासानां चार्धमासानां च कर्त्ता भवति चन्द्रमा"

इससे यास्क ने मासकृत् की व्युत्पत्ति "मासंकरोतीति मासकृत्" करके उपपद समास द्वारा एक पद माना है। "गतिकारकोपपदात्" सूत्र से उत्तरपदान्तोदात्त स्वर भी ठीक है।

उधर शाकल्य के पद पाठ में इस 'मास कृत' शब्द को दो पद असमस्त मा—सकृत् ऐसा माना गया है।

ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य (ऋ० १-१०५-१८) में इस प्रकार से लेखन किया है—

"(मा-सकृत्) मामेकवारम्। अथैकपद्यम्—मासानां चार्धमासादीनां च कर्त्ता। अत्रमास कृदित्येतत् पदं निरुक्तकार प्रामाण्यादनुमीयते। शाकल्यस्तु (मा-सकृत्) इति पदद्वयमभिजानीते।"

इससे सिद्ध है कि दोनों प्रकार का व्याख्यान हो सकता है आचार्य स्कन्द स्वामी इस प्रकार लिखते हैं—

'मासकृदिति यस्यैकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम्। शाकल्यस्तु द्वे एव पदे" पृष्ठ ३३६ निरुक्त भाष्य भा० २॥

(५) निरुक्त ४-४

"यदिन्द्र चित्रंमेहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।
यदिन्द्र चित्रं चायनीयं, महनीयं धनमस्ति। ऋ० ५-३९-१
यन्म इह नास्तीति वा ॥ त्रीणि मध्यमानि पदानि ।"

यहाँ पर यास्क ने "मेहना" पद को एक पद और दो पद दोनों ही माना है। 'महनीयं' अर्थ लिखकर एक पद दर्शाया। 'म इह नास्ति' ऐसा दूसरे पक्ष में भी दर्शा दिया । यह ज्ञात रहे कि शाकल्य ने इसको एकपद माना है; तथा सामवेद के पदकार गार्ग्य ने त्रिपद ।

विशेष यहाँ यह है कि यास्क ने दोनों ही पक्षों को स्वीकार किया है जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यास्क का निरुक्त केवल ऋग्वेद का ही व्याख्यान नहीं; ऋग्वेद ही की अर्थ प्रक्रिया दिखाना इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं, अपितु सर्व वेदों की प्रक्रिया का दर्शाना ही इसका मुख्य ध्येय है। यह बात हम पूर्व भी लिख चुके हैं।

(६) निरुक्त ४-२१- "शंयुः सुखंयुः । अथा न
शंयोररपो दधात ॥ ऋ० १०-१५-४॥
शमनं च रोगाणाम् यावनं च भयानाम् ।
अथापि शँयुर्बार्हस्पत्य उच्यते"

पदकार तया सायण ने "शंयुः" को द्विपद माना है। यास्क इसको एकपद तथा द्विपद मान कर दोनों प्रकार का व्याख्यान करते हैं। जिससे पद पाठकारों की व्यवस्था का स्वरूप भलीभाँति ज्ञात हो जाता है।

पद पाठ अर्थ के पीछे है न कि पद पाठ के पीछे अर्थ—

यह यास्क के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध हैं। इसी से तो यास्क (नि० ६-२८) में जैसा कि हमने ऊपर दिखाया शाकल्य के पद पाठ को न मान कर स्वर में भेद दिखाते हुए उसका प्रत्याख्यान करते हैं। हेतु यही है "यद्वृत्तान्नित्यम्" सूत्र से 'यद्वृत्त' होने से 'न्यधायि' आख्यात सर्वानुदात्त (निघात) नहीं हो सकता, अतः एक ही पद रखना चाहिए। यह यास्क का कथन ठीक है। हाँ, जब स्वर में भी छान्दस प्रत्यय माना जायेगा जिसका विधान पाणिनि और पतञ्जलि ने किया है। उस अवस्था में दो पद हो जाना भी ठीक हो सकता है। क्योंकि पद भेद तो यास्क भी मानते ही हैं। जैसा कि 'शंयोः' में हम दिखा चुके।

(७) और देखिये, आधुनिक उपलब्ध वेदभाष्यकारों में सर्व-प्रथम स्कन्द स्वामी पदपाठ की व्यवस्था कैसी विस्पष्ट बताते हैं—पृ० ८१—भा०२।। निरु० २-१३—

"शाकल्यात्रेयप्रभृतिभि नोंवगृहीतम् । पूर्व निर्वचनाभि प्रायेण । गार्ग्य प्राभृतिभिरवगृहीत

मिति तदेव कारणम् । विचित्राः पदकारणामभि प्रायाः क्वचिदुपसर्ग विषयेऽपि नाव गृह्णन्ति यथा शाकल्येन "अधीवासम्" इति नावगृहीतम् आत्रेयेण तु "अधिवासम्" इत्यवगृहीतम् तस्मा-दवग्रहोऽनवग्रहः" ।

(२) पृ० १६१—"समभि व्याहरत्वेऽपि च पद काराणां वैचित्र्यम् । केषांचिदेकपदत्वं न चैकेषाम्" ।

अर्थात्—शाकल्य, आत्रेय आदिकों ने अवग्रह नहीं किया, पूर्व निर्वाचन को लक्ष्य में रखने से । गार्ग्य प्रभृतियों ने अवग्रह किया है । इसमें कारण वही है । पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं, कहीं पर उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह नहीं करते । जैसे शाकल्य ने ऋ० १-१६२-७६ में इस पद का अवग्रह नहीं किया । आत्रेय ने (तै० सं० के पदपाठ में) 'अधिवासम्' ऐसा अवग्रह दर्शाया है । [स्वामी दयानन्द ने भी यजुर्वेद भाष्य २५-३९ में इस पद का अवग्रह किया है । सायण ने ऋग्वेद भाष्य में नहीं किया । तै० सं० प्राप्ति शा० त्रिभाष्य रत्न पृ० १०२-१०५ में भी अवग्रह है]

अन्त में स्कन्द स्वामी कहते हैं—"तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः" इसलिये अवग्रह को निश्चित नहीं समझ लेना चाहिये ।

एक आचार्य ने किसी पद का एक प्रकार से अवग्रह दिखाया तो उसी को पकड़ कर ही बैठ न रहना चाहिये।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्कन्द स्वामी अवग्रह ऐच्छिक है ऐसा मानते हैं। नियत नहीं मानते। यही यास्क का मत है। स्वामी दयानन्द की भी यही धारणा है।

अब इस विषय में हम अन्तिम सम्मति महर्षि पतञ्जलि भगवान् की भी दिये देते हैं जो स्वयं पदकार हुये हैं। ऐसा हमारा विचार है।

"अवग्रहेऽपि। न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पद कारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम्। यथा लक्षणं पदं कर्त्तव्यम्" अनोनुट-भा० ८-२-१६—पृ० ६२

अर्थात् व्याकरण सूत्र के पीछे पदकारों को चलना पड़ेगा, न कि पद कारों के पीछे व्याकरण सूत्रों को।

यहाँ इतना ध्यान रहे कि पदकार सब वैयाकरण हुये हैं। ऐसी हमारी धारणा है। निरुक्त शास्त्र के ज्ञान के विना भी पद विभाग का ठीक २ ज्ञान नहीं हो सकता यह पूर्व कह चुके हैं।

पदपाठ के विषय में हम बहुत कुछ लिखना चाहते थे, परन्तु उसके लिये तो पृथक् एक बहुत बड़े स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है। यहाँ संक्षेप से विद्वज्जनों के सन्मुख इतना ही पर्याप्त है।

१०—यास्क तथा यौगिक प्रक्रिया

यौगिकवाद में जो कुछ भी प्राचीन और अर्वाचीन विचार उपस्थित किये जाते हैं, उनमें वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् यह निरुक्त शास्त्र इस वाद का 'आदि प्रधान' ग्रन्थ है ऐसा कहना अनुपयुक्त न होगा। निरुक्त शास्त्र की रचना ही इस वाद को संसार में व्यक्त करने के लिये हुई। निरुक्त नाम है निर्वाचन का—निर्वाचन प्रकृति प्रत्य की योजना का ही तो नाम है जो अर्थ को लक्ष्य में रख कर की गई हो। यास्क ने वेद में से जिन २ अनन्वित अथवा अस्पष्ट शब्दों को साक्षात-योग समाधि द्वारा एकार्थ या भिन्नार्थ में जाना, लोक के उपकारार्थ उन २ शब्दों का संग्रह कर दिया, अर्थात् उन शब्दों के पढ़ देने से यास्क ने अपने काल तक उन २ शब्दों के तत्तत्प्रवृत्ति निमित्त को दर्शा दिया, और वह भी निर्देश-मात्र, जो अवछिन्न परम्परा द्वारा उनके काल तक चला आ रहा था। दूसरे शब्दों में शब्द-अर्थ के नित्य सम्बन्ध को यास्क ने अपने निघण्टु में दिखला दिया।

यास्क ने केवल अपनी कल्पना से ही ऐसा कर दिया, "गौ" के २१ नाम अपनी इच्छा से ही निकाल २ कर रख दिये हों यह बात नहीं, अपितु इसका आधार स्वयं मूल वेद संहिता तथा तद् व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मणादि हैं। प्रथम हम इस में वेद का ही प्रमाण देते हैं :—

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिःसप्त नामाघ्न्या बिभर्त्ति ।
विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद्युगाय विप्र उपराय शिक्षन्
॥ ऋ० ७-८७-४॥

अन्वयः—वरुणो विद्वान् मेधिराय मे उवाच "अघ्न्या" त्रिःसप्त नामा बिभर्त्ति । (स) विप्र उपराय युगाय शिक्षन् , पदस्य गुह्या (नामा) न (च) वोचद् ॥

अर्थ—वरुण विद्वान् मुझ बुद्धिमान (जीव) को बताता है कि "अघ्न्या" "गौ" २१ नामों को धारण करती है (गौ के २१ नाम हैं) उस विप्र वरुण ने युक्त हुये उपरत योगी को शिक्षा देते हुए इन गुप्त नामों को बताया है ।

कितना विस्पष्ट अर्थ है । इससे यह सिद्ध है कि यास्क ने निघण्टु में जो नाम लिखे हैं वे सब वेद के ही आधार पर हैं ।

इन शब्दों के व्युत्पत्ति नियम को यास्क ने निघण्टु के व्याख्यान रूप निरुक्त ग्रन्थ में दिखाया । निरुक्त और निर्वचन एकार्थवादी शब्द हैं ।

यास्क ने अपनी भूमिका में नामाख्यात उपसर्ग और निपात यह चार प्रकार के शब्द दिखा कर आगे स्पष्ट अपना सिद्धान्त लिखा—

"इतीमानि चत्वारि पदजाता न्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गा निपाताश्च। तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त समयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके"। निरुक्त १-१२

अर्थात्—इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात यह चार पद अनुक्रम से दर्शाये जा चुके। इन नामों के विषय में "सब नाम आख्यातज प्रकृति प्रत्यय के योग से बनते हैं ऐसा शाकटायन तथा नैरुक्तों का मत है। गार्ग्य तथा वैयाकरणों में से कुछ एक ऐसा मानते हैं कि सब नाम अख्यातज नहीं।

इस प्रकार यहाँ इस विषय को उठा कर इसमें उत्तम तया पूर्व पत्त और उत्तर पत्त द्वारा यौगिक वाद की स्थापना की। यह प्रकरण बड़ा ही मनोरञ्जक है, यह इस ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले सब जानते हैं।

आगे ग्रन्थ के प्रयोजन बताये—तत्पश्चात् द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में निर्वचन की रीति बताई। तत्पश्चात् निघण्टु के प्रारम्भ से गौ शब्द से लेकर देव पत्सन्त तक क्रमशः नैघण्टुक—नैगम—और दैवत काण्डों द्वारा सब शब्द समाम्नायों का निर्वचन दिखाया यह निरुक्त का प्रधान त्रिषय है। मध्य मे जहाँ तहाँ प्रसङ्गतः अन्य बातों का उल्लेख भी है।

सब निर्वचन दे कर उनका प्रयोग कहाँ २ हुआ है यह दिखाने के लिये वेद का प्रमाण देते गये। तत्तत् निर्वचन को तत्तद् वेद

मन्त्र के अर्थ की योजना द्वारा पुष्ट किया। जिस से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यास्क व्युत्पत्ति निमित्त अर्थ में मन्त्रों को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं।

दैवत काण्ड में आचार्य ने देवतावाद की उत्तम रीति से स्थापना की है। परन्तु निर्वचन को वहाँ पर भी साथ २ निरन्तर दर्शाते गये हैं। इस से यह सिद्ध है कि यास्क इस यौगिक प्रक्रिया के परम उपासक आदि मूल महा पुरुष हैं।

(२) यौगिक वाद के विषय में भगवान् पतञ्जलि का मत निम्न प्रकार है :—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न विशेष पदार्थ समुत्थं
प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥

"नैगम रूढ़ि भवं हि सुसाधुः" नैगमाश्च रूढि भवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथंस्यु"।

अर्थात्—नाम को निरुक्त में धातुज माना है, तथा व्याकरण में भी शाकटायन का ऐसा मत है। जो विशेष प्रकृति प्रत्यय से व्युत्पादित न हो उसमें "प्रकृति दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या" प्रकृति देख कर प्रत्यय की ऊहा कर लेनी चाहिये और प्रत्यय को देख कर प्रकृति की।

इससे स्पष्ट है कि महाभाष्य कार 'नाम' को धातुज निरुक्तकार के मत से बताते हैं। तथा विशेष ध्यान देने की बात यह है कि "नैगमरूढ़ि भवं हि सुसाधुः" नैगम पृथक् है, रूढ़ि पृथक् है। अर्थात् वेद में रूढ़ि शब्द नहीं, यह भगवान् पतञ्जलि का मत है।

इसी से दयानन्द की धारणा सप्रमाण—यथार्थ सब को मानने योग्य है। इसी की व्याख्या ऋग्वेदादि भाष्य तथा उणादि सूत्र की भूमिका में भली प्रकार की है। वहाँ देखी जा सकती है।

(३) इस यौगिक प्रक्रिया में यास्क का आधार वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इस विषय में हम प्रथम वेद मन्त्रों द्वारा ही विचार करते हैं—नि० ७-१५ में यास्क प्रदर्शित ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र ही को लेते हैं :—

"अग्नि मीणे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्न धातमम्" ।

इस मन्त्र का अभिधेय क्या है ? समस्त मन्त्र किसकी स्तुति करता है ? "ईडे" 'स्तुति करता हूँ' इस क्रिया का कर्म कौन है ? अग्नि या पुरोहित-देव या ऋत्विज्-होता है या रत्न-धातम—कौन है ? यदि कहा जावे ये सब पृथक् २ हैं और 'ईडे' क्रिया के भिन्न कर्म हैं तब यह अर्थ होगा मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ। इसी प्रकार पुरोहित की, यज्ञ के देव की, ऋत्विक् की। होता की और रत्न-धातम की। अब इस मन्त्र का देवता तो अग्नि है

अतः पुरोहितादि ये सब अग्नि शब्द के विशेषण ही माने जाने चाहिये। तभी अर्थ सुसंगत होता है।

एक बात और यहाँ विशेष है कि निरुक्तकार के मत में मुख्यत्वेन एक आत्मा की ही सब स्तुति है "महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते" नि० ७ के अनुसार "अग्निमीळे? पुरोहितम्" में अग्नि भी आत्मा का विशेषण है ऐसा मानना पड़ेगा।

अथवा अग्नि शब्द को ही परमात्मा का वाचक मानना पड़ेगा। उभय था पाशारज्जुः दोनों ही प्रकार से यौगिक वाद की सिद्धि अनिवार्य है। बिना यौगिक प्रक्रिया के 'अग्नि' शब्द परमात्मा वाची सिद्ध नहीं हो सकता। परमात्मा के विशेषण मानते हैं तब पुरोहित आदि शब्दों को यौगिक वाद द्वारा ही अग्नि के विशेषण बना सकते हैं। अन्य कोई भी प्रकार नहीं। इसी कारण से यास्क दैवत काण्ड में अग्नि शब्द की अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति दर्शायी और इसके उदाहरणार्थ भी वही उपयुक्त ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही उदाहरण में दिया।

"देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः स देवता"

इस वचन से तथा अन्य इस स्थल के सम्पूर्ण लेख में सब शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शाई। इससे यास्क का हृदय स्पष्ट है।

इस पर पूर्व पक्षी कहता है :—

(पूर्व पक्षी) "हम को तो वेद से ही वेद का अर्थ बताओ। हम वेदाङ्ग उपाङ्गादि किसी को नहीं मानते। सीधा वेद जो हमें बता दे वह हम मान लेंगे। हम तो वेद को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं, परतः प्रमाण के पचड़े में हम नहीं पड़ते।"

(सिद्धान्ती) बहुत अच्छा सुनो "अग्नि मीडे पुरोहितम्" में विशेष्य विशेषण भाव से पुरोहितादि यह सब अग्नि के विशेषण ही माने जाने चाहिये। दुर्जन सन्तोष न्याय से निरुक्त की बात छोड़ भी दी जावे तब भी स्वयं वेद ही कहता है कि इन अग्नि-अश्विनौ आदि का यौगिक अर्थ भी लेना चाहिये। यथा ऋ० ८-५-३१ में—

(१) "आ बहेथे पराकात् पूर्वीर शनन्तावश्विनौ। पुरश्चन्द्रा ना सत्या" ॥ऋ० ८-५-३१॥

यहाँ पर "अश्नन्तावश्विनौ" यह पद ध्यान देने योग्य है। मूल वेद संहिता में ही अश्विनौ की व्युत्पत्ति परमपिता परमात्मा ने ही दर्शा दी, जिससे इन शब्दों का व्युत्पत्ति द्वारा ही अर्थ करना चाहिये यह शिक्षा दी। "अश्नन्तौ" होने के कारण "अश्विनौ" कहलाते हैं यह स्वतः प्रमाण वेद से ही सिद्ध है।

अब परतः प्रमाण जिसको तुम पचड़ा कहते हो उसकी व्यवस्था भी सुनो।

जैसे स्वयं वेद ने ही यौगिक वाद का मूल रख दिया तब उसके अनुगामी ब्राह्मणादि ऐसा क्यों न करते।

(२) "अश्विनाविमे हीद सर्वम श्नुवाताम्" ।

शतपथ ब्रा० ४-१-५-१६

(३) "अश्नुवाते हितौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च"।

बृहद्देवता ७-१२७ ॥

(४) "अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः । अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः तत् कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके राजानौ पुण्य कृता वित्यैतिहासिकाः ॥" निरु० १२-१।

शतपथ और बृहद्देवता कार ने "अश्विनौ" की वही व्युत्पत्ति दिखाई जो ऊपर वेद के मन्त्र (ऋ० ८-५-३१) में दर्शाई गई। निरुक्त कार ने वही व्युत्पत्ति दिखाई, साथ ही उस व्युत्पत्ति का फल भी दिखा दिया। अर्थात् "यद् व्यश्नुवाते सर्वम्" सब में प्राप्त है अतः अश्विनौ कहे जाते हैं।

इसी लिये कई एक आचार्यों के मत में द्यावा और पृथिवी को ही अश्विनौ कहते हैं। कई एक अहोरात्र को अश्विनौ मानते हैं। ऐतिहासिक लोग इन्ही अश्विनौ को पुण्य कृत राजा मानते हैं।

यौगिक प्रक्रिया वाद में यह स्थल कितने स्पष्ट हैं। इन प्रमाणों से वेद में केवल यौगिकत्व ही सिद्ध नहीं होता अपितु यह भी सिद्ध

है कि देवता वाद में भी यौगिक प्रक्रिया का आश्रय अवश्य करना पड़ेगा। क्योंकि देवता के प्रकरण में ही यास्क ने अश्विनौ की व्युत्पत्ति दर्शा कर उस के भिन्न २ अर्थ दिखाये। यह बात अतीव ध्यान देने योग्य है।

अब पूर्व पक्षी को कहने का कोई अवसर नहीं रह जाता। अतः विशेष्य विशेषण भाव अवश्यम्भावी है इसी से "अग्नि मीडे पुरोहितम्" में पुरोहित, ऋत्विक्, होता, देव और रत्न-धातम ये सब अग्नि के विशेषण हुये। यह तभी हो सकता है जब ये यौगिक हों। नहीं तो आप ही बताइये कैसा अग्नि पुरोहित ? कैसा अग्नि ऋत्विक् ? होता, यह कथन मूर्खों के आलाप के समान ही तो सिद्ध होगा।

अतः ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही यौगिक प्रक्रिया का संस्थापक है। यह हमारी धारणा है। इसको कोई अन्यथा सिद्ध नहीं कर सकता।

(४) वेद के कुछ और भी स्थल इस विषय में देना हम आवश्यक समझते हैं—: तद्यथा

(१) 'ऋ० १-१-४-'अग्ने यद्यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि"

में जब 'यज्ञ' यह पद आगया तो पुनः अध्वरं की क्या आवश्यक्ता

रह जाती है। इसी प्रकार "गावो न धेनवः ? (ऋ० ६-४५-२८) उर्वी पृथिवी (ऋ० ६-७८-२०) । भूमिं 'पृथिवीं' (ऋ० १२-१-७) तोकं तनयम् (ऋ० ६-४६-१०) "यथेयं पृथिवी मही दाधार" ऋ १०-६०-९ यहाँ प्रथन शील मही भूमि अथवा महान् गुण वाली पृथिवी, ऐसा विशेषण विशेष्य भाव कर लेने से मन्त्र की यथार्थ सङ्गतिसुसम्बद्ध हो जाती है। इस विषय में विशेष (देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृ० १४४-१४५, यहाँ जोड़े जोड़े में एक शब्द को विशेषण तथा दूसरे को विशेष्य मानना अनिवार्य है इसके बिना कोई गति नहीं हो सकती।

(५) "मन्येत्वा यज्ञियं यज्ञियानाम् मन्ये त्वा च्मवतमच्युतानाम्" ऋ० ८-९६-४

यहाँ भी अच्युतों में च्यवन से (अगति शीलों में गति शील) ऐसा मूल मन्त्र में कहा गया है च्यवन से यहाँ किसी व्यक्ति विशेष (Proper Name) का अभिप्राय ग्रहण नहीं।

निरुक्त में जो लिखा—

"च्यवन ऋषिर्भवति च्यवयिता स्तोमानाम्"

इसका भी यही अर्थ है "च्यवन ऋषि (साक्षात् कृत् धर्मा-द्रष्टा) होता स्तोमों मन्त्रों का ज्ञान कराने वाला होने से । गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं। यह वैयाकरण लोग जानते हैं।

अतः यहाँ भी मन्त्र में 'च्यवनमच्युतानां' कहने से स्पष्ट है कि यहाँ 'च्यवन' का अर्थ च्युङ् गतौ धातु को लेकर ही किया जायगा । क्या यह स्पष्ट यौगिक वाद का प्रतिपादन नहीं ?

(६) इतना ही नहीं कि वेद ही इस यौगिक वाद का प्रति पादन करते हैं, ब्राह्मण सब के सब इसका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं । इसके लिये तो लाहौर डी० ए० वी० कालिज से श्री पं० भगवद्दत्तजी द्वारा सम्पादन कराया श्री पं० हंसराजजी कृत वैदिक कोष ही देखा जा सकता है । अब हम पुनः नैरुक्त प्रक्रिया ही को लेते हैं—

(७) स्वयं यास्क ने भी ब्राह्मणादि के आश्रय ही से तो निघण्टु, में, कण्वः । वेनः । ऋभुः उशिजः । गृत्सः इत्यादि शब्द जो लौकिक बुद्धि पुरुषों में संज्ञा वाची ही प्रसिद्ध हैं यह सब 'मेधावि' नामों में पढ़े हैं । "कुरवः" जिसको सामान्य जनता इन्द्रप्रस्थ के कुरुवंशज समझते हैं यास्क ने इनको ऋत्विक् नामों में पढ़ा है अर्थात् उनके मत में यह शब्द ऋत्विक् वाची है । "कुत्सः" वज्र नामों में पढ़ा है, उशिक् कर्म नामों में है ।

यौगिक वाद को न मानने वालों से हम पूछते हैं क्यों साहब ? यहाँ 'कण्व" का अर्थ कण्व ऋषि क्यों नहीं लेते हो ? "कुत्स" से ऋषि ही क्यों न लिया जावे । वज्र अर्थ कैसे लिया गया ?

इसका उत्तर भला हो ही क्या सकता है बिना यौगिक वाद को शरण स्वीकार करने के सच्ची बात का स्वीकार ही उत्तर होता है ॥

(८) अब हम निरुक्त के प्राचीन "आचार्य वररुचि" के हस्त लिखित ग्रन्थ "निरुक्त समुच्चय" की साक्षी और देते हैं जिससे यह ज्ञात होगा कि हमने यौगिक प्रक्रिया के विषय में ऊपर निरुक्तकार का जो अभिप्राय लिखा है वह सब प्राचीन नैरुक्तों का मत है हमारी अपनी कल्पना नहीं—

(१) पृ० २-३ पर "ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् यजुः १३-३

का व्याख्यान करते हुये आचार्य वररुचि ब्रह्म शब्द का अर्थ आदित्य करते हुये लिखते हैं—

"ब्रह्म नामानि सर्वाणि सामन्येनाख्यातजानि हि। नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः। तथा हि तत्र नामान्यख्यात जानि शकटायनो नैरुक्त-समयश्च वृह, वृहि, वृद्धौ इत्यन्येभ्योऽपि दृश्यते इति मनिन्। मनिन् प्रत्ययान्त स्यैतद्रूपम्, सर्वतः परि वृद्धत्वात् ब्रह्म शब्देन आदित्य मण्डल-मुच्यते......."

अर्थात् ब्रह्म वाचक सामान्यतया सब नाम आख्यातज (यौगिक) हैं यह निश्चय है। इसी लिये इस विषय में नाम सब आख्यातज (यौगिक) हैं यह सब नैरुक्त तथा शाकटायन मानते हैं। वृह वृहि से मनिन् प्रत्यय से ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है, परि वृद्ध होने से ब्रह्म शब्द का यहाँ आदित्य मण्डल अर्थ है। सब यौगिक क्यों है—इसमें युक्ति दी—"नैरुक्त समयत्वात्" क्रियायोग-मङ्गीकृत्यप्रयोगः" अर्थात् यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है क्रिया योग (यौगिक प्रक्रिया) को स्वीकार करके प्रयोग है॥ यौगिक प्रक्रिया की परम्परा कितनी प्राचीन है यह इस लेख से ज्ञात हो सकता है।

(२) पृ० १११ नि० समु० 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठः' ऋ० १-१८०-२ के व्याख्यान में "पविं एतदपि बज्र नाम पुनरुक्तदोषपरिहारार्थं क्रिया योग मङ्गीकृत्य प्रवर्त्तते। अहंपार्थोऽहंधनञ्जय इति यथा। पवति गतिकर्मा पविं गन्तारम्"॥

यहाँ पर भी क्रिया योग (यौगिक प्रक्रिया) को मान कर पुनरुक्त दोष के परिहार के लिये पवि का अर्थ वज्र है। यौगिक प्रक्रिया के यह दोनों उदाहरण कितने हृदय ग्राही हैं॥

(९) यास्क ने निघण्टु में जो नाम दिये हैं तथा निरुक्त में जिन २ शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शाई है वह सब उपलब्धरण मात्र ही है। इसका प्रमाण हम निरुक्तही से देते हैं

२४

"चित्तिभिः कर्मभिः" ऐसा यास्क का पाठ है इससे स्पष्ट है कि यद्यपि "कर्म" नामों में 'चित्ति' पद नहीं पढ़ा तथापि कर्म का वाचक है। यह सब यौगिक प्रक्रिया ही की कृपा है ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऋषि दयानन्द और यौगिकवाद

वर्त्तमान युग में वैदिक विज्ञान के सम्बन्ध में प्रचलित रूढ़ियों के जाल में न फँस कर, प्रभु की कृपा से योग समाधि द्वारा प्राप्त विमल मेधा से, उस दिव्य प्रेरणा के आश्रित हो कर, लोकवाद को प्रधानता न देकर अपने विचार का कोई अनुगामी होगा या नहीं, इसकी भी कुछ अपेक्षा न करके महापुरुष दयानन्द ने वेदार्थ प्रक्रिया में यौगिक वाद का पुनरुद्धार किया, यह कहना अनुचित न होगा।

उनके सब ग्रन्थ इस विषय में प्रमाण हैं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तो इस विषय का विशेष प्रतिपादक ही है। वेद भाष्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

यह यौगिक प्रक्रिया उन की अपनी मन मानी कल्पना नहीं। यह हमने अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा ऊपर दिखा दिया है। जो प्रमाण ऊपर दिये गये हैं उनके आधार पर ही स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ में यौगिक वाद का आश्रयण किया।

यहाँ पर उनके वेद भाष्य में से एक उपयुक्त स्थल दिया जाता है।

"युष्मा इन्द्रो वृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वम्।"

यजुर्वेद भाष्य अ० १–मं० १३ पृ० ३६

इस मन्त्र का अर्थ करते हुये स्वामी जी महाराज लिखते हैं—

"(यूयम्) विद्वांसो मनुष्याः (इन्द्रम्) वायुं॥
इन्द्रेण वायुना। ऋ० १-१४-१०

इतीन्द्र शब्देन वायोर्ग्रहणम्॥ (अवृणीध्वम्)
वृणत, स्वीकुरुध्वम्........।"

यहाँ पर स्वामी जी ने इन्द्र का अर्थ "वायु" किया है। इसमें प्रमाण ऋ० १–१४–१० मन्त्र देते हैं जो निम्न प्रकार है—

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना।
पिबा मित्रस्य धामभिः॥ ऋ० १-१४-१०॥

अन्वय—अग्ने इन्द्रेण वायुना मित्रस्य विश्वेभि-र्धामभिः सोम्यं मधु पिब॥

हे अग्ने! परमैश्वर्यवान् वायु के साथ प्राण (वायुः) के सब स्थानों के द्वारा सोम्य मधु का पान करो। अथवा अग्नि पान करता है। प्रकृत में इतना ही है कि मन्त्र में 'इन्द्रेण वायुना' इन्द्र वायु

का विशेषण है। यही स्वामी जी के भाष्य से स्पष्ट है। मूल मन्त्र से यह बात व्यक्त है।

इस पर कोई लोग आक्षेप करेंगे कि यह तो स्वामी जी की अपनी कल्पना मात्र है हेतु वही पुराना देंगे कि किसी भाष्यकार ने भी इस मन्त्र का ऐसा अर्थ नहीं किया।

ऐसे लोगों से पूछना चाहिये क्या आप लोग इन्द्र–अङ्गिराः आदि शब्दों को व्यक्ति विशेषों के नाम (Poper Names) मानते हो या कुछ और भी।

इनको व्यक्ति विशेष मान कर ही सायणादि भाष्यकार तथा उनके उच्छिष्ट भोजी एतद्देशीय तथा विदेशीय स्कालर अङ्गिरा आदि नामों से व्यक्ति विशेष (Proper Names) को ही लेकर सम्पूर्ण वेद को भिन्न २ व्यक्तियों से भरा मानते हैं। हम उन से ही पूछते हैं क्या नामों (Proper Names) के आगे Degrees. good better best की भाँति, लगती हैं या नहीं ? कभी नहीं।

परन्तु वेद में

"अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि।
विदिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि॥
ऋ० ७-७९-३॥

इस मन्त्र का देवता उषा है। मन्त्र में भी उषा शब्द पढ़ा है। यहाँ इन्द्रतमा अङ्गिरस्तमा यह दोनों पद उषा के विशेषण हैं। यह मूल मन्त्र को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है। क्या किसी ने Devadatter Devadattest ऐसा प्रयोग भी कभी संसार में देखा है।

ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने यदि 'इन्द्रेण वायुना' ऋ० १-१४-१० में इन्द्र को वायु का विशेषण लिख दिया तो क्या अनर्थ हो गया। उपर्युक्त मन्त्र में 'इन्द्रतमा' विशेषण नहीं, क्या तीन काल में भी कोई इस को विपरीत कर सकता है ?

मैं पक्षपात के गर्त में गिरे हुये तथा जान बूझ कर दयानन्द को Misrepresent (उलटा दर्शाने) करने वालों, सत्योक्ति का मिथ्यालाप करने वालों को चैलंज करता हूँ कि वह इस बात को विपरीत सिद्ध करके दिखावें ! चैलंज करने को मैं अच्छा नहीं समझता परन्तु जब यह लोग कहते फिरते हैं कि हमारी बात भी एक दो के बिना आर्य समाज में समझने वाला नहीं। तब ऐसा बड़े दुःख से कहना पड़ता है। ऐसे लोगों का गुरु तो सायण है। दुर्जन सन्तोष न्याय से हम सायणाचार्य का ही इस मन्त्र का भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

"इन्द्रतमा सबस्ये शवरतमा मघोनी धनवती उषा अभूत प्रादुर्भूत्.......दिवो दुहिता देवी द्योतमाना। अङ्गिरस्तमा गन्तृतमा.......

सायणाचार्य ने 'इन्द्रतमा' का अर्थ 'ईश्वरतमा' तथा 'अङ्गिरस्तमा' का अर्थ 'गन्तृतमा' अत्यन्त गमन शील किया है।

क्या दयानन्द की यह धारणा तीन काल में भी विपरीत हो सकती है ?

हमें तो ऐसे लोगों की बुद्धि पर हँसी आती है। अभी तो ये लोग वेदार्थ के ऊपरी तल तक भी नहीं पहुँचें। पहुँचे कैसे मार्ग तो पकड़ा है राजपूताने के रेगिस्तान का गङ्गोतरी कैसे पहुँचेगे। सारी आयु भी चलते जावें तो कुछ लाभ न होगा।

"आकाशस्तल्लिङ्गात्" महर्षि व्यास ने "आकाश" शब्द को ब्रह्म परक बताया। क्या यौगिक प्रक्रिया के बिना ऐसा कभी हो सकता है ?

अतः यौगिक वाद वेदाभ्यासियों का परमावश्यक सर्व तो मुख्य परम सहायक है। डंके की चोट इस की घोषणा करने वाले पारदर्शी दयानन्द को कोई अन्यथा सिद्धि नहीं सकता।

इसी से तो हम कहते हैं—

"ब्रह्म शरणं गच्छामि। सङ्घशरणं गच्छामि। धर्मशरणं गच्छामि। दयानन्द शरणं गच्छामि॥

———

निरुक्तकार और वेद में इतिहास

[लेखक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु]

सज्जन वृन्द ! वेदों में इन्द्र, मरुत्, अङ्गिरस-परुच्छेप-वसिष्ठ-विष्णु-ब्रह्मा पराशरादि शब्द अनेक बार आये हैं। इनका वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विविध रूप से किया गया है। वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर ही यास्क तथा उससे पूर्व नैरुक्तों ने इन शब्दों के सम्बन्ध में लेखन किया। निरुक्त का वेद के साथ साध्य साधन रूप सम्बन्ध है यह पहले देखा जा चुका है। वेदाङ्ग होने से भी निरुक्त का महत्व मानना ही पड़ेगा। यहीं तक नहीं अर्थात्त यह ग्रंथ वेदार्थ का प्रतिपादक है। वेदार्थ की प्रक्रिया बताना ही इसका मुख्य ध्येय है। इसी से जो बात निरुक्त के आधार पर कही जायेगी उसकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता।

इतिहास के सम्बन्ध में जो वाद फैला हुआ है, मेरे विचार में उसमें मुख्य कारण निरुक्त में इतिहास का प्रतिपादन है। अर्थात् जब वेदार्थ प्रक्रिया का प्रतिपादक ग्रंथ निरुक्त ही स्वयं वेद में निरुक्त में स्पष्ट इतिहास बतावे तब इसको कौन वैदिक धर्मी वेदानुयायी हेय बतला सकता है। जब स्पष्ट रूप से निरुक्त में भिन्न भिन्न व्यक्तियों का इतिहास उनकी कुल परम्पराओं तथा तात्कालिक घटनाओं सहित सर्वथा स्पष्ट पाया जाता है तब यह कैसे कहा जावे कि यास्क मुनि वेद में इतिहास नहीं मानते।

मेरे विचार में निरुक्त में यत्र तत्र आये "तत्रेतिहासमाचक्षते। इस वर्णन को देख कर ही प्रायः लोगों ने वेद में 'व्यक्तियों' के इतिहास वाद की धारणा बनाई। इसी से यास्क के निरुक्त को कई एक महानुभावों ने हेय तक बतला दिया।

इसका प्रमाण "गङ्गा" मासिक पत्र के "वेदाङ्क" से दिया जाता है जो बहुत उत्तम निकला है जिसके लिये सम्पादक महोदय को हार्दिक धन्यवाद है। पर हैं वह लेख प्रायः वेद पर पूर्व पक्ष ही, जिनके समाधान का भार आर्यसमाज पर है। देखें भविष्यत् में आर्यसमाज इसके लिये क्या आयोजना करता है।

इस "वेदाङ्क" में गुरुकुल वृन्दावन के एक पण्डित महानुभाव का लेख है उस लेख के सार भूत शब्द दे देने से ही ज्ञात हो

जायगा कि जिन सज्जनों से समाधान की आशा रखनी चाहिये उनको भी कहाँ तक इस विषय में भ्रम है।

लेखक महोदय के शब्द निम्न प्रकार हैं—

(क) "यास्क का निरुक्त देखने से पता चलता है कि पुराणों के अनुसार यास्क भी वेदों में इतिहास मानते थे"

देवापि शन्तनु की कथा देते हुये लिखते हैं—

(ख) "तब शन्तनु ने देवापि से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। देवापि ने कहा 'मैं तुम्हारा पुरोहित बनूँगा और यज्ञ कराऊँगा जिससे पानी बरसेगा"।

"यह हैं निरुक्तकार यास्काचार्य के शब्द। इससे महाभारत और यास्क के उपाख्यानों में घनिष्ठता आ गई है"।

(ग) आगे—"वत् उपमावाची शब्द पर लिखते हुये (३-३) यास्क ने एक मंत्र दिया है—

'प्रियमेधवदात्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अङ्गिरस्वत्-महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम'।

इसका वे अर्थ करते हैं—'ईश्वर जैसे तुमने प्रियमेध आदि ऋषियों की प्रार्थना को सुना है। उसी प्रकार मुझ प्रस्कण्व की भी प्रार्थना सुनो॥" हमें यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिये कि इस मन्त्र में आये हुये सब नाम यास्क के अनुसार ऋषियों

के ही हैं। यास्क ने उनके विषय में लिखा है "प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः" आदि ॥

तथा च "........तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथा मिश्रं भवति"

अर्थात् वेद इतिहासों—ऋचाओं—गाथाओं से युक्त है" (गङ्गावेदाङ्क १९३२) ॥

हम लेखक महोदय को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने "निरुक्त में इतिहास" पर बहुत संक्षिप्त-तथा उत्तम पूर्वपक्ष लिख दिया। यद्यपि मैं आप सज्जनों के सन्मुख बहुत से और भी पूर्व पक्ष रखता परन्तु प्रकृत विचार के लिये इतना ही पूर्व पक्ष पर्याप्त है अतः अधिक लिखने की आश्यकता नहीं।

बस इस मौलिक भ्रम का दूर करना ही मेरे इस लेख के इस भाग का अभिप्राय है। इस इतिहास वाद के ठीक समझ में आजाने से निरुक्त सम्बन्धी शेष शङ्कायें बहुत ही सुगमता से निराकृत हो जाती हैं।

अथात्र समाधिः

निरुक्तकार यास्क मुनि ने अपने ग्रन्थ में विविध वादों का वर्णन किया है—

(१) अध्यात्मम् (२) अधिदैवतम् (३) आख्यान समयः

(४) ऐतिहासिकाः (५) नैदानाः (६) नैरुक्ताः (७) परिव्राजकाः (८) पूर्वे याज्ञिकाः (९) याज्ञिकाः ।

यह नौ प्रकार के वाद यास्क ने उल्लेख किये हैं। हम यहाँ पर केवल ऐतिहासिक-आख्यान पक्ष को ही लेंगे। शेष वादों के विषय में आगे लिखेंगे। निरुक्त में इतिहास शब्द ६ स्थलों में आता है। स्थलों में 'इति ऐतिहासिकाः" ऐसा है। ८ स्थलों में "आख्यान" शब्द का उल्लेख मिलता है।

इस सब का समाधान निम्नप्रकार है—

(१) हर एक ग्रन्थ की अपनी अपनी परिभाषा (Technicalities फारमूले Formulas) हुवा करती है जब तक उन पर भली प्रकार से विचार नहीं हो जाता तब तक उस ग्रन्थ के अभिप्राय को नहीं समझा जा सकता।। व्याकरण शास्त्र को ही ले लीजिये उसमें "गुण" संज्ञा है—'अ—ए—ओ' इन तीन अक्षरों की— इसी प्रकार " वृद्धि " से व्याकरण शास्त्र में 'आ, ऐ और औ' इन तीनों को ही समझा जाता है। "बहुलं तणि" भाष्यकार पतञ्जलि "तणि से संज्ञा और छन्द का ग्रहण करते हैं", "किमिदं तणिरिति संज्ञा छन्दसोरिति"।

व्याकरण में जहाँ जहाँ गुण-वृद्धि-तणि आदि शब्द आवेंगे वहाँ वहां पर उपर्युक्त का ही ग्रहण करना होगा, न कि वैशेषिक का गुण इत्यादि। यह बात प्रत्येक शास्त्र के विषय में सर्व सम्मत है। इससे कोई नकार नहीं कर सकता।

१—यास्क की इतिहास की परिभाषा

अब इस विषय में यास्क की अपनी परिभाषा क्या है इसका निरुक्त से ही प्रतिपादन किया जाता है।

(१) निरुक्त २-१६ में दिशा के नाम बताते हुए "काष्ठा" शब्द के उदाहरण में यास्क का निम्न लेख है—

"अतिष्ठन्ती नामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्र शत्रुः॥ ऋ० १-३२-१०

"तत् को वृत्रो मेघा इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्री भाव कर्मणो वर्ष कर्म जायते.......। तत्रोपमार्थेन युद्ध वर्णा भवन्ति, अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। तै० सं० २-४-१२-२"

अर्थात् (यहाँ इस मन्त्र में) वृत्र कौन है। नैरुक्तों के मत में "वृत्र" नाम है मेघ का। ऐतिहासकों के मत में "वृत्र" का अर्थ 'त्वाष्ट्र असुर' (त्वष्टा का पुत्र) है। जल सूर्य तथा विद्युत के मिलने से वर्षा होती है। इसमें जो यद्ध (संग्राम) का वर्णन है वह उपमारूप से है (न कि वास्तविक किन्हीं मनुष्यों का युद्ध है) इसमें अन्य हेतु भी देते हैं कि 'अहि' शब्द वाले मन्त्रों का वर्णन--

तथा ब्राह्मण वचन भी इस विषय में पाये जाते हैं। अर्थात् मन्त्रों और ब्राह्मणों में 'वृत्र' के सदृश 'अहि' को भी इन्द्र का प्रतिद्वन्दी कहा गया हैं। यहां 'उपमार्थेन युद्ध वर्णाभवन्ति' यह वचन यास्क के इतिहास की परिभाषा का एक अङ्ग है। भाव स्पष्ट है अधिक क्या लिखें।

(२) अब हमें यह देखना है कि यास्क के मत में उपमारूप युद्ध तथा अन्य इतिहास और आख्यानों को क्यों कहा गया है। इसका उत्तर यास्क स्वयं देते हैं—

"ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्यख्या- नशंयुक्ता" नि० १०-१०

मन्त्रार्थों के द्रष्टा की आख्यान अथवा इतिहास को लेकर (आख्यानों से युक्त) मन्त्रार्थ कहने में प्रीति होती है।"

मंत्रों के अर्थों में जहाँ जहाँ आख्यान-इतिहास बनाये गये हैं वह सब उन उन ऋषियों ने ऐसा कहने की प्रीति-प्रेम के कारण से बतलाये हैं। वह वास्तविक नहीं अर्थात किन्हीं मनुष्यादि व्यक्ति विशेषों के इतिहास या आख्यान नहीं हैं। इस बात को ऊपर भी 'उपमार्थक' कह कर यास्क ने अपना हृदय समक्ष रख दिया है।

जब ग्रन्थकार स्वयं ही स्पष्ट अपना भाव बता रहे हैं तब ग्रन्थ कर्त्ता के अभिप्राय से विरुद्ध भाव लेने से से उस ग्रन्थ का यथार्थ

तत्त्व कैसे समझ में आ सकता है। व्याकरण शास्त्र में "मिदेर्गुणः" गुणन्तिसंयोगाद्योः" के गुण से वैशेषिक का गुण पदार्थ तथा महाभाष्यकार का "विपरीतं तु यत कर्म तत कल्म कवयो विदुः" कल्म सज्ञा से उसके अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण न करके वैशेषिक का गुण और कर्म अर्थ लेने वाले क्या त्रिकाल में भी यथावत अर्थ तक पहुँच सकते हैं ? कदापि नहीं।

यह "आख्यान को प्रीति" कहानी द्वारा समझाने की प्रीति मेरे विचार में विश्व भर में व्यापक है, जैसा कि देखा जाता है बच्चों को स्वभाव से ही कहानी सुनने में प्रीति होती है। वह माता पिता को बार बार कहते सुनाई देते हैं "माता जी कहानी सुनाओ !" रात्रि को सोते समय प्रायः यह बात सर्वत्र देखी जाती हैं।

और देखिये ! व्याख्यानों में भी—अथवा सामान्य पाठ पढ़ाने में भी इसी प्रीति का अवलम्बन देखा जाता है। वही व्याख्यान वा पाठ अधिक सरल तथा सर्व ग्राही समझा जाता है जिसमें कोई दृष्टान्त हो (परन्तु आजकल तो मर्यादा से बहुत अधिक दृष्टान्तों की भर मार तथा वास्तविक तत्त्व का प्रायः अभाव रहने से ग्राह्य नहीं केवल हंसी मजाक का प्रेमी बना देना बहुत हानि कर है)। शुष्क युक्तियाँ मात्र तो केवल तार्किक लोग ही सुनने को तय्यार होंगे ॥

इसी बात का प्रति पादन पुनः निरुक्त १०-४६ में "ऋषेर्दृष्टा-

र्थस्य प्रीतिं भवत्याख्यान संयुक्ता" किया है। इस से स्पष्ट है—कि "यास्क मुनि मन्त्रों में आख्यान के कथन को ऋषियों की इस (आख्यान) रूप में कहने की प्रीति ही कारण बतलाते हैं, न कि वास्तविक आख्यान।"

(३) इन आख्यानों में व्यक्ति विशेषों का ही इतिहास होता है यह बात नहीं। इसके लिये निरुक्त ५-२१

"आह्वयदुषा अश्विना वादित्यैाभिग्रस्तायै तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्।"

अर्थात् उषाने अश्वियों को बुलाया। आदित्य ने उसको अभिग्रस्त किया हुआ था। उसको अश्वियों ने छुड़ाया। ऐसा आख्यान (इतिहास) है।"

सायंकाल के समय सूर्यास्त से पूर्व उषा को सूर्य अभिग्रस्त किये हुये होता है। उस को अश्वि मुक्त कराते हैं। सो "अश्विनौ" कौन हैं सो इस विषय में भी अपनी कल्पना न लिख कर हम यास्क के शब्दों में ही देते हैं—

तत् कावश्विनौ? द्यावापृथिव्या इत्येकेऽहो रात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसा वित्येके राजानौ पुण्यकृता वित्यैतिहासिकाः"

अर्थात् "वह अश्विनौ" कौन हैं। वह द्यावा पृथिवी हैं कुछ

आचार्य ऐसा मानते हैं। दूसरे आचार्य कहते हैं, नहीं 'अश्विनौ दिन और रात्रि का नाम है। तीसरे आचार्य इन दोनों अश्वियों को सूर्य और चन्द्रमा बतलाते हैं। इधर ऐतिहासिक (इतिहास को मानने वाले) लोग इन्हीं आश्वियों से "पुण्य शीलदो राजा" ऐसा अर्थ लेते हैं"॥

इसी प्रकार अत्यन्त भी है —

(१) "द्यावा पृथिवी वा अश्विनौ।" काठक सं० १३-५॥
(२) "इमे हवै द्यावा पृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ।"
श० ४-१-५-१६ ॥
(३) "अहो रत्रे वा अश्विनौ।" मै० सं० ३-४-४ ॥
(४) "अश्विनावध्वर्यू।" श० १-१-२-१७

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातो तावेव रोदसी ॥१२६॥
अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च।
पृथक् पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥१२७॥

(५) वृहद्देवता

यह सब प्रमाण निरुक्त के पूर्वोक्त स्थल की पुष्टि में ही दिये गये हैं।

अतः "तामश्विनौ प्रमुमुचतुः" का अर्थ उस उषा को "अश्विनौ" दिन और रात्रि ने मुक्त किया। रात्रि आने पर ही उषा का प्रादुर्भाव होता है, उधर दिन होने पर।" यहाँ निरुक्तकार के आख्यान का स्वरूप ज्ञात हुआ कि 'उषा' को अश्वियों ने छुड़ाया। क्या उषा व्यक्ति विशेष का नाम है?

(४)

"पिता दुहितुर्गर्भमाधात्" ऋ० १-१६४-३३
पिता दुहितुर्गर्भं दधाति, पर्जन्यः पृथिव्या ॥
निरुक्त ४-२१

यहाँ पिता और दुहिता शब्द यौगिक हैं। रूढ़ि नहीं यह बात स्वयं यास्क ने पर्जन्य=मेघ और पृथिवी यह दोनों अर्थ निर्देश करके बतला दी।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि पिता-पुत्र-दुहिता मातादि शब्द केवल लौकिक माता पिता परक ही नहीं होते अपितु इनके अर्थ अनेक प्रकार से होते हैं। उधर जड़ पदार्थों के लिये भी पुत्रादि शब्दों का प्रयोग यास्क ने किया है। तद्यथा—

(१) निरुक्त० ८-५

तनूनपादाज्यमिति कत्थक्यः। नपादित्यनन्त-रायाः प्रजाया नाम धेयं निर्णततमा भवति। गौरत्र

तनूरुच्यते। तता अस्यां भोगाः तस्याः पयो जायते पयस आज्यं जायते ॥"

अर्थात् कात्थक्य आचार्य के मत में तनूनपात् आज्य (घृत) का नाम है। नपात् अन्तरापत्य प्रजा का नाम है। यहाँ तनू का अर्थ है गौ। क्योंकि उसमें भोग विस्तृत होते हैं (दुग्ध दधि रूप में) उससे दूध उत्पन्न होता है और पयः (दुग्ध) से घी निकलता है अतः घृत गौ का पौत्र है। इससे स्पष्ट है निरुक्तकार पुत्र पौत्रादि शब्दों का प्रयोग जड़ वस्तुओं में भी मानते हैं। अतः पुत्र पौत्रादि शब्द आ जाने से इतिहास की घबराहट में पड़ने की अवश्यकता नहीं।

(५) शेष रहा ब्राह्मणादि में इतिहास का वर्णन इस सम्बन्ध में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कह कर यास्क के अपने ही शब्द देता हूँ —

....यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्ति वादीनिहि ब्राह्मणानि भवन्ति।" नि० ७-२४

अर्थात्—ब्राह्मणों का इस प्रकार जो कथन है वह भक्ति वाद को लेकर है—अर्थात् किन्हीं गुणों को लेकर वैसा कहा गया है। वास्तविक घटनायें इस प्रकार की हुई हैं यह बात नहीं। यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि ब्राह्मण सर्वांश में भक्ति वाद को लेकर कहता

हो ऐसा नहीं। न हीं यास्क का ऐसा अभिप्राय है। क्योंकि निघण्टु तथा निरुक्त में आये हुये अनेक शब्द इसका प्रमाण हैं जिनका ब्राह्मणों में भी उसी प्रकार से व्याख्यान किया गया है। वास्तव में यास्क के इन शब्दों का आधार ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं। इतने से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि में आये हुये इतिहासों को यास्क कैसा मानते हैं।

(६) मूल निरुक्त के यह सब प्रमाण हमने दिये जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इतिहास के विषय में निरुक्तकार उपमार्थ—आख्यान की प्रीति, मात्र ब्राह्मणों के आधार पर बहुभक्ति वाद—मानते हैं।

अब इस प्रसङ्ग में यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि जब यास्क जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि " पुरुष विद्यानित्यत्वात् " तथा "ब्रह्म स्वयंभूः अभ्यानर्षत् " "नियत वाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्यो भवन्ति।" यह कह कर वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। तब वह वेद में अनित्य इतिहास मान ही कैसे सकते हैं ? जो कहा जाता है। "वह गौणिक-उपमा रूप-औपचारिक" है सो इस विषय का मूल हमने निरुक्तकार के अपने शब्दों में बतलाया।

२—निरुक्त के आधार ब्राह्मण अरण्यक, तथा वेद में इतिहास

इस विषय में मैं बहुत संक्षेप से निरुक्त की पुष्टि में कुछ एक स्थल निर्देश कर देना ही पर्याप्त समझता हूँ—

(१) निरुक्त २, १६ की उपर्युक्त वृत्रासुर की कथा पर स्वयं 'ब्राह्मण' क्या कहता है देखिये। शतपथ ११, ६, १९, में लिखा है—

"तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद् देवासुरमिति ।" पृ० ५५

अर्थात् 'वृत्रासुर' युद्ध हुआ नहीं अपितु उपमार्थ युद्ध का वर्णन है। यह शतपथ के लेख से सर्वथा स्पष्ट है।

(१) "प्रजापतिः स्वां दुहितारमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्येन यास्यामिति सम्बभूव। स वै यज्ञ एव प्रजापतिः॥ शतपथ १-७-४-४

(२) प्रजापति वैं स्वां दुहितारमभ्यध्यदुषसम्॥ मै० सं० ३-६-५। ४-२-१२; (मनुस्मृति मेधातिथि भाष्येऽपि १-३२)॥

(३) सः (प्रजापतिः = संवत्सरः = वायुः) आदित्येन दिवं मिथुनं समभवत्॥ श० ६-२-१-४॥

(४) प्रजापतिर्वै स्वां दुहितारमभ्यधावद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये ॥ऐ ब्रा० ३-३३॥

प्रजापति की इस कथा का वर्णन ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० २९७ में ऐसा ही है जैसा कि इन ऊपर के प्रमाणों में है। इस से इस प्रकरण के इतिहास को ब्राह्मणकार उषा सूर्यादि नित्य पदार्थ परक ही बतलाते हैं। यह इन उपर्युक्त उद्धरणों से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

(३) शतपथ ब्राह्मण के ८म काण्ड के प्रथम तीन ब्राह्मणों में—यजुर्वेद अध्याय १३ के ५४ मन्त्र के व्याख्यान में मन्त्र में आये 'वसिष्ठ' आदि शब्दों का स्वरूप शतपथ कार बताते हैं—

(१) "वसिष्ठ ऋषिरिति (य० म० १३-५४) प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथ यद् वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः........।"

(२) "भारद्वाज ऋषिरिति (य० १३-५५), मनो वै भरद्वाज ऋषिरन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भारद्वाज ऋषिः"॥

(३) "जमदग्नि ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिर्यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निऋषिः ॥"

(४) "विश्वामित्र ऋषिरिति—श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः ॥"

(५) "विश्वकर्मा ऋषिः वाग्वै विश्वकर्मर्षिः। वाचा हीदं सर्वं कृते तस्माद्वागविश्वकर्मा ऋषिः.... ।"

इन उद्धारणों में "वसिष्ठ" ऐसा मूल यजुः का पाठ है मन्त्र नम्न प्रकार है —

"वसिष्ठ ऋषिः प्रजापति ऋषि गृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥"

यहाँ पर शतपथ ब्राह्मण में वसिष्ठ ऋषि का अर्थ प्राण भरद्वाज का मन। जमदग्निः का चक्षुः। विश्वा मित्र का श्रोत्र और विश्वकर्मा का वाग् अर्थ किया गया है। और अपनी ओर से ही वसिष्ठ ऋषि का अर्थ प्राण किया हो यह बात नहीं अपितु मन्त्र में आये हुए शब्दों का ही क्रमशः व्याख्यान किया गया है। इस सम्पूर्ण प्रकरण को पढ़ जाने

से इस में वसिष्ठादि से इन भौतिक पदार्थों का ही ग्रहण किया गया है और कुछ भी नहीं। अतः इससे स्पष्ट है कि—ब्राह्मण कार संहितान्तर्गत वसिष्ठादि शब्दों को व्यक्ति विशेष नहीं मानते। यही दिखाना हमको यहाँ अभिप्रेत है।

३—शतपथ भाष्यकार हरिस्वामी

(१) "यद्यपि किञ्चिदनित्यार्थं वचनमिव दृश्यमाने ततो पृक्षांति दर्वाक् (?) प्रवृत्तवा ग्रन्थस्याशो कथायतिः—

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिष (?) इत्यादि तदपि नैरुक्त दिशा प्रवाह नित्यं एष विद्युदादि व्यवहार वाचित्वेन, इतिहासिक दिशां वा सर्व वृत्तान्तनामेव शीतोष्ण वर्षाद्या वर्त्तवद्याथा काल वर्त्तमानानां अनाद्यनन्तानां वेदेन कर्म कालेऽतीत रूपेण प्रतिपादनात् आदेशः (भूमिका उपसंहारे पृ० १४)

(२) "एवमपि (इति)हास दृष्ट्याऽपि व्यवहारं मुक्त्वा नैरुक्त दृष्ट्या प्रत्यक्षमिन्द्रवृत्र व्यवहारं दर्शयन्नाह—

"तद् वा एते देवा इति।" अत्र च वृत्रह आदित्योऽभिप्रेतः। वक्ष्यति हि "तद्वाह एष एवेन्द्रो य एष तपति" तस्य वृत्रं हनिष्यतो यज्ञमिदमुपायभूतं..........। (पृ १६०)

(३) अधि दैविकं सूक्ष्मार्थं दर्शयति॥—पृ० ७१

(५) उपनिषद् तथा अरण्यक (प्रायः) मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। उनमें तो इस विषय के अत्यधिक प्रमाण मिलते हैं। यहाँ केवल तै० आ० का एक स्थल ही दिया जाता है :—

इन्द्रः परमेश्वरः मेधातिथिरग्निः। अहल्या वाक्। कुशिकः अग्नि। ऐतिहासिकास्त्वाहुः। भट्टभास्कर भाष्य पृ० १०२।

इस प्रकार ब्राह्मण तथा आरण्यकों की परम्परा में भी इन इतिहास परक शब्दों का अर्थ नित्य पदार्थों में लगाया गया है। यही संक्षेप से दिखाना हमारा लक्ष्य था। इस विषय की अतीव मनोग्राही व्याख्या वेदों के प्रौढ़ विद्वान् श्रद्धास्पद श्री० पं० शिवशङ्कर जी कृत "वैदिकेतिहासार्थ निर्णय" में देख सकते हैं। यहाँ निरुक्त से सम्बन्ध रख वनोली बात ही हमने केवल लिखी है।

४—यास्क के अनुवर्त्ती नैरुक्तचार्यों की ऐतिहासिक परिभाषा का स्वरूप

यास्क के पश्चात् अनेक आचार्यों ने निरुक्त का व्याख्यान किया इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। सामान्य तया प्रसिद्धि तो इतनी ही है कि दुर्ग ने निरुक्त पर टीका लिखी। परन्तु अब विविध महानुभावों की खोज से इस विषय के लगभग ६-७ आचार्यों का ज्ञान हमको प्राप्त हो रहा है। जो निम्न प्रकार है—

(१) निरुक्त वार्तिक (इसका वर्णन पूर्व पर कर चुके हैं)

(२) वर्वर स्वामी (देखो स्कन्द निरुक्त भाष्य)

(३) स्कन्द महेश्वर

(४) दुर्ग

(५) श्री निवास (देखो देवराज यज्वा निघण्टु)

(६) नागेशोद्धृत निरुक्त भाष्य (वैयाकरण भूषण)

(७) वररुचि निरुक्त समुच्चय।

इतने नैरुक्त प्रक्रिया के आचार्यों का हम को इस समय तक पता लगा है। अन्य भी इस प्रक्रिया पर न जाने कितने ग्रन्थ लिखे गये होंगे। परन्तु काल के चक्र और हम भारत वासियों के प्रमाद के कारण न जाने कितने ग्रन्थ नष्ट हो गये तथा इस समय भी पर्याप्त प्रयत्न न होने से नष्ट होते जा रहे हैं।

महाभाष्य पर सब से प्रथम जो ग्रन्थ लिखा गया वह "भर्तृहरि" की टीका है जिसका असली हस्त लेख जर्मनी में है, उस के फोटो भारत वर्ष में भी एक दो स्थानों में हैं। उसके पृ० ४२ पर निम्न पाठ है—

(८) "निरुक्ते त्वेवं पठ्यते। विकार मस्यार्थेषु भाषन्ते शव इति तत्रायमर्थः क्रियते। अचप्रत्ययान्त स्य यो विकार एकदेशस्तमेव भाषन्ते न शवति सर्व प्रत्ययान्तः प्रकृतिमिति।"

इस उद्धरण से भी स्पष्ट है कि भर्त्तृहरि किसी निरुक्त के भाष्य को लक्ष्य में रख कर ही "तत्र अयमर्थः क्रियते...ऐसा लिखते हैं। इससे यास्क के पश्चात् वर्त्ती नैरुक्त आचार्यों की संख्या ८ हो जाती है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थ यदि मिल जावें तो यह निश्चय से कहा जा सकता है कि वेद विषयक अनेक रहस्य खुलें। तथा स्वामी दयानन्द जी महाराज की धारणाओं के लिये अधिक से अधिक प्रमाण मिलें

इन सब के उद्धरण हम प्रकृत विषय में नहीं दे सकते क्योंकि जब ग्रन्थ ही उपलब्ध नहीं तो उद्धरण कहाँ से दिये जा सकते हैं। जो ग्रन्थ मिलते हैं वह तीन ही हैं प्रथम "वर रुचि" आचार्य का "निरुक्त समुच्चय", द्वितीय स्कन्द स्वामी तृतीय दुर्ग।

आचार्य स्कन्द स्वामी वर्त्तमान में उपलब्ध होने वाले वेद भाष्य कारों में सर्वतः प्रथम हैं। अतः ऐसे योग्य आचार्य के निरुक्त भाष्य को हमें अधिक आदर और सन्मान की दृष्टि से देखना होगा। तथा हमारे प्रकृत विषय में जितनी उपयुक्त सामग्री हमें स्कन्द के निरुक्त भाष्य में मिलती है इतनी कहीं नहीं। अतः इन से पूर्व वर्त्ती प्राचीन 'आचार्य वररुचि' के "निरुक्त समुच्चय" जिसको स्वयं स्कन्द ने उद्धृत किया है—का प्रमाण भी हम पीछे प्रस्तुत करेंगे।

स्कन्द स्वामी का काल सन् ६३० निश्चित किया जाता है। दुर्ग के विषय में भिन्न २ मत है पर हम दुर्ग के प्रमाण स्कन्द तथा वररुचि से पीछे देंगे।

५—स्कन्द स्वामी और वेद में इतिहास

आचार्य स्कन्द स्वामी की निरुक्ति टीका पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से सम्पूर्ण छप चुकी है जिसके फरमें मेरे पास हैं। मैं कह सकता हूँ यदि उक्त ग्रन्थ मुझे न मिला होता तो मैं निरुक्त सम्बन्धी अपनी सम्पूर्ण धाराणाओं को इतने बल पूर्वक इस रूप में आप सज्जनों के सन्मुख न रख सकता।

जिस "देवापि और शन्तनु" की कथा को लेकर विदेशीय तथा एतद्देशीय विद्वान् भ्रम में पड़ जाते हैं जैसा कि इस लेख के आरम्भ में दर्शाया जा चुका है—

इस प्रकरण का कैसा मनोरञ्जक व्याख्यान आचार्य स्कन्द-स्वामी करते हैं—

(१) "अथवा ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम्, अन्तश्चरश्शत्रूणां सेना समुदायः, सचेन्द्रियणाम् । एतदुक्तं भवति—विषयाभिलाष मुख्यात् कामादि चित्त मल रेषप्रधाना सेना इन्द्रिय ग्रामो यस्य, दूषिता वा प्रेशिता वा गता, पराङ् मुखी भूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रिय सेना यस्य ।" पृ० ७३ ।

अर्थात्—ऋष्टिषेण उसका नाम है जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से पृथक हो चुकी हों।

(२) "नित्य पक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थ योजना-आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणो मध्यं तत्र भवत्त्वाच्चार्ष्टिषेणो विद्युत् । तस्य पार्थिवात्मावस्थितस्य होतृत्वेन देवापि त्वम् । शिष्टो मन्त्रः पूर्व वद् योज्यः" ॥ पृ० ७७ ।

अर्थात् "नित्य पक्ष में दोनों ऋचाओं (ऋ० ९८-१७ की नित्य पक्ष में अर्थ की योजना करनी चाहिये जो निम्न प्रकार

है—ऋष्टि षेण मध्यम का नाम है। उसमें रहने वाला मध्यमस्थानी हुआ। आर्ष्टिषेण, सो नाम है विद्युत् का। वह जब पार्थिवरूप से अर्थात् पृथिवी में वर्त्तमान होता है तब उसका होता रूप से देवापित्व देवापिपन होता है। शेष मन्त्र की योजना पूर्ववत् कर लेनी चाहिये।"

(३) "देवापिर्विद्युत्। शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्। यत् यदा देवापि वैद्युतः शन्तनवे वृष्टिलक्ष्यणमस्योदकस्यार्थाय, पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादूदकं........पूर्व वद् योज्यम्"

अर्थात् देवापि यहाँ विद्युत का नाम है और शन्तनु उदक = जल का नाम है। वृष्टि रूप जल विद्युत् से ही बरसता है। इस देवापि विद्युत् को मन्त्र में 'पुरोहितः' लिखा है। इसको स्कन्द स्वामी बताते हैं—"पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम्।" पहिले विद्युत चमकती है तब वर्षा होती है, अतः देवापि-विद्युत् पुरोहित कहलाता है।.... .. आगे पूर्व वत् योजना कर लेनी चाहिये।

(४)

"अथवा कश्चिद् राजा जायमानोऽनावृष्ट्या क्षतसेन ऋष्टि सेन उच्यते।" पृष्ठ ७८—

अर्थात् जिस राजा की सेना अनावृष्टि से हत हो जावे उसको ऋष्टिषेण कहते हैं।

(५) देवापि-शन्तनु की सारी कथा के नित्य अर्थ की योजना स्कन्द स्वामी ने दर्शा दी जिससे वेद में इतिहास का निरुक्तकार यास्क का क्या स्वरूप है यह भली भाँति ज्ञात हो गया। परन्तु एक इस कथा की योजना सङ्गति (जिसको आजकल के हतबुद्धि लोग खींचा तानी बतलाते हैं) लग जाने से सम्पूर्ण निरुक्त शास्त्र की कथाओं, यद्वा वेद में आये हुये ऐसे सर्व स्थलों का समाधान नहीं हो जायगा। ऐसी आशंका को मन में रखकर ही आचार्य स्कन्द स्वामी ने सुहृद् हो कर—इतिहास की परिभाषा का स्वरूप कैसे उत्तम शब्दों में दर्शाया है—

(५)

"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। तथा च वक्ष्यति। तत् को यम यमी (नि० १२-१०) वृत्रः, मेघा इति नैरुक्ताःइत्यादि। मध्यमश्च मध्यामिकां च वाचम् इति नैरुक्ताः। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।"पृ० ७८॥

अर्थात्—इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रों में आख्यान-इतिहास का स्वरूप वर्णन किया गया है उन सब मन्त्रों की यजमान परक- अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये। यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है। जैसा कि आगे आचार्य (यास्क) कहेंगे। वृत्र कौन है ? नैरुक्तों के मत में वृत्र का अर्थ है मेघ (सरण्यु से एक जोड़ा पैदा हुवा—यम और यमी) ये यम और यमी नैरुक्तों के मत में मध्यम (विद्युत) और माध्यमिक वाक् का नाम हैं। ऐतिहासिकों के मत में इसका अर्थ यम, यमी कहा गया है। इत्यादि...... मन्त्रों में इतिहास, आख्यान का सिद्धान्त औप- चारिक अर्थात् गौण है। वास्तव में तो नित्य पक्ष ही मन्त्रों का विषय है"।

हमारे विचार में इससे बढ़कर और स्पष्ट क्या साक्षी हो सकती है। केवल "देवापि और शन्तनु" को विद्युत् और जल बना कर इन मन्त्रों या सूक्त की ही सङ्गति नहीं दिखाई अपितु सारे निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त इस विषय में प्रतिपादित कर दिया। "एष शास्त्रे सिद्धान्ता" 'परमर्थं तु नित्यपक्ष इत्येव सिद्धाम्" क्या ये उद्धरण कुछ भी टिप्पणि की अपेक्षा रखते हैं ?"

६—निरुक्त समुच्चय।

अत्यन्त प्रसन्नता तथा आश्चर्य की बात है कि 'वररुचि आचार्य के हस्त लिखित ग्रन्थ "निरुक्त समुच्चय" जिसका

मैंने ऊपर वर्णन किया है में भी आचार्य स्कन्द स्वामी के उपर्युक्त शब्द पूर्व के ही सर्वथा अनुरूप एक जैसे मिलते हैं। यह ध्यान रहे कि इस 'निरुक्त समुच्चय' ग्रन्थ को स्कन्द स्वामी ने निरुक्त भाष्य में उद्धृत किया है। लेख निम्न प्रकार है—

"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्व-विरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः" (हस्तलिपि १४२)

अर्थात्—मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है। क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जायगा। परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही (ठीक) है यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है॥ सर्वथा वही स्कन्द स्वामी जैसे ऊपर के शब्द हैं जैसे दोनों ने सम्मति कर के ही लिखा हो। यह है वेद में इतिहास विषय की नैरुक्तों की परिभाषा का स्वरूप। इन दोनों प्रमाणों से सिद्धान्त रूप से ऐतिहासिक पक्ष का औपचारिकत्व गौणत्व सूर्य के प्रकाश की भाँति सिद्ध है। हम समझते हैं पक्षपात रहित विद्वानों को नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को मानने में यत् किञ्चित् भी ननु नच न होगी। हाँ जो इस पर भी न मानें तो उसमें तो कहा ही है—

"ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति"॥

अब हम विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ इन दोनों ग्रन्थों के आवश्य-

कीय कुछ स्थल और रख देते हैं जिससे यदि कोई कहे कि न जाने एक आध स्थल प्रक्षेप ही हो गया हो या कुछ और...—इस विचार को भी कुछ स्थान न रह जावे—

आचार्य वररुचि के शेष स्थल

(२) १४१—ऊपर वाले उद्धरण से पूर्व ऋ० १०-९५-१४ "सुदेवोऽद्य" के व्याख्यान में—

"एवमितिहास पक्षे योजना। नैरुक्त पक्षे तु पुरुरवाः मध्यमस्थानः वाय्वादीनामेकत्वात् पुरु रौतीति पुरुरवा, उरुवशी विद्युत विस्तीर्णमन्तरिक्षं अश्नुत इति उर्वशी वर्षा काले विद्युति........

यहाँ पुरुरवा को मध्यम स्थानी—उर्वशी का विद्युत् बताया।

३ पृ० १४६-१४७—" ओ चित् सखायं सख्या विवृत्यां.......'' ऋ० १०-१०-१

प्रथमं तावदैतिहासिक मतानुसारेण मन्त्रो व्याख्यायते........एवमैतिहासिक पक्षे योजना नित्य पक्षे तु [नि० १२-१० मध्यमं च माध्यमिकां च

वाचमिति नैरुक्ताः । यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः]
यमी मध्यमस्थाना वाक् । यमश्च मध्यमस्थानः ।
सा यमी वर्षाकाले मध्यमस्थानाभिमुख्येन सहायं
सह स्थानयोगात्........एवं नित्यता विरोधेन
योज्यम् ।"

अर्थात्—यम-यमी मध्यमस्थानी हैं । वेद के नित्यत्व में विरोध न आवे इस प्रकार योजना कर लेनी चाहिये ।

(४) पृ० १३२—"अर्थाभि व्यक्त्यर्थमस्यां प्रथमं तावदाख्यानं प्रस्तौति" ।

अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आख्यान-इतिहास प्रस्तुत करते हैं । यह सब प्रमाण भी आचार्य 'वररुचि' की वेद में इतिहास की परिभाषा-भावना के स्वरूप को विस्पष्ट दर्शा रहे हैं । आचार्य स्कन्द स्वामी के इस विषय के अनेक स्थलों को हम इस समय लेख बढ़ जाने के कारण छोड़ देते हैं ।

७—दुर्गाचार्य और इतिहास

दुर्ग ने यद्यपि निरुक्त के अनेक स्थलों में ऐतिहासिक पक्ष की पर्यालोचना बहुत उत्तम रीति से की है, परन्तु जिस स्पष्टता से आचार्य स्कन्दस्वामी ने नैरुक्तों की ऐतिहासिक परम्परा को सूर्य

के प्रकाश की भाँति व्यक्ति कर दिया है। वास्तव में उसको देख कर ही अब विज्ञ-पाठकों को आचार्य दुर्ग की इतिहास विषय की धारणा को अवगत करने में कुछ भी कठिनता न होगी। यद्यपि दुर्ग की टीका में बहुत ही उत्तम उत्तम स्थल विद्यमान थे परन्तु अब तक इतनी प्रबलता से वेद के इतिहास का समाधान विस्पष्ट रीति से नहीं हो सका इस बात को निरुक्त के पढ़ने पढ़ाने वाले सभी अनुभव करेंगे।

हमारे विचार में यहाँ इतना और ध्यान में रहे कि यद्यपि स्कन्द और दुर्ग अपने अपने काल की उन रूढ़ियों से बच नहीं सके, जो उनके काल में वेदार्थ के विषय में प्रचलित थीं। यह बात इनके स्थान स्थान पर मन्त्रार्थ के देखने से ही ज्ञात हो जाती है। परन्तु यह सब होने पर भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि इन दोनों आचार्यों के काल तक निरुक्त की परम्परा कुछ सीमा तक उत्तम रीति से चली आ रही थी। मेरे विचार में तो स्कन्द ने १०० में ७५ हमारे समाधान कर दिये हैं। लगभग इतना ही दुर्ग ने भी हमारे लिए निरुक्त की प्रक्रिया का मार्ग साफ कर दिया है। शेष उनकी धारणा को तो हम भी सर्वांश में नहीं मानते। परन्तु इनके इतने महान् उपकार के लिए हमें इनका अतीव कृतज्ञ होना चाहिए।

अब सज्जनों के सन्मुख इतिहास विषय की दुर्ग की धारणा रखता हूँ—

(१) पृ० ७४४ (बम्बई संस्करण) "तत्र एत-

स्मिन्नार्थे इतिहासमाचक्षते आत्म- विदः ।
इति वृत्रं परकृत्यर्थवाद रूपेण यः काश्चिद्
आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिकोवार्थ आख्या-
यते दिष्टयुदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते ।
स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षित
स्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात् ।"

अर्थात—यह ऋचा आत्मगति को कहती है इस 'विश्वकर्मा भौवन' के विषय में आत्मज्ञानी इतिहास बतलाते हैं, पर कृति अर्थ-वाद रूप से इतिवृत्त का व्याख्यान करते हैं। जो कोई भी आध्या-त्मिक-आधिदैविक आधिभौतिक अर्थ (दिष्टचुदितावभासनार्थ) ज्ञान के उदय (प्रकाश) होने के लिये प्रख्यात किया जाता है, वही इतिहास कहाता है। सो यह सब प्रकार का इतिहास निःसंशय नित्य तथा अविवाक्षितस्वार्थ होता है अर्थात् अपने मुख्य इतिहा-सार्थ को नहीं कहता। क्योंकि वह केवल उस अर्थ को जानने वाले लोगों के लिये केवल उपदेश परक (उपदेश मात्र) ही होता है (वास्तव में वह कोई इतिहास नहीं होता)।

(२) पृ० ५३९—"यथो एतत् पौरुषविधकैः द्रव्य संयोगैः इति । एतदपि तादृशमेव । औपचारिकं

रूपकमित्यर्थः। यथैव हि आस्यादि कल्पना दृष्ट्व्यभि-चारित्वात्ग्रावप्रभृतिषु न सम्भवति, रूपकमात्रं स्तुत्यर्थं सङ्कल्पतो बाह्वादिकार्यसिद्धिः। एवं हरिरथ-जयादि स्तुतयो रूपकमात्रमिति।...न चास्यांस्तुतौ यथाभूतार्थत्वोपपत्तिरस्ति। असम्भवात्। कथम सम्भवः? नद्या उदकात्मिकाया नद्या वहन्त्यारथेऽत्र-स्थाने सम्भवति...तदेवमादिष्वसम्भवात् मुख्यार्थ कल्पनायाः सर्वत्र रूपकप्रवादाः स्तुतय इत्युपेक्ष्यम्।"

अर्थात्—"मूल निरुक्त में जो "यथो एतत् पौरुषविधकै। द्रव्य-संयोगैः" जो यह कहा कि पुरुष सदृश अङ्गों से स्तुति की जाती है अतः ये देवता चेतन हैं...यह भी वैसा ही है। अर्थात् औपचारिक-रूपक है। जिस प्रकार ग्रावादि में आस्यादि (मुखादि) की कल्पना सम्भव नहीं, अपितु स्तुति के लिये रूपक मात्र होती है। कल्पना से ही बाहु आदि कार्यों की सिद्धि होती है न कि वास्तविक (शृणोत ग्रावाण इत्यादि में)। इसी प्रकार हरि के रथ—जयादि की स्तुतियें रूपक मात्र हैं (वास्तविक नहीं...इस स्तुति में यथा भूतार्थ (सचमुच) ऐसा कथन नहीं। क्यों? असम्भव होने से। असम्भव कैसे? जलरूप चलती हुई नदी का रथ में बैठना सम्भव नहीं।"

कितना स्पष्ट लेख है जिस पर कुछ भी टिप्पणि की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना और ध्यान रहे कि महाभाष्यकार पतञ्जलि भगवान् ने "हेतुमति च" सूत्र के भाष्य में "अचेतनेष्वचेतनवदुपचाराः" इस वार्त्तिक में "शृणोत ग्रावाणः" यही उदाहरण दिया है जिससे यह सब औपचारिक है यह स्पष्ट सिद्ध है। इसी प्रकार शान्तनु के राज्य की १२ वर्ष अनावृष्टि भी तो असम्भव ही है। अतः वहाँ भी औपचारिक ही कथन है।

(३) पृ० ५६३—"तत्रैवं सति आत्मविद आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्ग प्रत्यङ्ग भावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति। तथा नानात्वैकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे। तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका नानात्वे एवमेषामविरोधाः।"

अस्ति हि शब्दार्थयोर्वक्तृप्रतिपत्तृवशेन तद्बुद्ध्यपेक्षयान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्त्तितुं शक्तिः। न तु स्वाभाविकमभिधानाभिधेयसम्बन्धमकृतकमप्रव्यावमानावभिधानाभि धेयौ जहीतः। न ह्ययग्नेरवभास्यं प्रत्यवभासनशक्तिरवभास्यस्यचावभास्यमानताशक्तिर्व्यवधानमन्तरेण विहन्यत। नह्यकृतकं

स्वयमप्यधीतं को विकल्पते वैदिकानां पदवाक्य-प्रमाणानाम् ।

आत्मभावानुशयवशनात्मविन्नैरुक्तः याज्ञिकाः वेदस्याविपर्यासिनामप्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञविषय-नियमतां अर्थाभिधानशक्ति विपर्यासिनीमिवमन्य-माना:परस्पर तो विपर्यस्यन्ते ।

एतद् सर्वथापि भेदाभेदवर्त्ति देवतासतत्वं यथाग्रहं वक्तृप्रतिपत्तृवशेन प्रख्यातिमुपनयत् स्तुति-रूपकेणात्मोऽर्थसतत्वं तथा भूतं मन्त्रैराविष्क्रियते । तदुक्तं—"तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति" दर्शि-तञ्चैतन्मन्त्रेण "न त्वं युयुत्से..........." इति । निष्ठितरूपत्वेन स्वे स्वे विषयेऽध्यात्मादौ परमार्थतया ऐकात्मये निष्ठा तदन्तत्वाद वाचः । तदुक्तम् "यतो वाचो निवर्त्तन्ते .. "

यह समग्र स्थल बड़ा ही उत्तम है। बहुत लम्बा होने से सम्पूर्ण का अर्थ न कर के भाव मात्र ही लिखा जाता है:—

आध्यात्मिक नैरुक्त-याज्ञिक आदि पक्षों में परस्पर विरोध नहीं ।

कथन के प्रकार का भेद मात्र है……इन वादों में शब्द और अर्थ की शक्ति वक्ता और प्रति पत्ता (बोद्धा) के बुद्धि वैशद्य के भेद से भिन्न है। स्वभाविक नित्य अकृतक अभिधानाभिधेय सम्बन्ध को शब्द और अथ नहीं छोड़ते। आत्मा के अपने २ भावों के आधीन नैरुक्त-आध्यात्मवादी और याज्ञिक लोग वेद की कभी विपरीत (विरुद्ध) न होने वाली आध्यात्म-आधिदेव-आधियज्ञ विषयक नियम वाली अभिधान शक्ति को (विपर्यासिनीमित्र) परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध सी होती हुई मानते हुये भिन्न २ अर्थों का प्रतिपादन करते हैं।

…… यह सब (यथा ग्रह) अपने अपने ज्ञानानुसार-(वक्तृप्रत्ति पत्तृवशेन) वक्ता और ज्ञाता की विद्याशक्ति के भेद से होती है। इसी से यास्क मुनि ने कहा—

"तत्रोपमार्थेन युद्ध वर्णा भवन्ति" ॥

इसीको मन्त्र बताता है। भिन्न २ विषयक मन्त्र होते हुये भी परमार्थ से (प्रधानतया] एक "ब्रह्म" में परिसमाप्ति है। क्योंकि वाणी की परिसमाप्ति भी अन्ततोगत्वा उसी में होती है। जैसा कि उपनिषद् में कहा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" दुर्ग के ये शब्द ऋषि दयानन्द की वेद सम्बन्धी धारणा को पुकार २ कर सर्वांशेन पूर्ण रीति से पुष्ट कर रहे हैं। इसको विज्ञ महानुभाव भली प्रकार समझ सकते हैं—

(४) पृ० ७२२— "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता ....."

इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य का लेख निम्न प्रकार है—

"अतश्च दर्शयति मन्त्राणामैतिहासिकोऽप्यर्थ उपेक्षितव्योऽसावपि तेषां विषयः।"

अर्थात्—यास्क के "ऋषेदृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" का यही अभिप्राय है कि मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ भी होता है वह भी उनका विषय होता है। यहाँ 'अपि' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

जिन मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ दर्शाया जाता है उनका अन्य भी अर्थ है यह दुर्ग के लेख से स्पष्ट है। दुर्ग के शब्दों में मन्त्रों का ऐतिहासिक अर्थ भी होता है। यह यास्क मुनि को यहाँ अभिप्रेत है।

यहाँ पर इतना ध्यान रहे कि यह सब इतिहास औपमिक है, तथा नित्य पदार्थों का वर्णन गौणतया औपचारिक रूप से वर्णित है यह दुर्ग का मत है।

८—दुर्ग के शेष स्थल

अब हम दुर्गाचार्य के भिन्न भिन्न उपयोगी स्थल अति संक्षेप से दर्शाते हैं। जिस से यह भली प्रकार व्यक्त होता है कि वह वेद में

अनित्य व्यक्तियों का इतिहास न मान कर वेद के अर्थ को नित्य मानते हुये नित्य इतिहास का ही प्रतिपादन करते हैं—

(५) पृ० ७९५—(१) "सरमा" का अर्थ निरुक्त में देव शुनी=देवताओं की कुतिया लिखा है। निरुक्त का लेख इस प्रकार है—

"देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः सम्हे इत्याख्यानम्।"

दुर्ग कहते हैं—

"इत्याख्यानविद एवंमन्यन्ते। वाक् पक्षे तु सरमा माध्यमिका वाक्। वाक् पक्षे तु चिरकालीन वृष्टिव्युपरमे कदाचिदभिनव मेघसँप्लवे सहसैव स्तनयित्नुसुपश्रुत्य कुत इयं माध्यामिका वाक् चिरेणागतेति विस्मितस्तामसूयन्निव ब्रवीति.... किमिच्छन्ति सरमा.......ऋ० १०-१०८-१।"

यहाँ 'सरमा' का अर्थ मध्यमस्थानी वाक् किया है।

२ पृ० १४५—युद्ध वर्णाभवन्ति। युद्धे रूपकाणी-

त्यर्थ। नह्यत्र यथा भूतं युद्धमस्ति । नहीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति ॥"

३ पृ० २८७—"ऐतिहासिक मतेन नित्यार्थं प्रदर्शितवान् ।"

४ पृ० १३४—"निरुक्त पक्षे ऋष्टिषेणो मध्यम-...शन्तनवे सर्व स्मै यजमानाय ।"

५ पृ० ३१५—"मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधि यज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो-दृश्यते ।"

६ पृ० ३९५—"उर्वशी का अर्थ विद्युत पूर्ववत् किया गया है ।"

७—१—"कोऽयमग्निः ।.......आत्मा इत्यात्मविदः ।.......अविवक्षितस्थानविशेषो निर्ज्ञातैतदभिधानो देवताविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः । विवक्षितविशिष्टस्थान कर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवो ऽयमग्निरीति

नैरुक्तसमयः.................आत्मवित् पक्षेतु सर्व-मभिधान मात्मार्थमेवेति सर्वावस्थं विभूति ताद्-भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनम् ।"

अर्थात्—अग्नि कौन है ? आत्मविदों के मत में "अग्नि" का अर्थ है आत्मा। याज्ञिकों के मत में "अग्नि" यज्ञ कर्म का अङ्ग भूत है। नैरुक्तों के मत में उसको पार्थिव अग्नि कहा गया है। आध्यात्म पक्ष में तो यह सब कुछ कथन उपकथनादि आत्मा के लिये ही है। सब में स्थित हुई 'आत्मा' की विभूति की अनुभव करता है, सब पदों की व्युत्पत्ति का यही प्रयोजन है।

दूसरे शब्दों में "अग्नि" आदि शब्दों की प्रकृति प्रत्यय की विविध कल्पना द्वारा व्युत्पत्ति-निर्वचन जो यास्क ने दिखाया है जो इस ग्रन्थ का मुख्य ध्येय है वह इन "अग्नि" आदि शब्दों से एक "आत्मा" का अर्थ संघटित करने के लिये ही है।

यहाँ पर कुछ अविवेकी लोग—व्याकरण तथा निरुक्त की प्रक्रिया को न समझते हुये कहते हैं कि "अग्नि" शब्द की व्युत्पत्ति में अग्नि कस्माद् ? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीत स्थौलाष्ठीवोः। न क्नोपयति न स्नेहयति।

....इतादक्ताद् दग्धाद्वा नोतात् ।....इत्यादि ”

इत्यादि यास्क के लेख पर कहते हैं कि यास्क को स्वयं निश्चय नहीं था कि कौन से धातु से अर्थ करूँ। सन्देह में अनेक धातु गिना दिये।

दुर्ग का यह लेख—

“सर्वाभिधानमात्मार्थ मेवेति सर्वावस्थं विभूतिं तादभाव्यमनुभवतीति सर्वपद व्युत्पत्ति प्रयोजनम्” ।

अर्थात्—सब पदों को व्युत्पत्ति—निर्वचन का प्रयोजन सब अभिधान (कथन) को एक आत्मा में संघटित करने के लिये।

यही तो यौगिक प्रक्रिया है। नैरुक्त परम्परा के जानने वाले आचार्य इस को कितना महत्व देते चले आरहे हैं। इसी को आधार बना कर ऋषि दयानन्द ने तम आच्छादित वेदार्थ को संसार के आगे रखा। इसके बिना और कोई प्रकिया हो ही नहीं सकती जिस से वेदत्व सिद्ध हो सके। सम्पूर्ण निरुक्त इस क्रिया को आधार बना कर ही प्रवृत्त हुआ है यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं।

(८) “विश्वानर विद्यायां तावत् आत्मा

इत्यात्मविदः—इन्द्रादित्य-वायु आकाशउदक-पृथिव्यादयश्च पृथक् पृथगेव वैश्वानरत्वेन विज्ञायन्ते"। पृ० ६०२।

अर्थात्—विश्वानर आत्मवादियों के मत में आत्मा है—इन्द्र, आदित्य, वायु, आकाश, उदक, पृथिवी आदि पृथक् २ विश्वानर रूप से जाने जाते हैं (ब्राह्मणादि ग्रन्थों में)।

(९) "भक्तिमात्रं भवति तत् गुणतः संवादः दुर्बला हि समाख्या।"

(१०) "आत्मस्तुति रेवेयं सर्वा"। पृ० ६७६।

"त्रित्वपक्षे (यमी) माध्यमिको यमो माध्यमिकां वाचम्।" पृ० ८०४

"ऐतिहासिक पक्षाभिप्रायेऽयमर्थवादः।" पृ० ८३५

"रश्मयोहि विश्वेदेवाः।" पृ० ११

इत्यादि इतने स्थल हैं कि हम सब को उद्धृत नहीं कर सकते। अन्त में एक विशेष उद्धरण देकर दुर्ग का विषय समाप्त करते हैं।

९—वेदार्थ में दुर्ग की धारणा

वेदार्थ में दुर्ग की धारणा क्या है इसका दिग्दर्शन निम्न लेख से भली भाँति हो जाता है—

६) पृ—

"तत्रैवं सति प्रति विनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारण-मस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथा श्वा-रोह वैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एव मेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् प्रवहन्ति॥

तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचन मेकैकस्य क्रियते। क्वचिच्च आध्यात्मा-धिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्।

तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्-आधिदैवा ध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रा-पराधोऽस्ति॥"

(२) "ईदृशेषु शब्दार्थ न्याय सङ्कटेषु मन्त्रार्थ घटनेषु दुखबोधेषु मतिमतां मतये न प्रतिहन्यते, वयं त्वेतावदत्रावबुध्यामहे॥" पृ० ६२४

अर्थात्—ऐसी अवस्था में विनियोग—के भेद से इस का भिन्न २ अर्थ होगा। सो यह मन्त्र वक्ता के अभिप्राय भेद से भिन्नता को भी प्राप्त हो जाते हैं। अर्थात् इस से घबराने की कोई बात नहीं।

इन मन्त्रों का बस इतना ही अर्थ है इसकी कैद नहीं लगाई जा सकती। यह मन्त्र महान् अर्थ वाले हैं अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान-—बड़े ही परिश्रम-विद्या-योगादि की शक्ति से जाने जा सकते हैं। जैसे सवार सवार के भेद से घोड़ा अच्छा और अतीव अच्छा चलने लगता है। इसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा उसके दर्शाये वेदार्थ से भी उतने ही अधिक साधु और साधुतर अर्थों का प्रकाश होगा। आज कल के वेद भाष्य कार इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं—क्योंकि स्वयं यास्क ने भी तो कहा है—

"नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्या प्रशस्यो भवेति ......॥" १३ नि०

इस प्रकार निरुक्त शास्त्र में लक्षणोद्देश मात्र (लक्षणों को दर्शाने के लिये संकेत मात्र) ही एक एक शब्द का निर्वचन दिखाया गया है। कहीं कहीं आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधियज्ञ-

अर्थों का बोध कराने के लिये शब्दों का निर्वचन दिखाया है।"

अतः इन मन्त्रों में जितने भी अर्थ उपपन्न (युक्त) हो सकें चाहे वे आध्यात्मिक आधियज्ञादि हों उन सब की योजना कर लेनी चाहिये। इसमें किसी प्रकार का भी दोष नहीं।"

(२) "इस प्रकार शब्दार्थ के निर्णय में संकट उपस्थित होने पर जहाँ पर भी मन्त्रों के दुखबोध अर्थों को यथावत् घटाना होता है। वहाँ बड़े बड़े बुद्धिमानों की बुद्धियाँ प्रतिहत नहीं होती—नहीं रुकती—हम तो यहाँ पर इतना ही समझ सके हैं।"

इस ऊपर के लेख से दुर्ग का वेदार्थ सम्बन्धी हृदय इतना स्पष्ट है कि इस पर कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं, ऐसा प्रतीत होने लगता है, जैसे स्वयं ऋषि दयानन्दजी ही बोल रहे हों। एक एक शब्द में ऋषि दयानन्दजी की वेदार्थ प्रक्रिया की पुष्टि हो रही है।

हज़ारों ग्रन्थों को पढ़कर लगभग ३ हज़ार ग्रन्थों को प्रमाणिक मानने वाले दयानन्द की अगाध बुद्धि का परिचय हम साधारण बुद्धि वालों को तभी होता है जब हमें उनकी धारणा के सम्बन्ध में उनसे पूर्वाचार्य्यों का कोई प्रमाण मिल जाता है। हम लोगों की

अपनी कोई स्वतन्त्र बुद्धि नहीं अपितु हमने अपनी बुद्धि को इन लोगों के हाथ बेच सा दिया है।

"गतानुगति को लोकः न लोकः पारमार्थिकः" दयानन्द में यह बात नहीं थी। उनकी हरएक धारणा शास्त्र प्रमाण तथा तर्क के आधार पर थी। कोई भी निराधार नहीं थी। और जितना जितना हम अधिक प्राचीन ग्रन्थों की खोज करेंगे उसकी अधिक से अधिक पुष्टि पावेंगे।

क्या अब मूल निरुक्त के प्रमाणों से यास्क के नित्य इतिहास का स्वरूप सूर्य की भाँति स्पष्ट नहीं? उसके पीछे 'आचार्य वररुचि' के "निरुक्त समुच्चय" से वही बात स्पष्ट नहीं होती? क्या नैरुक्तों की परम्परा जिसे आचार्य स्कन्दस्वामी और दुर्ग ने दिखाया उससे इस बात के मानने में यत् किञ्चित् भी सन्देह करने का स्थान रह जाता है? हम समझते हैं "निरुक्तकार वेद में (अनित्य इतिहास मानता है।" इस वाद की अन्त्येष्ठि ही कर देनी चाहिये।

शेष रह जाता है निरुक्त के सब ऐतिहासिक स्थलों की पर्यालोचना का क्या किया जाये। मेरे पास इतना समय नहीं तथापि इस विषय के कुछ स्थल विस्तार से अवकाश मिलने पर विद्वानों की सेवा में उपस्थित करने का पूरा यत्न किया जायगा।

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रभु की कृपा से उन स्थलों पर बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। उनके पक्षपात रहित पूर्ण समाधान होने में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं। परन्तु यह समझा तभी जायगा जब यह कार्य विद्वानों की सेवा में उपस्थित होगा।

१०—वैद्यक शास्त्र और इतिहास

जैसा हमने पूर्व कुमारिल भट्ट के तन्त्र वा० पृ० १४७ का लेख—

"तस्माद्ये याज्ञिकैर्येषां वैद्यैर्वार्था निरूपिताः।
तेषां त एव शब्दानामर्था मुख्याः हि नेतरे॥"

अर्थात्—वैद्यक की प्रक्रिया से भी वेद मन्त्रों के अर्थ होते हैं। सो इस विषय में मैं विद्वानों के मनोरञ्जनार्थ एक विचार उपस्थित करता हूँ—

देखिये वैद्यक शास्त्र में सुश्रुत सूत्रस्थान ५ अध्याय में जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओं का वर्णन किया गया है लिखा है—

"एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः।
एता स्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि" ॥२५॥

इसकी टीकमें निम्न लेख है—

यास्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः।...रुद्रो

रोषः। सोमः प्रसादः। वसवः सुखम्। अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहः, तमोमोहः, ज्योतिर्ज्ञानम्.......॥

अर्थात्—लोक में जो इन्द्र है—पुरुष अहङ्कार है। रोष-रुद्र है। सोम नाम है प्रसाद का प्रसन्नता का। वसवः सुख का नाम है। कान्ति का नाम अश्विनौ है। उत्साह का नाम मरुत है। मोह तम है। ज्ञान ही ज्याति है। इत्यादि।

इससे भी स्पष्ट इन्द्र—रुद्र—अश्विनौ आदि व्यक्ति विशेषों के नाम नहीं अपितु शरीर में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं।

११—वैदिक गाड्ज़ (Vedic Gods) और इतिहास

इस नाम की एक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित हुई है जिसके लेखक श्री रेले महाशय हैं। उन्होंने वेदों के मन्त्रों को लेकर उनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अश्विनौ-मरुत आदि शरीर सम्बन्धी भिन्न भिन्न शक्तियाँ तथा नाडी आदि अवयव हैं। जो भिन्न भिन्न कार्य करती हैं। सज्जनों के विनोदार्थ हम कुछ विचार उसके देते हैं—

उक्त ग्रन्थ में क्रमशः लगभग २० देवताओं पर विचार किया गया है—१. त्वष्ट २. ऋभवः ३. सविता ४. अश्विनौ ५. मरुत

६. पर्जन्यः ७. उषा ८. विष्णु ९. रुद्र १०. पूषा ११. सूर्य १२. अग्नि १३. इन्द्र १४. आदित्य १५. बृहस्पति १६. सोम १७. वरुण १८. मित्र १९. आपः

ग्रन्थकार ने इन देवताओं को शरीर में ही घटाने का प्रयास किया है। केवल कल्पना मात्र से नहीं अपितु तत्तद् विषय में ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों का भी प्रमाणत्वेन दिया है। जिससे लेखक की वेद विषय में अच्छी योग्यता प्रतीत होती है। उसमें विभिन्न देवताओं का स्वरूप यों दिया है—

पृ० ७८—पूषा को सैरी बेलम् (छोटा दिमाग़)
,, ९५—इन्द्र को सैरी ब्रम (बड़ा दिमाग़)
,, ५४—मरुतः को क्रेनियल नर्व्ज़ (दिमाग़ की नाड़ियाँ—तन्तु)
,, ५८—पर्जन्य को Reflex Activity बाह्य संस्कारों से प्रतिबिम्बित प्ररेता।
,, ६९—उषा को वेगस नर्व्ज़ (हृद् और श्वास प्रश्वास का केन्द्र)
,, ६७—विष्णु को स्पाइनल काड (रीढ़ की अन्दर की सुषुम्णा)
,, ७५—रुद्र को पौन्ज़ (ज्ञान तन्तुओं का एक Pons समूह)
,, ८३—सूर्य को कार्पस स्ट्राइएटम (प्रेरक मुख्य ज्ञान तन्तु)

„ ८६—अग्नि को थैल्मस (अनुभव करने वाले मुख्य ज्ञान तन्तु समूह)

„ १०५—अदिति को दिमाग़ का एक भाग (मध्यवर्त्ती प्रेरक)

„ ११८—बृहस्पति को Speech center.

यह सब व्याख्या वेद मन्त्रों के आधार पर की है। कैसी उत्तम योजना है। वास्तव में जब तक वेदाङ्ग-उपाङ्ग-आयुर्वेद-धनुर्वेद-अर्थवेद-गान्धर्ववेद इत्यादि में प्रतिपादित शिल्पादि क्रिया-ज्योतिष्-औषध-गानादि का पूर्ण ज्ञान नहीं होता तब तक वेदार्थ बालकों का खेल नहीं है जो पुस्तक उठाई भाष्य रच डाला। वास्तविक वेदार्थ का प्रकाश तभी हो सकेगा जब अङ्गों-उपाङ्गों तथा उपवेदादि का प्रौढ़ता से ज्ञान प्राप्त करने की योजना की जायेगी।

उपर्युक्त Vedic Gods नामक ग्रन्थ आङ्गल भाषा जानने वालों को अवश्य पढ़ना चाहिये। ऐसे ग्रन्थों का आर्य भाषा में भी अनुवाद होना चाहिये। कोई योग्य डाक्टर और वेद विषय को समझने वाले इस पर सम्भवतः अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

१२— स्वामी दयानन्द और ऐतिहासिक पक्ष

ऋषि दयानन्द ने वेद पर अपने अपूर्व ग्रन्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में निम्न प्रकार इस विषय में अपनी धारणा लिखी है—

(१) "एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु

किंच नवीनेषु मिथ्याभूता बह्वयः कथालिखिताः.... तासां...सविता सूर्यः...स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्ताः। अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कार विधायिन्यां निरुक्त ब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्म वैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या यः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्यः।" ऋ० भा० भू० पृ० ३००

पृ० ३०४—जो वह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद-ब्राह्मण और निरुक्त आदि सत्य ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इसको ब्रह्म वैवर्त्त श्रीमद् भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है तथा ऐसी ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान लोग मन से त्याग ये सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

(२) पृ० २०६—"ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रत्नपिताः कथाः पुराणभाषादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीतिभद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः? ॥ एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्॥" पृ० ३०६।

(३) पृ० ३१३—"एवं परमोत्तमायां विद्या-

विज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थं पुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिग्रन्थेषु या मिथ्यैव कथावर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्याः इति।"

(४) पृ० ८६—"अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्ती त्यवगन्तव्यम्। अतो यच्चसायणाचार्यादिभिः वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।"

अतः यहाँ मन्त्र भाग में इतिहास का लेश भी नहीं है ऐसा समझना चाहिये। इसलिये जो सायणाचार्यादिकों ने अपने भाष्यों में जहाँ कहीं इतिहास का वर्णन किया है वह भ्रम के कारण ही है ऐसा जानना चाहिये।

ऋषि दयानन्द की घोषणा कैसे प्रबल शब्दों में है। हमारा उपर्युक्त सम्पूर्ण लेख वस्तुतः ऋषि की इस धारणा की पुष्टि के निमित्त ही लिखा गया है। एक भी शब्द प्रमाण रहित नहीं।

दयानन्द की यह धारणा कितनी सत्य है इसकी साक्षी हमारा ऊपर का सम्पूर्ण लेख दे रहा है। अधिक क्या ?

निरुक्त और आर्यसमाज

इस शीर्षक से हम जो अपने लेख के प्रथम भाग में लिख चुके हैं कि श्रद्धेय श्रा० पं० शिवशङ्करजी काव्यतीर्थ ने निरुक्त के विषय में जो धारणा लिखी (पृ० ८३) कि " . नहीं कह सकता कि यास्काचार्य के समान विद्वान् प्रामाणिक ग्रन्थों (ब्राह्मणों को छोड़ क्यों वेदों पर कलंक लगा गये ।" इस धारणा का परित्याग हो जाना चाहिये । इसमें मैं सब प्रमाण विस्तार से दे चुका हूँ । ऋषि दयानन्दजी महाराज का लेख भी उद्धृत कर चुका हूँ । स्पष्टार्थ पुनः लिखता हूँ ।

ऋग्वेदादि भा० भू० पृ० ३०० पर लिखा है—

"अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्त ब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्या ।"

अर्थात्—निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपकालङ्कार से परमोत्तम कथाओं की व्याख्या है। इस लेख से स्वामी दयानन्दजी महाराज निरुक्त में आई हुई कथाओं को रूपकालङ्कार युक्त मानते हैं।

ऋषि के इस लेख तथा उपर्युक्त सब प्रमाणों से यास्क का निरुक्त हेय है, इस धारणा का हमें परित्याग ही कर देना होगा ।

सायणाचार्य तथा ऐतिहासिक पक्ष

हमें बहुत यत्न करने पर भी सायणाचार्य के भाष्य में स्कन्द स्वामी की ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्वरूप दृष्टिगत नहीं हुआ । हमें अत्यन्त आश्चर्य होता है कि सायणाचार्य ने अपने से पूर्ववर्त्ती महाविद्वान् आचार्य स्कन्द स्वमामी भट्ट भास्कर-उद्गीथ-वेंकट माधव-आत्मानन्द तथा अन्य अनेक आचार्यों का उल्लेख तक नहीं किया । उनके समय ये सब आचार्य सर्वथा अज्ञात अवस्था में हों यह बात साधारण बुद्धि भी नहीं मान सकती । उसने केवल माधव का नाम ही लिखा है । इससे सायणाचार्य के भाव की क्षुद्रता प्रतिभासित होती है या नहीं यह विद्वान् स्वयं विचार सकते हैं । हम कह सकते हैं यदि वह अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की परम्परा गत इन प्रक्रियाओं को लेकर भाष्य करते तो संसार में वेदार्थ के विषय में इतना अन्धकार न होता ।

जिन लोगों को सायणाचार्य ही वेद के अपूर्व विद्वान् दृष्टिगत होते हैं । उनका भाष्य ही सुसङ्गत-सुसम्बद्ध और सोपपन्न जान पड़ता है वह किञ्चित् चक्षु खोल कर इस विषय में देखें कि इनसे पूर्वाचार्यों ने वेदार्थ को कहाँ तक व्यक्त किया है ।

वेद को ऐतिहासिक प्रक्रिया सायणाचार्य की समझ में ही नहीं आई यही विवशतः कहना पड़ता है। यदि समझ में आई होती तो वह अवश्य इसका व्याख्यान करते।

यास्क के अनेकवाद

यह बात तो सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे कि यास्क ने अपने निरुक्त में अनेकवादों का उल्लेख किया है। जो निम्न प्रकार है—

१—आध्यात्मम्	लगभग १०-१२ स्थलों में
२—आधिदैवतम्	,, ,, ,,
३—आख्यान समय }	,, १९ स्थलों में
४—ऐतिहासिकाः }	
५—नैदानाः	
६—नैरुक्त पक्ष	२० स्थलों पर
७—परिव्राजक मत	१ स्थल पर
८—पूर्वे याज्ञिकाः	१ ,, ,,
९—याज्ञिकः	८ स्थलों पर

ऐतिहासिक-नैदान और आख्यान समय इन तीनों पर (जो वास्तव में अति स्वल्प भेद होते हुए एक ही पक्ष है) पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। परिव्राजक और अध्यात्म लगभग एक ही है। इनकी तथा नैरुक्त पक्षों की व्याख्या उन्हीं वादों से हो जाती है। अर्थात् प्रवक्तृभेद से दर्शन भेद होता है। इस विषय

की बहुत सामग्री अनेक आचार्यों के मत से दर्शा दी गइ है। मन्त्रों के आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधियाज्ञिक भी अर्थ होते हैं। इस विषय को अनेक साक्षियाँ ऊपर दी गई हैं। इन सब वादों में वेद मन्त्रो के अर्थ होते हैं यह सब वैदिक धर्मियों को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं।

निरुक्त के शेष ऐतिहासिक पक्ष

ऐसे ऐतिहासिक स्थल जिनकी योजना इन पूर्वोक्त स्कन्द तथा दुर्ग आदि आचार्यों ने नहीं दर्शाई उनको हम क्रमशः पृथक् निबन्ध द्वारा दिखाने की इच्छा रखते हैं। अवकाश तथा समुपयुक्त सामग्री प्राप्त होने पर (जिसमें बहुत सी हो चुकी है) हम सम्पूर्ण निरुक्त पर ही विचार उपस्थित करना चाहते हैं।

"ईश्वराधीनं सर्वम्" प्रभु की कृपा से ही ऐसे माहान् कार्य पूरे हो सकते हैं। अतः वह 'बलदा' परमात्मा बलप्रदान करें, जिससे ऋषियों के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हुये प्रभु की पतित-पावनी वेदवाणी का सत्यस्वरूप संसार में विस्तार हो। यही उस प्रभुः से पुनः पुनः प्रार्थना है।

उपसंहार

उपर्युक्त प्रकरण में हमने निम्न बातें स्पष्ट करने को यत्न किया है—

निरुक्त में अनेक स्थलों पर यास्क ने ऐतिहासिक पक्ष दिखाया है, पर वह सब उपमार्थ-ऋषियों की आख्यान कहने की प्रीति से है। ब्राह्मणों में विश्वामित्र-जमदग्नि वसिष्ठादि शब्द जड़ पदार्थों-प्राण आदि के लिये स्पष्ट कहे गये हैं। निरुक्त के पीछे प्राचीन नैरुक्त आचार्य वररुचि ने—**"औपचारि को मन्त्रेऽव्याख्यान समय इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।"**

मन्त्रों में आख्यान-इतिहास औपचारिक है यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है। यह घोषणा स्पष्ट शब्दों में की है। इस स्पष्ट घोषणा के इन्हीं शब्दों को वर्तमान उपलब्ध वेद भाष्य कारों में सर्वतः प्रथम आचार्य स्कन्दस्वामी ने खुले शब्दों में घोषित किया और एक प्रकार से अपने निरुक्त भाष्य में इसी घोषणा-धारणा का सर्वत्र अवलम्बन कर इतिहास की लुप्त प्रक्रिया को संसार में पुनः जीवित कर दिया जिसके लिये हमें उसका अति कृतज्ञ होना चाहिये।

दुर्ग ने भी इसी औपचारिक प्रक्रिया का अनेक स्थलों में परिपालन किया। इन दोनों आचार्यों के अनेक प्रमाण दर्शाये गये। जिन से किसी को भी निरुक्तकार वेद में इतिहास मानता है इस विषय का सन्देह नहीं रह जाता है। हाँ, हठधर्मी दूसरी बात है।

अन्तिम निवेदन

हाँ, अन्त में हम एक बात और कह देना आवश्यक समझते हैं कि निरुक्त के सभी स्थल हमने पूर्ण रीति से जगा लिये हैं यह बात नहीं है। हाँ, ऐतिहासिक पक्ष के विषय में हमें कुछ भी सन्देह नहीं। अन्य विषय के कुछ स्थल विचारणीय अवश्य हैं। पर वह वैसे ही हैं जैसे अन्य ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में कहीं कहीं पर विचारणीय स्थल हैं। वह सब भी अन्य आर्ष ग्रन्थों की भाँति धीरे धीरे निःसंशय हो सकेंगे। ऐसी हमें पूरी आशा है।

अब निरुक्त से पूर्व वेदार्थ की क्या व्यवस्था थी? यास्क की वेदार्थ प्रक्रिया का उद्गम स्थान क्या है? निघण्टु, निरुक्त की आवश्यकता ही कैसे हुई? वर्तमान व्याकरण की प्रक्रिया को यास्क ने क्यों ग्रहण नहीं किया? इत्यादि और भी अनेक विचार निरुक्त के विषय में हो सकते हैं। पर मैं ने इन विषयों को अपने प्रकृति विषय में अधिक उपयोगी न समझ कर ही छोड़ दिया है। जिस पर पुनः किसी समय विचार हो सकता है।

(यह दूसरा भाग आर्य-विद्वत्सम्मेलन में जितना पढ़ा गया था उतना उपस्थित है, शेष लगभग १२ पृष्ठ जिसमें अनेक प्राचीन आचार्यों की साक्षी द्वारा इस विषय में अनेक प्रमाण दिये गये थे समयाभाव से लेख सुनाते छोड़ देना पड़ा। आवश्यकता हुई तो पुनः कभी उपस्थित किया जा सकेगा। इस विषय में जिस किसी को कुछ प्रष्टव्य हो वह लेखक से पत्र द्वारा विचार कर सकते हैं—लेखक)

क्या वैदिक ऋषि मन्त्र रचयिता थे ?

[लेखक—ब्रह्मचारी युधिष्ठिर विरजानन्द आश्रय]

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दा ँ सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजुर्वेद ३१।७)

यज्ञेन वाचः पदवीयामायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसन्नवन्ते ॥
(ऋग्वेद १०।७१।३)

सर्गारम्भ में परमकृपालु पिता परमात्मा ने हम मनुष्यों के कल्याणार्थ जहाँ पृथिवी, जल तथा वनस्पति आदि अनेक भोग्य पदार्थ दिये वहां साथ ही व्यवहारार्थ वेदरूपी ज्ञान भी दिया।

वेद शब्द विद ज्ञाने धातु से बना है। 'वेद' शब्द ज्ञान का पर्याय-वाची होते हुए भी केवल ईश्वरीय ज्ञान के लिये ही योगरूढ़ हो गया। वह ईश्वरीय ज्ञान चार मन्त्र संहिताओं में विभक्त है। तदनन्तर भिन्न-भिन्न काल में ऋषियों ने उस ज्ञान का प्रत्यक्ष किया। ऋषियों के हृदयों में योग समाधि द्वारा अवभासित वेदार्थ महाभारत काल तक अविच्छिन्न गुरु परम्परा रूप से चला आया। इतने सुदीर्घकाल में उस वेदार्थ को सुरक्षित रखने के लिये ऋषियों द्वारा वेदव्याख्यान स्वरूप सहस्रों ब्राह्मणादि ग्रन्थ बनाये जा चुके थे वैदिक साहित्य के लिये वह काल अवश्य ही अति उन्नत होगा जिस समय महर्षि पतञ्जलि की "ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते" (महाभाष्य ४।३।१०१) उक्ति चरितार्थ होती होगी।

किन्तु सब दिन एक से नहीं होते "नीचैर्गच्छत्यु परिचदशा चक्रनेमि क्रमेण" कहावत के अनुसार हमारे दुर्भाग्य पारस्परिक वैमनस्य आदि अनेक कारणों से देश की अवनति का आरम्भ हुआ जिसका अन्त न जाने कब होगा। इस काल में वे सहस्रों ग्रन्थ जिनमें सच्चा वेदार्थ निहित था कुछ आर्यों के प्रमाद तथा साम्प्रदायिकता वश तथा कुछ यवनों की धर्मान्धता वश नष्ट हो गये। यद्यपि इस बीच में भी किन्हीं विद्वानों ने वेदार्थ-बोध के लिये कुछ कुछ यत्न भी किया तथापि वैदिकज्योति से अति दूर होने तथा साम्प्रदायिक भावों की प्राबल्यता के कारण शुद्ध वेदार्थ से कोसों दूर रहे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। ऐसी दीन हीन

दशा में प्रभु को अति कृपा से विक्रम की २० वीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने आकर हम लोगों का उद्धार किया तथा वेद से विमुख जनता को वेदार्थ का शुद्धस्वरूप जो कि मध्यकाल में भ्रष्ट हो चुका था पुनः दर्शाया। इतना ही नहीं, अपितु हमें भी वह कसौटी प्रदान की जिससे हम भी वेद का यथार्थ अर्थ करने में सफल हो सकते हैं। आज यदि हम उन्हीं नियमों पर जिन्हें ऋषी ने अपने ग्रन्थों में लिखा है वेदार्थ करने का यत्न करें तो अवश्य ही आशातीत सफलता मिल सकती है। इसमें जो हम इस समय असफल हो रहे हैं उसके दो ही प्रधान कारण हैं। प्रथम—ऋषि के दर्शाये नियमों का उल्लङ्घन कर कल्पित पाश्चात्य नियमों का अथवा उन्हीं मध्यकाल में हुए भाष्याभासों का आश्रय लेना है। द्वितीय—हम लोगों में विद्या तथा तप का अभाव होना। महर्षि यास्क लिखते हैं—

"न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।" (निरुक्त १३।१२)

ऋषि ने स्थान स्थान पर अपने ग्रन्थों में वेद का ईश्वरीय ज्ञान तथा ऋषियों को 'मन्त्रद्रष्टा' लिखा है। यही सिद्धान्त आर्य-समाज का भी है। ऋषि ने स्वपक्ष की सिद्धि तथा परपक्ष के निराकरणार्थ अनेक युक्ति तथा प्रमाण दिये जो कि इस सिद्धान्त को सिद्ध करने में अति प्रबल हैं।

आज इस निबन्ध द्वारा ऋषि के इसी मन्तव्य की पुष्टि करना है कि 'ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही हैं रचयिता नहीं।' यही पक्ष प्राचीन शिष्टजन परिगृहीत है।

पूर्वपक्ष

वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय-ज्ञानरूप नहीं है अपितु साधारण मनुष्यों की कृतिमात्र है; जैसे रामायण महाभारतादि। भेद केवल इतना ही है कि ये ग्रन्थ एक कर्तृक हैं, वेद अनेक कर्तृक। गुरु ग्रन्थ साहब की तरह यह भी भिन्न-भिन्न काल में होने वाले अनेक ऋषियों की प्रार्थनाओं का संग्रह मात्र है। उत्तरकालीन साहित्य ने उन्हीं मन्त्रकर्त्ताओं को आदरार्थ ऋषि की पदवी प्रदान की। कालान्तर में जनता ने इन्हीं मन्त्रकर्त्ता ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा की पदवी प्रदान कर वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास किया जिसे साधारण मनुष्यों ने उसी प्रकार मान लिया। हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि वेदोत्तरकालीन वैदिक तथा लौकिक उभयविध साहित्य से होती है। उनमें से कुछ एक प्रमाण उदाहरण रूप में उपस्थित करते हैं—

(१) देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः तेह पाप्मानं नाप जघ्निरे। तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्॥ (ऐ० ब्रा० ६।१)

(२) शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्र-

कृदासीत् । स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत् ॥ (तां० ब्रा० १३।३।२४)

(३) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुर्माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम् ॥ (तैत्ति० आ० ४।१।१)

(४) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ॥
(शाङ्खा० आ० ७।१)

(५) यावन्तो वा मन्त्रकृतः ॥
(कात्या० श्रौ० सू० ३।२।९)

(६) इत ऊर्ध्वान् मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते 'यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीते' इति विज्ञायते ॥ (सत्या० श्रौ० सू० २।१।१३)

(७) दक्षिणात उदंङमुखो मन्त्रकार ॥
(मान० गृ० सू० १।८।२)

(८) श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्व-

सर्षीणां मन्त्रकृतां बभूव ॥ (काठ० गृ० सू० ४१।१३)

(९) कुत्स ऋषिर्भवति। कर्त्तास्तोमानामित्यौपमन्यवः। (निरु० ३।११)

(१०) यस्यवाक्यं स ऋषिः । (सर्वा० परि० प्रक० २।४)

(११) अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्र बुद्धे कुशली गुरुस्ते। (रघुवंश ५।४)

इन उपर्युक्त प्रमाणों में स्पष्ट ही ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि जिस-जिस मन्त्र पर जिस-जिस ऋषि का नाम लिखा है वही उस उस मन्त्र का रचयिता है जैसा कि कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी के परिभाषा प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है। "यस्यवाक्यं स ऋषिः" अर्थात् जिसका बनाया जो मन्त्र है वही उस मन्त्र का ऋषि है। अतः वेद को अपौरुषेय मानना निराधार एवं अन्ध परम्परा मात्र है।

उत्तरपक्ष

उपर्युक्त पूर्वपक्ष के प्रमाणों में जो 'मन्त्रकृत्' आदि पद आये हैं वे ही पूर्वपक्षी के मतानुसार वेद को ऋषी प्रणीत सिद्ध करने

में सबसे अधिक साधक हैं। 'मन्त्रकृत्' शब्द का क्या अर्थ है इस का प्रयोग ऋषियों के लिये क्यों किया गया इसको विवेचना हम आगे चलकर करेंगे। हम पहिले कुछ एसे हेतु तथा ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करेंगे जिनसे यह अनायास ही सिद्ध हो जायगा कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं माने जा सकते।

प्रथम पूर्वपक्षी के इस कथन की 'जिस-जिस मन्त्र पर जिस-जिस ऋषि का नाम लिखा है, वही उस-उस मन्त्र का रचयिता है।" कसौटी पर रगड़कर परीक्षा करते हैं और यह दिखावेंगे कि यह कथन सर्वथा भ्रममूलक है।

प्रथम हेतु

(क) दो चार छः मनुष्यों ने सामान विषयक सर्वथा समानाक्षरों में कोई रचना की हो इसका उदाहरण संसार की किसी भाषा में नहीं मिलता। विषय एक होते हुए भी रचना-शैली में भेद होना अनिवार्य है किन्तु वेद में ऐसे अनेकों सूक्त हैं जिनके दो से लेकर सौ तक ऋषि हैं। यथा—

(१) कुमारं कुमारो वृशो जान वा उभौ वा शक्रूयन्तं कंवीत्यृचोऽस्तु वृश एव। (सर्वा० ५।२)

(२) एते कुमार आग्नेयोऽपश्यद्वसिष्ठ एव वा वृष्टिकामः। (सर्वा० ७।१०१-१०२)

(३) बभ्रुर्दश कश्यपो वा मरीचो वा द्वैपदम् ॥ (सर्वा० ८।२९)

(४) पान्तं त्रयस्त्रिंशच्छ्रुतकक्षः सुकक्षो वाद्यानुष्टुप् ॥ (सर्वा० ८।९२)

(५) गौर्धयति द्वादश बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ (सर्वा० ८।९४)

(६) समद्धि एकादश काश्यपो वाऽसितो देवलो वा........॥ (सर्वा० ९।५)

(७) अनस्वन्ता षट् त्रैवृष्णपौरुकुत्स्यौ द्वौ त्र्यरुणत्रसदस्यू राजानौ भारतश्चाश्वमेधोऽन्त्यास्तिस्रोऽनुष्टुभो नात्मात्मने दद्यादिति सर्वास्वत्रिं केचिदन्त्यैन्द्राग्नी ॥ (सर्वा० ५।२७)

(८) स यो वृषैकोना वार्षगिरा ऋजिश्वाम्बरीषसहदेवभयमानसुरासः ॥ (सर्वा० १।१००)

(९) तं प्रत्नथा पञ्चोना काश्यपोऽवत्सारोऽन्ये च ऋषयोऽत्र दृष्टलिंगा द्वित्रिष्टुबन्तम् ॥ (सर्वा० ५।४४)

तं प्रत्नथेति सूक्तेऽस्मिन्नवत्सारो हि काश्यपः ।
अन्यैश्च दशभिः साकमृषिरित्यवगम्यताम् ॥
सदापृणो यजतश्च बाहुवृक्तः सुतम्भरः ।
श्रुतवित्तर्यनामा च एवावदो मनसः ॥
क्षत्रसध्री इमे चान्ये दृष्टलिङ्गा हि सूक्तके ॥
(अर्वानु० ५।२०–२३)

(१०) त्यन्नुसैकामत्स्यः साम्मदो मैत्रावरुणिर्मान्यो वा वहवो वा मत्स्या जालनद्धा आदित्यानस्तुवन् ॥ (सर्वा० ८।६७)

(११) पवस्वशतं वैखानसा अष्टादश्यष्टुप्परास्तिस्रः आग्नेय्यः ॥ (सर्वा० ९।६६)

असिद्धगोत्रास्तु पवस्वसूक्तं वैखानसा नाम शतं विदुस्ते ॥(आर्षानु० ९।१६)

ये उदाहरणार्थ ऋग्वेद के थोड़े स्थल उद्धृत किये हैं । इनसे स्पष्ट होता है कि ऋषि मन्त्र रचयिता नहीं हो सकते ।

(पूर्वपक्षी) इन उपर्युक्त प्रमाणों से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि कई ऋषियों ने मिलकर कोई मन्त्र बनाया हो अपितु जहाँ कात्यायन को ऋषि नाम में सन्देह हुआ । वहाँ २।४।६ के नाम लिखकर वा शब्द लिख दिया, इससे यह भी प्रतीति होता

है कि सर्वानुक्रमणीकार के काल तक निश्चित परम्परा टूट गई थी। ऐसी अवस्था में एक सूक्त विषयक कई नाम लिखना कुछ भी अर्थ नहीं रखता।

(सिद्धान्ती) अपनी इष्ट सिद्धि में बाधा देखकर झट कल्पना कर लेना कि कात्यायनादि के काल तक ऐतिहासिक परम्परा टूट गई थी सर्वथा अयुक्त है। हमारा यह निश्चय है कि उस काल तक ऐतिहासिक शृङ्खला अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी। अतः नामों में किसी प्रकार का भी संदेह न होते हुए जो अनेक नाम लिखते हैं, वह हमारे पक्ष का ही पोषक है। इसमें एक स्पष्ट प्रमाण भी देते हैं। यास्कीय निरुक्त जिससे सर्वानुक्रमणीकार के आचार्य शौनक* को अच्छा परिचय था‡। वह अवश्य ही कात्यायन जैसे विद्वान् के पास होगा। तथा च जिन ग्रन्थों के आधार पर कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी बनाई उनमें से बृहद्देवता में भी यास्क का मत स्थान स्थान उपलब्ध होता है। लिखा† है, "त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ" (निरुक्त ४।६) अर्थात् कुए में पड़े

(*) ननु च एक हि शौनकाचार्य्यं शिष्यो भगवान् कात्यायनः कथं बहुवचनम् ॥ वेदार्थ दीपिका।

(‡) देखो बृहद्देवता २।११२ ॥ इत्यादि ॥

(†) जो यास्क के मत निरुक्त में नहीं मिलते वह यास्कीय तैत्तिरीयसर्वानुक्रमणी में मिलेंगे। देखो—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ २०४।

हुए त्रित को यह (ऋ० १।१७५) सूक्त प्रतिभासित हुआ था। इसी तरह बृहद्देवता में भी अ० ३ श्लोक १३२ से १३६ तक लिखा है। जब निरुक्त तथा बृहद्देवता द्वारा कात्यायन को यह निश्चित मालूम था कि इस सूक्त का रचयिता त्रित ही है। पुनः निश्चित होते हुए "चन्द्रमा एकोनाप्त्यस्त्रितो वा ···" वा शब्द का प्रयोग करना क्या हमारे मन्तव्य का पोषक नहीं ? अर्थात् जहाँ जहाँ कात्यायन ने वा शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ सन्देह से नहीं अपितु निश्चित ज्ञान से ही किया है। अतः वा शब्द का अर्थ विकल्प करना उचित नहीं। वा शब्द केवल विकल्पार्थक ही नहीं अपितु समुच्चयार्थक भी है। यथा –

(१) निरुक्त १।४ "अथापि समुच्चयार्थे भवति वायुर्वात्वा मनुर्वात्वा।"

(२) वैजयन्ती कोश पृ० २८४—

निषेधे पृथग्भावे वा विकल्पोपमानयोः।
समुच्चये चैव पापे च वाक्यारम्भप्रसिद्ध्योः॥ इत्यादि

कात्यायन मुनि ने वा शब्द का अन्य भी प्रयोजन लिखा है— "ऋषिश्चान्यस्मादृषेरत्वाशिष्टः" (सर्वा० परि० प्रा० १२।२) यह सर्वानुक्रमणी के परिभाषा प्रकरण का सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है—जहाँ तक अगले सूत्र में ऋषि का नाम न आवे वहाँ तक पूर्व ऋषि नाम की अनुवृत्ति जाती है। परन्तु वा शब्द विशिष्ट

ऋषि नाम की अनुवृत्ति आगे नहींजाती*। अर्थात् पूर्वानुवृत्त ऋषि नाम के साथ में वा शब्द विशिष्ट ऋषि नाम का समुच्चय होता है। यथा—'आप्त्यस्त्रितो वा' (सर्वा० १।१०५) इसमें वा शब्द विशिष्ट त्रित शब्द है। अतः इसकी अनुवृत्ति 'इन्द्रं मित्रं' (सर्वा० १।१०६) इत्यादि सूत्रों में नहीं जाती अपितु पूर्वानुवृत्ति कुत्स की ही अनुवृत्ति अगले सूत्रों में जाती है किन्तु 'आप्त्यस्त्रितो वा' इस सूत्र में पूर्वानुवृत्ति कुत्स के साथ त्रित का समुच्चय ही होता है, विकल्प नहीं। यदि इतने पर भी किसी को सन्तोष न हो तो वह ऋग्वेद ३।२३; ५।२७; ८।२; ९।९८ का अनुक्रमणी देखे वहाँ कात्यायन के वचन निम्न प्रकार हैं—

(१) निर्मथितौ देवश्रवादेववातश्चभारतौ······॥

(२) ······त्रैवृष्ण पौरुकुत्स्यौ द्वौ त्र्यरुण-त्रसदस्यू राजानौ भारतश्चाश्वमेधः······॥

(३) इदं वसो द्विचत्वारिंशन्मेधातिथिराङ्गि-रसश्च प्रियमेधः······॥

(४) अभिनोद्वादशाम्बरीष ऋजिश्वा च···॥

---

* तुलना करो—"चानुकृष्टं नोत्तरत्र" इस व्याकरण शास्त्रीय परिभाषा के साथ॥

यहाँ निश्चय ही 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। अर्थानुक्रमणी में ऋ० १।९८ के सम्बन्ध में और भी स्पष्ट लिखा है—

अम्बरीषोऽभिनः सूक्ते मानधातृतनयस्तथा।
भारद्वाज ऋजिष्वा च तावेतौसहितावृषी॥
(आर्षा० १।३८)

उक्त श्लोक में शौनक ने 'तावेतौ सहितावृषी पदों द्वारा 'च' शब्द के समुच्चयार्थकत्व में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहने दिया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जहाँ जहाँ कात्यानन ने वा शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ वहाँ पूर्वानुवृत्त ऋषि के साथ वा विशिष्ट ऋषि नाम का समुच्चय होता है। तथा अनेक ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ कात्यायन की अनुक्रमणी में 'च' शब्द का प्रयोग मिलता है जो कि हमारे मन्तव्य का ही साधक है। यथा—

(१) पान्तं त्रयस्त्रिंशच्छ्रुतकक्षः सुकक्षो वा॥ (सर्वा० ८।९२)

श्रुतकक्षः मुकक्षश्च तावप्यङ्गिरसः सुतौ।
पान्त मा वा इति त्वस्य तावृषी अवगम्यताम्॥
(आर्वा० ८।४०)

(२) चन्द्रमा सूक्तमाद्यं च त्रितं प्रतिवभा-वृषिम्॥ (वेदार्थ दीपिका पृ० ९२)

इससे भी यही सिद्ध हुआ कि कात्यायन का 'वा' शब्द तथा शौनक 'च' शब्द दोनों एकार्थ के ही बोधक हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'एक सूक्त के अनेक ऋषि हैं।'

(पूर्वपक्षी) उपर समस्त प्रमाण सूक्त विषयक दिये हैं। सम्भव है उन सूक्तों में कुछ मन्त्र किसी एक ने बनाये हों, कुछ अन्य ने। किन्तु सर्वानुक्रमणीकार ने सब का नाम मिलाकर ही लिख दिये हों। अतः इतने मात्र से ऋषियों का मन्त्रकर्तृत्व नहीं हट सकता।

(सिद्धान्ती) यदि पूर्वपक्षी किसी प्रकार भी यह सिद्ध कर देवे कि अमुक सूक्त के इतने मन्त्र किसी एक ने बनाये तथा इतने अन्य ने किन्तु कात्यायनादि ने सब का नाम समान रूप से एक सूक्त में लिख दिया तब तो ठीक है अन्यथा ऐसा अभियोग लगना सर्वथा अनुचित है। अभ्युपगमवाद से तुम्हारा कथन स्वीकार भी कर लें तो, "पवस्व शतं वैखानसाः......" (सर्वा०

❀ आर्षानुक्रमणी का यह पाठ सर्वानुक्रमणी के टीकाकार षड्गुरुशिष्य ने पृ० ९२ पर उद्धृत किया है। कलकत्ता मुद्रित आर्षानुक्रमणी में इस प्रकार पाठ है—"चन्द्रमा इति सूक्तस्य त्रित आद्योऽथवा ऋषिः॥ पृष्ठ २४३

९।६६) अर्थात् पवस्व प्रतीक वाले सूक्त के १०० वैखानसं ऋषि हैं, कि क्या गति होगी क्योंकि इस सूक्त में केवल ३० ही मन्त्र हैं। इसलिये इसका यही अर्थ करना पड़ेगा कि इस सूक्त को १०० ऋषियों ने देखा। इतना ही नहीं अपितु जहाँ किसी सूक्त को कई ऋषियों ने मिलाकर देखा, वहाँ अनुक्रमणीकार ने स्पष्ट पृथक् पृथक् निर्देश कर दिया। अर्थात् इस सूक्त के इतने मन्त्र अमुक ने देखे इतने अमुक ने। यथा—

(१) इन्द्रमिच्छ षड्नाग्निश्चाक्षुषश्चक्षुर्मानवोमनुराप्सवः इति तृचाः पञ्चाग्निः॥ (सर्वा० ९।१०६)

अर्थात्—'इन्द्रमिच्छ' प्रतीक वाले सूक्त में १४ मन्त्र हैं। उनमें से यथाक्रम चाक्षुष अग्निः, मानव चक्षु, तथा आप्सवमनु ने तीन तीन मन्त्र देखे शेष पाँच मन्त्र अग्नि ने।

(२) अग्नेत्वं गौपायना वा बन्धुःसुबन्धुः श्रुतबन्धु विप्रबन्धुश्चैकर्चाद्यै पदम्॥ (सर्वा ५।२४)

इस पर टीका करते हुए षड्गुरु शिष्य ने लिखा है:—

"बन्ध्वादयश्चत्वार ऋषियो यथाक्रममेकर्चाः एका ऋगृश्या यस्य स एकर्चः।"

अर्थात् बन्ध्वादि चार ऋषियों ने क्रम से एक २ ऋचा देखी। इस सूक्त में चार मन्त्र है।

(३) उत्तिष्ठत्त्वैकर्चाः शिविरौशीनरः काशिराजः प्रतर्दनो रौहिदश्वो वसुमना आद्यानुष्टुप् ॥ (सर्वा १०।१७९)

(४) प्रथश्चैकर्चाः प्रथोवासिष्ठः सप्रथो भारद्वाजो धर्मः सौर्यो वैश्वदेयम् ॥ (सर्वा० १०।१८१)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त सूक्तों को (जिन पर अनेक ऋषिषों के नाम लिखे हैं) अनेक ऋषियों ने मिल कर भी नहीं बनाया। इस लिये यह मानना पड़ेगा कि वे सब ऋषि सम्पूर्ण सूक्त के हैं, एक २ भाग के नहीं।

(ख) चारों वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जो प्रयोजन वश कई बार आये हैं। यदि पूर्व पक्षी के कथनानुसार वेद ऋषियों की कृतियों का संग्रह मात्र होता तो सर्वत्र तत् २ मन्त्र का ऋषि भी समान ही होता किन्तु स्पष्ट ही उन मन्त्रों के भिन्न २ ऋषि हैं। यथा :—

(१) अथर्ववेद १।४।१-३ सिन्धुद्वीप	ऋग्वेद १।२३।१६--१८ मेधातिथि काण्व
(२) ” १।५।१-४, १।६।१-३ ”	” १०।९।१-७ त्रिशिरा तथा सिन्धुद्वीप।

	सातवें मन्त्र का ऋ० १।२३।२१ में मेधातिथि है।
(३) ” १।२०।४ अथर्वा	” १०।१५१।१ शास (भारद्वाज)
(४) ” १।२१।१-४ ”	” १०।१५२।२-५ ”
(५) ” २।३३।१,२,५ ”	” १०।१६३।१,२,४ विवृहा काश्यप
(६) ” ४।१५।१३ ”	” ७।१०३।१ वसिष्ठ
(७) ऋग्वेद १।१३९।११ परुच्छेप	यजुर्वेद ७।१९ वत्सार काश्यप
(८) ” १।११५।१ कुत्स	” १३।४६ विरूप
(९) ” १।२२।१६ मेधातिथि	” १३।३३ गोतम
(१०) ” १।१३।१९ ”	ऋग्वेद ५।५।८ वसुश्रुत
(११) ” १।२३।२१-२३ ”	” १०।९।७-९ त्रिशिरा, तथा सिन्धु-द्वीप

[नोट—इस तालिका में अजमेर मुद्रित ऋग्वेद तथा सभाष्य यजुर्वेद प्रमाणत्वेन ग्रहण किया है]

यद्यपि इस तरह के बहुत से प्रमाग दिये जा सकते हैं तथापि यहाँ थोड़े से उदाहरण मात्र लिखे हैं। पूर्व पक्षी के पास इस दोष का कोई समाधान नहीं। अतः अन्त में यही मानना पड़ेगा कि

ये ऋषिगण मन्त्रों के रचयिता नहीं अपितु द्रष्टा मात्र हैं। बस यही एक मात्र इस दोष का समाधान हो सकता है।

द्वितीय हेतु

ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानने में यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि जिसका रचयिता कोई ऋषि है वह मन्त्र रचना समय से पूर्व विद्यमान नहीं था। यदि किसी प्रकार पूर्व पक्षी के मतानुसार जो मन्त्र रचना काल है उससे पूर्व वे मन्त्र विद्यमान थे यह सिद्ध हो जावे तो सारा का सारा मन्त्रकर्तृत्व वाद तथा तदाश्रित अनित्यैतिहासिक वाद धूल में मिल जावेगा। अब यह विचारना शेष है कि क्या जो मन्त्र रचयिता माने जाते हैं उन से पूर्व मन्त्र विद्यमान थे या नहीं। हम कहेंगे अवश्य थे। अब हम इस विषय में कुछ ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करते हैं। एतद् विषयक कुछ प्रमाण श्री पं० भगवद्दत्त जी ने अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान नामक ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं। पाठक वृन्द उन्हें वहीं देखें। हम यहाँ उन से भिन्न प्रमाण उपस्थित करते हैं।

(१) ऋग्वेद मण्डल १ म सूक्त २४ वें की अति प्रसिद्ध ऋचा "कस्यनूनं कतमस्यामृतानाम्" का ऋषि सर्वानुक्रमणी में इस प्रकार लिखा है—"कस्य पञ्चोनाजीगर्त्तिः शुनः शेपः स कृत्रिमो देवरातो ... ..." अर्थात् 'कस्यनूनं' इस १५ मन्त्र वाले सूक्त का अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि है वह विश्वामित्र का देवरात नामक कृत्रिम

पुत्र था……। ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप की कथा इस प्रकार लिखी है।

सो (रोहितो) ऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय। तस्यह त्रयः पुत्रा आसुः शुनःपुच्छ शुनःशेप शुनोलांगूल इति तंहोवाच ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यहमेषामेकेनाऽऽत्मानं निष्क्रीणा इति सज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच नन्विममिति नो एवेममिति कनिष्ठं माता तौह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतुः शुनःशेपे तस्यह शतं दत्वा स तमादाय सोऽरण्याद्ग्राममेयाय……। तस्यह विश्वामित्रो होताऽऽसीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्माऽयास्य उद्गाता तस्मा उपकृताय नियोक्तारं न विविदुःसहोवाचाऽजीगर्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं नियोक्ष्यामि इति तस्मा अपरं शतं ददुस्तं स निनियोज तस्मा उपकृतायऽऽप्रीताय पर्यग्निकृताय विशसितारं न विविदुः सहोवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं विशसिष्यामि इति तस्मा अपरं शतं ददुः सोऽसिं निःशान एयाय। अथह शुनःशेप ईक्षाञ्चक्रेऽमानुषमिव वै मा विशसिष्यन्ति हन्ताहं देवता उपधावामीति स प्रजापतिमेव प्रथम

देवतानामुपससार 'कस्यनूनं कतमस्यामृतानाम्' इत्येतयर्चया ॥ (ऐत० ब्रा० ३३।३,४)

इस सम्पूर्ण कथा का सारांश यह है—हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहिताश्व जङ्गल में क्षुधा से पीड़ित सुयवस के पुत्र अजीगर्त ऋषि के पास गया। अजीगर्त के शुनः पुच्छ शुनः शेप शुनो लांगूल नामक तीन पुत्र थे। रोहित ने ऋषि से कहा कि एक लड़के को १०० सौ गायों के बदले दे दो। बड़े पुत्र के लिये पिता ने मना कर दिया छोटे के लिये माता ने। अतः मध्यम लड़के (शुनःशेप) को उन दोनों ने रोहित के हाथ बेच दिया। हरिश्चन्द्र के यज्ञ में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा, और अयास्य उद्गाता थे। जब शुनःशेप को यूप में बांधने का समय आया तब बांधने वाला कोई पुरुष नहीं मिला ऐसी अवस्था में अजीगर्त ने कहा कि मुझे १०० गौवें और दी जावें तो मैं बाँधता हूँ तदनन्तर जब मारने का समय आया तब भी किसी अन्य के न मिलने पर अजीगर्त ने ही १०० सौ गौवों के बदले मारना स्वीकार कर लिया। इस समय शुनःशेप ने विचारा कि मुझे ये पशु की तरह मारेंगे इस लिये देवताओं की शरण जाता हूँ। उसने देवों में प्रधान प्रजापति की 'कस्यनूनं' ऋचा द्वारा रक्षा की प्रार्थना की·· इत्यादि। इसी प्रकार की कथा षड्गुरु शिष्य ने भी वेदार्थ दीपिका में लिखी है। [सर्वा० टी० पृ० ८४—८६]

[नोट—इस प्रकरण में हम अन्य भी इसी प्रकार की कथाएँ

उद्धृत करेंगे। जिनका अभिप्राय प्रकृत विषय में पूर्व पक्षी के मतानुसार वास्तविक घटना मान कर उस २ घटना से पूर्व मन्त्र की सत्ता का सिद्ध कराना है। इन कथाओं का वास्तविक स्वरूप क्या है ? क्या वैदिक ऋषिगण ऐसा घृणित कार्य करने को उद्यत रहते थे ? आदि का विवेचन यहाँ नहीं किया जावेगा क्योंकि यह इस निबन्ध का विषय नहीं है। इस विषय के लिये एक स्वतन्त्र वृहदाकार निबन्ध की आवश्यकता है। इसी प्रकार की बहुत सी कथाओं की अत्युत्तम सङ्गति आर्य समाज के प्रमुख विद्वान् स्वर्गीय श्री पूज्य पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' में लगाई है जो प्रत्येक वेद प्रेमी को देखने योग्य है।]

इस कथा से निम्न परिणाम निकलते हैं —

(१) अजीगर्त किसी दुर्भिक्ष के समय जङ्गल में क्षुधा से पीड़ित था।

(२) उसके पिता का नाम सुयवस था।

(३) उसके शुनःपुच्छ शुनःशेप शुनोलाँगूल नाम वाले तीन पुत्र थे।

(४) अजीगर्त को हरिश्चन्द्र के यज्ञ में कुल मिलाकर ३०० गायें मिली थीं।

(५) जब मारने का समय आया तब शुनःशेप ने 'कास्यनूनं'

इस मन्त्र द्वारा प्रथम देवों में प्रधान प्रजापति की प्रार्थना की थी। इत्यादि।

इसी मन्त्र की व्याख्या करते हुए वररुचि ने (जिस का समय न्यूनातिन्यून विक्रम की ७ वीं शताब्दि है*) अपने निरुक्त समुच्चय ग्रन्थ में लिखा है—

अस्याः तावदाख्यानं प्रस्तूयते—अजीगर्तो नाम ब्रह्मर्षि सुवचस्य (?) सूनुः पुत्रदारसहितो दुर्भिक्ष क्षुधयापीड्यमानो निरतिशय तपो महाभाग्ययुक्तः प्राधान्यात् प्रजापतिमेव देवानां मध्ये प्रथमं प्रार्थयते 'कस्यनूनम्' इति। (निरु० समु० हस्तलेख पृ० १५७)

अर्थात्—इस मन्त्र का पहिले आख्यान (इतिहास) लिखते हैं—अजीगर्त नाम वाला ब्रह्मर्षि सुवच (?) का पुत्र स्त्री पुत्र सहित दुर्भिक्ष में क्षुधा से पीड़ित अतिशय तप तथा महाभाग्य वाला देवों में प्रथम प्रजापति की प्रार्थना करता है 'कस्यनूनम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा।

---

* अधिक सम्भव है कि वररुचि अति प्राचीन ग्रन्थकार हो किन्तु हम अभी यही निर्णय कर सके हैं। हमें यह ग्रन्थरत्न श्री माननीय पं० भगवद्दत्त जी अध्यक्ष अनुसन्धान विभाग डी० ए० वी० कालेज पुस्तकालय की महती कृपा से प्रतिलिपि करने के लिये मिला इसके लिए हम कृतज्ञ हैं।

इस कथा से भी निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) अजीगर्त्त दुर्भिक्ष के समय क्षुधा से पीड़ित था।

(२) अजीगर्त्त के पिता का नाम सुवच (?) था।

(३) उसने प्राण रक्षा के लिए देवों में प्रधान देव प्रजापति की 'कस्यनूनम्' मन्त्र द्वारा प्रार्थना की थी।

[नोट—निरुक्त समुच्चय में अजीगर्त के पिता का नाम सुवच लिखा है। सम्भव है यहाँ सुयवस ही हो जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में है यह हस्तलेख अति अशुद्ध तथा स्थान २ पर खण्डित है अतः यहाँ लेखक दोष से ही सुयवस में यकार का लोप तथा सकार के स्थान पर चकार हो गया हो।]

निरुक्त समुच्चय के इस लेख को हम कल्पित भी नहीं कह सकते। वररुचि नैरुक्त सम्प्रदाय का प्रमाणिक पुरुष हो चुका है इसकी प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि उस के ग्रन्थ को ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी अपने निरुक्त भाष्य में उद्धृत करता है [१]।

---

(१) तुलना करो—नैरुक्त पक्षेतु पुरुखा मध्यमस्थानः वाय्वादीना मेक (त्वात् ? तमः) पुरुरौतीति पुरुरवा उर्वशी विद्युत्……। (निरु० समु० हस्तलेख पृ० १४१)

अत्र च नित्यपक्षे केचित् उर्वशी विद्युत् वायुः पुरुरवा इतिमन्यन्ते… (स्कन्द स्वामी निरुक्त भाष्य भा० २ पृ० ३४३)

इस विषय में जो अधिक देखना चाहें वे 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भा० १ खं० २ पृ० २३५—४४ तक देखें।

इन दोनों आख्यानों की तुलना करने पर यह सहजतया जाना जा सकता हैं कि एक ही 'कस्यनूनं' ऋचा द्वारा दोनों बाप बेटों ने ही भिन्न भिन्न काल में रक्षा के लिये प्रजापति की प्रार्थना की थी। उपर्युक्त मन्त्र शुनःशेप के पिता अजीगर्त के समय उपस्थित ही नहीं था अपितु उसके द्वारा उसने प्राण रक्षार्थ परमेश्वर की प्रार्थना भी की थी पुनः इस मन्त्र को शुनःशेप द्वारा हरिश्चन्द्र के योग में निर्मित मानना अज्ञानता नहीं तो और क्या है।

(पूर्वपक्षी) शुनःशेप ने जब इस मन्त्र को बना लिया होगा तदनन्तर अजीगर्त ने इसी के द्वारा प्रार्थना की होगी।

(सिद्धान्ती) यह कहना केवल दुराग्रह मात्र है। जब यह स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मणानुसार शुनःशेप ने हरिश्चन्द्र के योग में प्रार्थना की थी बस पूर्वपक्ष में यही काल मन्त्र के बनाने का भी मानना पड़ेगा किन्तु निरुक्तसमुच्च के पाठ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अजीगर्त ने हरिश्चन्द्र के यज्ञ से पूर्व ही इसी मन्त्र द्वारा प्रजापति की प्रार्थना की थी। अजीगर्त का हरिश्चन्द्र के यागानन्तर प्रार्थना करना यों भी नहीं बन सकता क्यों कि उसे उस यज्ञ में सब मिलाकर ३०० सौ गायें मिल चुकी थीं। अतः क्या सिद्ध हुआ कि उक्त मन्त्र तथा तत्सह पठित अन्य मन्त्र पूर्वपक्षानुसार सम्भावित मन्त्र निर्माण काल से पूर्व वर्तमान थे। इसलिये शुनः शेप द्वारा इनका हरिश्चन्द्र के याग में बनाया जाना किसी प्रकार भी नहीं बन सकता। शुनःशेप ने इन्हें यज्ञ से पूर्व ही बनाया हो इसमें न

कोई प्रमाण ही है और ना हो पूर्वपक्षी को यह अभिमत है। इसलिये इन कथाओं से यह सिद्ध हुआ कि यह मन्त्र तथा तत्सम्बन्धी अन्य मन्त्र जिनका ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार शुनः शेप है। उनका कर्त्ता शुनःशेप तथा अजीगर्त में से अन्यतर कोई भी नहीं है। ये सब मन्त्र सृष्टि के आरम्भ काल से इसी रूप में चले आरहे थे कालान्तर में इन्हीं म त्रों द्वारा शुनःशेप तथा अजीगर्त्त दोनों ने ही दुःख निवारणार्थ प्रजापति की प्रार्थना की तथा मन्त्रार्थ का साक्षात् किया। निरुक्त समुच्चयान्तर्गत 'प्रथमं प्रार्थयते' पद विशेष ध्यान देने योग्य है इससे यह अभिव्यक्त हो रहा कि अजीगर्त ने भी अगले मन्त्रों से भी यथा क्रम अग्नि आदि की प्रार्थना की थी। अतः इन मन्त्रों का कर्त्ता कोई ऋषि विशेष नहीं यह सिद्ध हुआ।

(२) ऋग्वेद के तृतीय मण्डलान्तर्गत २२ वें सूक्त "अयं सोऽग्निः" के विषय में तैत्तिरीय संहिता तथा काठक संहिता में लिखा है—

"अयँ सो अग्निरित्येतद्विश्वामित्रस्य सूक्तम्"

(तै० सं० ५।२।३॥ का० सं० २०। १०)

पूर्वपक्षानुसार इस वाक्य का अर्थ होगा 'अयं सो अग्निः' इस प्रतीक वाले सूक्त को विश्वामित्र ने बनाया। किन्तु सर्वानुक्रमणी द्वारा हमें यह मालूम है कि यह सूक्त विश्वामित्र के पिता गाथी (गाधी) के समय भी था। सर्वानुक्रमणी में लिखा है "अयं स

उपान्त्यानुष्टुप्पुरीष्येभ्योऽग्निभ्य" (सर्वा० ३।२२) इस सूत्र में १९ वें सूत्रसे गाथी की अनुवृत्ती आरही है। आर्षानुक्रमणी में भी निम्नप्रकार लिखा है—

अग्निहोतारमारभ्य गाथी नाम स कौशिकः।
सूक्तान्यपश्यच्चत्वारि सूक्ते निर्मथिते परे॥
आर्षा० ३।४

अर्थात्—'अग्निहोतार (ऋ० ३।१९) प्रतीक वाले १९ वें सूक्त से २२ वें सूक्त तक ४ सूक्त गाथी कौशिक ने देखे। यहाँ यह भी स्मरण रहे कि 'सूक्तान्यपश्यत्' में दृश धातु का ही प्रयोग किया है कृञ् का नहीं।

जब इस सूक्त के द्रष्टा विश्वामित्र के पिता गाथी भी हैं तब यह सूक्त विश्वामित्र का बनाया है। ऐसा कहना सरासर मूर्खता है।

(३) ऋग्वेद मं० १० सूक्त ६१।६२ का ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार मनु पुत्र नाभानेदिष्ट है। ६२ वें सूक्त के १० वे मन्त्र में 'यदु' और 'तुर्व' नाम आते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—"उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गो परीणसा। यदुस्तुर्वश्च मामहे" पाश्चात्य मतानुसार ये दो राजा थे। दोनों की परस्पर मित्रता थी। ऋग्वेद में यदु तथा तुर्वश नाम प्रायः साथ २ आते हैं इत्यादि। यहाँ शु शब्द का छान्दस लोप होकर 'तुर्व' शब्द शेष रह गया है। इस मन्त्र का देवता सावर्णि मनु की दानस्तुति है। उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करता

हुआ सायण भी लिखता है—"यदुश्च तुर्वश्च एतन्नामानौ राजर्षी" अब हमें यह विचारना चाहिये कि यदु तथा तुर्वश दोनों राजा किस समय में हुए थे। इसके पता लगते ही सारी ग्रन्थि सुलझ जायगी।

महाभारतानुसार यदु तथा तुर्वशु मनु की छठी पीढ़ी में हुए थे। देखो, महाभारत आदि पर्व अध्याय ९५।

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो
मनुर्मनोरिला इलायाः पुरूरवाः।
पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद्ययाति
र्ययाते र्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥७॥
उशनसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च
दुहिता शर्मिष्ठा नाम।
अत्रानुवंश श्लोको भवति ॥८॥
यदुं च तुर्वसुं चैवदेवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पुरुं च शर्मिष्ठा वार्वपर्वणी ॥९॥

अर्थात्—दक्ष से अदिति, अदित से विवस्वान्, विवस्वान् से मनु, मनु से इला नाम की कन्या, इला से पुरुरवा, पुरुरवा से आयुष्, आयुष् से नहुष, नहुष से ययाति, ययाति की दो स्त्रियाँ थीं एक उशना की लड़की देवयानी, द्वितीय वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा,

देवयानी से यदु तथा तुर्वसु नाम के दो लड़के हुए। शर्मिष्ठा से द्रुह्य अनु तथा पुरु तीन लड़के हुए। पूर्व पक्ष के मतानुसार महाभारतीय तुर्वसु व्यक्ति ही वेद का तुर्वश है।

इला नाभानेदिष्ट की बहन थी। नाभानेदिष्ठ मनु का पुत्र था। देखो महाभारत आदि पर्व अ० ७५, श्लो० १५—१७।

वेनुं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च।
कारुषमथशर्यातिं तथा चैवष्टमामिलाम्॥
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्म परायणम्।
नाभानेदिष्टं दशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते।

अब यहाँ यह विचारणीय है कि मनु की प्रथम पीढ़ी में नाभानेदिष्ट हुआ। उन्होंने ऋग्वेद मं० १० के ६१ तथा ६२ सूक्त बनाये। यदु तथा तुर्वश मनु की छटी पीढ़ी में हुए। नाभानेदिष्ट के काल में उनका नामोनिशान भी न था। पुनः नाभानेदिष्ट ने अपनी रचना में उनके नाम कैसे लिये यदि मन्त्र में मनु की छटी पीढ़ी में होने वाले यदु तुर्वश ही अभिप्रेत हों तो उसका कर्त्ता नाभानेदिष्ट नहीं हो सकता। यदि नाभानेदिष्ट की ही कृति अभिप्रेत हो तो भावी काल में होने वाले यदु तथा तुर्वसु नामक राजाओं का वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में नहीं हो सकता 'उभयतः पाशा रज्जुः" वाली लोकोक्ति चरितार्थ होगी। एक पक्ष अवश्य ही छोड़ना पड़ेगा। इसका वास्तविक समाधान वेद को नित्य माने बिना तीन काल में

भी नहीं हो सकता। उपर्युक्त प्रमाणों से भी यही सिद्ध हुआ की यह कृति नाभानेदिष्ट की नहीं मानी जा सकती। और इस मन्त्र में आये यदु तथा तुर्वश शब्द भी किसी व्यक्ति विशेष के नहीं अपितु मनुष्य मात्र के पर्याय हैं। देखो निघण्टु २।३।......त्रताः। तुर्वशाः। द्रुह्यवः। यदवः। अनवः। पूरवः।......इति पञ्चविंशति मनुष्यनामानि। अतः सायण का भी 'यदुश्च तुर्वश्च एतन्नामकौ राजर्षी' लेख प्रलाप मात्र है।

(४) ऋग्वेद मं० ३ सूक्त ३३ वें के १ ले मन्त्र में "विपाट छुतुद्री" पद आया है। इस सूक्त का ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार विश्वामि हैं। देखो सर्वानुक्रमणी पृ० १५—"प्रपर्वतानां सप्तोना संवादो नदीभिर्विश्वामित्रस्योत्तितीर्षोस्तत्र......इत्यादि। आर्षानुक्रमणी में भी लिखा है—

प्रपर्वतानामित्यस्मिन् विपाडित्येवमादिभिः।
नदीभिः सह संवादो विश्वामित्रस्योत्तित्तीर्षोः॥(३।६)

दोनों ग्रन्थों में ही विश्वामित्र का नदी के साथ संवाद करना लिखा है (क्या वेद में इतिहास मानने वाले इसका कोई उत्तर दे सकते हैं कि जड़ नदी ने विश्वामित्र के साथ किस तरह संवाद किया था ?) वह संवाद किस कारण तथा किस काल में हुआ था इसका उत्तर इन ग्रन्थों से कुछ भी नहीं मिलता। हाँ, निरुक्त २।२४ से अवश्य कुछ थोड़ा सा प्रकाश इस विषय पर पड़ता है। यास्क मुनि लिखते हैं—

तत्रेतिहासमाचक्षते[१]—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव.........स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ । अनुययुरितरे । स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव गाधा भवत इति ।

अर्थात्—इस विषय में इतिहास कहा जाता है—विश्वामि ऋषि पिजवन के पुत्र सुदास (सुदाः) राजा के पुरोहित थे । पुरोहिताई से मिला धन लेकर विपाट् और शुतुद्री के सङ्गम पर आये । लुटेरे चोर डाकुओं ने इन का पीछा किया । विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति कर कहा कि तुम गाध=थोड़े जल वाली हो जाओ । बृहद्देवता में भी ऐसी ही कथा लिखी है—

सूक्तं प्रेति तु नद्यश्च विश्वामित्रः समूदिरे ।
पुरोहितः सन्निज्यार्थं सुदासा सह यन्नृषिः ।
विपाट् छुतुद्र्यो सम्भेदं शमित्येते उवाचह ॥

(बृ० दे० ४।१०५,१०६)

यहाँ पर भी वैदिक शब्द कुछ स्वरूप भेद से लौकिक साहित्य

---

१ इस विषय पर विशेष विचार हमारे गुरुवर्य्य श्री पूज्य पं० ब्रह्मदत्त जी के "निरुक्त और वेद में इतिहास" विषयक लेख में किया गया है जो कि इसी सम्मेलन में ही पढ़ा गया था ।

में प्रयुक्त हुए हैं* । यथा—त्रिपाट्=विपाशा, शुतुद्री - शतद्रु, सुदाः=सुदास ।

इतिहास देखने से मालूम होता है कि राजा सुदाः या सुदास अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र थे । भागवत में लिखा है—

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् ।
दत्वाक्षहृद्यं चास्मै सर्वं कामस्तुतत्सुतः ॥
ततः सुदासः..।

(भा० स्क० ९ अ० ९ श्लोक १७, १८)

ऐसा ही टी० आ० कृष्णाचार्य मुद्रापित महाभारत आदिपर्व अ० १ ८ श्लो० ४९ में लिखा है । देखो महाभारत वर्णानुक्रमणी पृ० १९४ "सुदासः क्षत्रियः ऋतुपर्णस्य पुत्रः ।" निरुक्त में सुदास के पिता का नाम 'पिजवन' लिखा है । राजा ऋतुपर्ण का यह उपनाम होगा । उस काल में उपनाम रखने की बड़ी परिपाटी थी । यथा—सौदास मित्रसह कल्माषाङ्घ्रि ये तीनों नाम सुदास के पुत्र के थे । देखो भागवत स्क० ९ अ० ९ । महाभारत में इसे कल्माषपाद भी कहा गया है ।

अतः यह सिद्ध हुआ कि विश्वामित्र ने ऋतुपर्ण के पुत्र सुदास का उसके राज्यकाल में यज्ञ कराया था, वहीं से उसे धन मिला

---

* यह पाश्चात्यों के मतानुसार लिखा है हमारे सिद्धान्त में लौकिक तथा वैदिक दोनों पृथक २ स्वतन्त्र शब्द हैं ।

था। ऋषियों को मन्त्ररचयिता मानने वालों के पक्ष में विश्वामित्र ने उपर्युक्त मन्त्र तथा तत्सहपठित अन्य मन्त्रों को विपाशा तथा शतद्रु के सङ्गम पर पहुँच कर बनाया था, ऐसा मानना होगा।

उपर्युक्त नदियों के ये नाम किस कारण से हुए तथा किस समय में पड़े इस पर भी थोड़ा सा विचार करना होगा। इसीसे यहाँ की भी ग्रन्थि सुलझेगी। शुतुद्री नाम ऋ० १०।७५।५ में भी आया है। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क मुनि लिखते हैं।

"आर्जिकीयां विपाड् इत्याहु। ऋजीकप्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। विपाट् विपाटनाद्वा। विप्रापणाद्वा। पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः। तस्माद्विपाडुच्यते। पूर्वमासीदुरुञ्जिरा।"

(निरु. ९।२६)

अर्थात्—आर्जीकीया को विपाट् कहते थे। विपाट् नाम पड़ने का कारण यह है कि इसमें मरने की इच्छा वाले वसिष्ठ के बन्धन टूट गये थे।

महाभारत में यह कथा इस प्रकार आई है—

ततः पाशैस्तदात्मानं गाढं बद्ध्वा स महामुनिः।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः॥

अथच्छित्वा नदी पाशाँस्तस्यारिबलसूदन ।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत ॥

उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥

(म० भा० आ० प० अ० १७९ श्लोक ४-६)

शुतुद्री (शतद्रु) नाम का कारण निरुक्तकार ने नहीं लिखा। महाभारत में इस प्रकार लिखा है—

दृष्ट्वा स पुनेरवर्षिनदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याःस्रोतस्यपातयत् ॥
सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शत धा विद्रुता यस्मात्च्छतद्रु रितिविश्रुता ॥

(म० भा० आ० प० अ० १७९ श्लोक ८७९)

अर्थात्—पुत्र शोक से सन्तप्त हृदय वसिष्ठ ने मरने की इच्छा से अपने आपको पाशों से बान्ध कर नदी में छोड़ दिया। उस नदी में वसिष्ठ के पाश टूट गये। अतः उसका नाम महर्षि वसिष्ठ ने विपाशा रख दिया। कुछ दूर आगे चल कर वसिष्ठ ने एक और अतिवेग वाली भयानक नदी देखी। उसके स्रोत में भी मरने की इच्छा से कूद पड़े, किन्तु ऋषि को अग्नितुल्य प्रभाव वाला समझ कर वह सैकड़ों तरह दौड़ गई। अतः उसका नाम शतद्र हुआ।

उपर्युक्त आख्यान से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि वसिष्ठ ने दोनों नदियों का नाम विपाशा तथा शतद्रु अपने पुत्रों के मरणानन्तर रक्खा था।

वसिष्ठ के शक्ति आदि पुत्रों के मरने का इतिहास महाभारत में बड़े विस्तार से आया है। हम यहां उसका सारांश मात्र ही लिखते हैं जो अधिक देखना चाहें वे महाभारत आदिपर्व अ० १७६ तथा १७८ देखें।

"विश्वामित्र तथा वसिष्ठ का नन्दिनी नामक गौ के लिये परस्पर घोर युद्ध हुआ। जिसमें विश्वामित्र पराजित हो गया। दुःख से दुःखित होकर राज्यादि का त्याग कर जङ्गल में तपस्या के लिये चला गया। किन्तु मन में प्रतीकार का भाव बराबर बना रहा। एक समय इक्ष्वाकु वंशज राजा सौदास उपनाम कल्माषपाद आखेट खेलने के लिये बन में गया। लौटते समय अकस्मात् राजा तथा वसिष्ठ का पुत्र शक्ति दोनों एक रास्ते पर आमने-सामने आ गये। दोनों एक दूसरे को रास्ता छोड़ने के लिये कहने लगे। अन्त में राजा ने शक्ति को कोंड़े से मारा, शक्ति ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि राक्षस तुल्य कर्म करने से आज से तू मांसाहारी राक्षस होगा। बिश्वामित्र ने प्रतीकार का उपयुक्त काल समझ कर राजा के पास एक और राक्षस सहायतार्थ भेज दिया। कालान्तर में राजा ने वसिष्ठ के पुत्र शक्ति को मार दिया, शेष पुत्रों को विश्वामित्र ने उसी राक्षस द्वारा मरवा दिया।" इत्यादि।

इस कथा से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) वसिष्ठ के पुत्र शक्ति को राजा सुदास के पुत्र सौदास* उपनाम कल्माषपाद ने मारा था।

(२) ये घटना सौदास के राज्यकाल में हुई थी क्योंकि महाभारत ने सर्वत्र सौदास के लिये नृपति शब्द का प्रयोग किया है।

(३) इसी काल में वसिष्ठ ने आत्महत्या करने का यत्न किया था।

(४) उसमें विफल होकर इसी समय (सौदास के राज्यकाल) में क्रमशः दोनों नदियों का नाम विपाशा तथा शतद्रु रक्खा था।

इस घटना से पूर्व इन नदियों का क्या नाम था। इस विषय में महाभारत में कुछ नहीं लिखा। किन्तु यास्क ने विपाशा का पूर्व नाम 'उरुञ्जिरा' लिखा है, "पूर्वमासीदुरुञ्जिरा"। शतद्रु के विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा, अतः इसका पूर्व नाम अज्ञात ही है।

* किन्हीं किन्हीं ने सुदास तथा सौदास को एक ही व्यक्ति माना है। देखो गङ्गा का वेदाङ्क पृ० १८३ किन्तु यह उनकी भूल है प्रथम सौदास शब्द ही स्पष्ट अपत्य प्रत्ययान्त प्रतीत होता है। द्वितीय—भगवत् में भी वंश-वर्णन इसी प्रकार है—"ऋतुपर्णोनलसखः......ततः सुदासः.........तत्पुत्रः सौदासः.......॥" भा० स्क० ९, अ० ९, श्लो० १८।

ऐतिहासिक मन्तव्यानुसार यह मानना पड़ेगा कि जिसमें 'विपाट्' तथा 'शुतुद्री' नाम आया है। वह मन्त्र उपर्युक्त घटना के अन्दर ही बना होगा, चाहे वह काल सौदास का राज्य काल हो या अन्य का इसमें कुछ विचार नहीं।

किन्तु निरुक्त २।२४ द्वारा हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि विश्वामित्र ने सौदास के पिता सुदास का यज्ञ कराया था। उसमें मिले धन को लेकर विपाट् तथा शुतुद्री के सङ्गम पर पहुँच कर मन्त्रों द्वारा उनकी स्तुति की थी। उस मन्त्र में 'विपाट्छुतुद्री पद भी आया है। अब ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानने वाला पूर्वपक्षी इस बात का उत्तर दे कि जब सुदास के राज्य काल में उपर्युक्त दोनों नदियों के नाम विपाट् शुतुद्री थे ही नहीं पुनः विश्वामित्र ने दोनों नदियों की स्तुति विपाट्-शुतुद्री पदघटित ऋचा से कैसे की। इसका उत्तर पूर्वपक्षी किसी प्रकार भी नहीं दे सकता। अतः यह मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त ऋचा तथा तत्सह पठित अन्य ऋचाओं के कर्त्ता महर्षि विश्वामित्र नहीं हैं। ये ऋचायें सृष्टि के आरम्भ काल से इसी रूप में चली आयी हैं। उपर्युक्त मन्त्र में जिसके द्रष्टा विश्वामित्र हैं, आये विपाट् शुतुद्री नाम किसी नदी विशेष के नहीं हैं। कदाचित् यहाँ यह शङ्का हो कि ये नाम इन नदियों के क्यों पड़ गये इसका उत्तर यह है कि सृष्टि के आरम्भ में तथा तदनन्तर भी वेद से ही तत्तद्गुणविशिष्ट नाम चुन कर ऋषियों ने तत्तत् ग्राम नदी पर्वत आदि के नाम रखे (आजकल

भी कई लोग अपने पुत्र पुत्रियों का नाम वेद से ही चुन कर रखते हैं)। इसीलिये उनमें अन्वर्थता भी आ गई। इस बात को निरुक्तकार यास्क मुनि भी "पूर्वमासीदुरुञ्जिरा" पदों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। अर्थात् विपाट् का पूर्व नाम उरुञ्जिरा था। किन्तु उसमें पाश टूट जाने से वसिष्ठ ने उसका अन्वर्थ वैदिक नाम विपाट् रखा वही कालान्तर में विपाशा रूप में परिणत हो गया।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥
(मनु० १।२१)

इस प्रकार हमने ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा यह सुविशदतया दिखला दिया कि ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता। वे मन्त्र उन ऋषियों से जिन्हें उन मन्त्रों का रचयिता माना जाता है पूर्व भी इसी रूप में वर्तमान थे।

अब केवल 'मन्त्रकृत्' शब्द का क्या अर्थ है इसकी विवेचना करनी शेष है। मन्त्रकृत् शब्द मन्त्र उपपद होने पर कृञ् धातु से भूतार्थ में " सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः " (अष्टा० ३।२।८९) सूत्र से क्विप्प्रत्यय होकर बना है।

मन्त्र शब्द केवल वेद मन्त्रों के लिये ही प्रयुक्त नहीं होता। अपितु इसका अर्थ 'विचार' सामान्य भी होता है। देखो बाल्मीकीय रामायण युद्ध काण्ड—

तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिह ।
यथेदं वानर-बलं परं पारमवाप्नुयात् ॥
सम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्येह लङ्घने ।
(सर्ग ४ श्लो १०१ १०२)

अमात्य का नाम भी मन्त्री इसीलिए होता है कि वह भी राज्यादि के कार्य का सम्यक्तया विचार किया करता है। अतः साधारणरूप से मन्त्रकृत् शब्द का अर्थ 'विचार करने वाला है' यही इसका शुद्ध यौगिकार्थ है। अब यह विचारना है कि पूर्वपक्षी द्वारा उद्धृत प्रमाणों में इसका क्या अर्थ है।

(१) मन्त्रकृत् शब्द का अर्थ मन्त्रार्थद्रष्टा

मन्त्रकृत् शब्द में कृञ् धातु ही विवादाध्यसित है। पूर्वपक्षी इसका अर्थ 'बनाना' मानता है। हमारा पक्ष है कि कृञ् धातु का केवल 'अभूतप्रादुर्भाव' मात्र ही अर्थ नहीं अपितु इसके अनेक अर्थ हैं, जैसा आगे सप्रमाण सिद्ध किये जावेंगे। धातु पाठ में पठित अर्थ केवल उपलक्षण मात्र हैं। महाभाष्यकार लिखते हैं— "बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति" (१।३।१) अर्थात् धातु बहुत अर्थ वाली होती हैं।

हम सर्व प्रथम ९ वें प्रमाण को लेते हैं—"कुत्स ऋषिर्भवति-कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः" इसका अर्थ पूर्व पक्षी इस प्रकार

समझता है। 'औपमन्यवाचार्य के मत में कुत्स शब्द मन्त्रों के रचयिता होने से ऋषि के लिये प्रयुक्त होता है।' हमारी यह निश्चित धारणा है कि यहाँ 'कर्त्ता' पद का अर्थ 'बनाने वाला' नहीं अपितु 'द्रष्टा' है और ऐसा ही यास्क तथा औपमन्यव आचार्य भी समझते थे। सो कैसे ? देखो ऋषि शब्द का निर्वाचन करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं—"ऋषिर्दर्शनात्" (निरु० २।११) अर्थात् यास्काचार्य के मत में द्रष्टा होने से ही ऋषि कहाता है। यदि यहाँ यास्क को 'रचयिता' अर्थ अभिप्रेत होता तो, ऋषिर्दर्शनात्" ऐसा निर्वचन कदापि न करते। अपने इस अर्थ में प्राचीन नैरुक्ताचार्य्य औपमन्यव का प्रमाण भी देते हैं—" स्तोमान्ददर्श इत्यौपमन्यवः " अर्थात् मन्त्रों को देखने से ऋषि कहाता है। ऐसा औपमन्यवाचार्य्य का भी मत है। यहाँ स्पष्ट है। यास्क ने अपने तथा औपमन्यव के मत में ऋषि का अर्थ द्रष्टा ही किया है। जिस औपमन्यव का 'स्तोमान् ददर्श' वाक्य है। उसी का 'कर्त्तास्तोमानाम्' यह भी है। हम समझते हैं कि इन दोनों वाक्यों को पारस्परिक तुलनात्मक दृष्टि से विचारा जाय तो ननुनच के लिये कुछ भी स्थान नहीं मिलेगा। प्रथम वाक्य में ऋषि को मन्त्रद्रष्टा मानने वाले आचार्य ही यदि द्वितीय वाक्य में ऋषि को मन्त्र रचयिता कहे तो अवश्य ही उन्मत्त कहलायेगा। तथा उन दोनों परस्पर विरोधी वाक्यों को प्रमाण रूपेण उद्धृत करने वाला उससे भी अधिक पागल ठहरेगा। अतः इन दोनों वाक्यों की परस्पर संगति लगाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कर्त्तास्तोमानां' इस वाक्य में कर्त्तापद

का अर्थ दोनों को द्रष्टा ही अभिमत है। इससे यह भी प्रकट हुआ कि कृञ् धातु का अर्थ 'दर्शन' भी होता है। इसलिये 'मन्त्रकृत् पद का अर्थ 'मन्त्रार्थ द्रष्टा' ही उपयुक्त है। अब इसमें अन्य भी प्रमाण दिये जाते हैं।

(१) ऐतरेय ब्राह्मण वाले १म प्रमाण का अर्थ करता हुआ सायण लिखता है—

"ऋषिरतीन्द्रियार्थ द्रष्टा. मन्त्रकृत् करोति धातुस्तत्रदर्शनार्थः।" (पूना सं० पृ० ६७७)

अर्थात्—'मन्त्रकृत्' यहाँ करोति धातु दर्शनार्थक है।

(२) तैत्तिरीयारण्यक वाले ३ य प्रमाण पर भट्टभास्कर मिश्र लिखता है—

"अथ नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्।" (मै० सं० भा० ३ पृ० १)

अर्थात्—ऋषियों का मन्त्रद्रष्टा होना ही उनका मन्त्रकर्तृत्व है वास्तव में वे मन्त्र-रचयिता नहीं द्रष्टा ही हैं।

(३) कात्यायन श्रौत सूत्र वाले ५म प्रमाण पर कर्क लिखता है—

मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। नहि मन्त्राणां

करणं भवति। अनित्यत्वप्रसङ्गात्। तेन दर्शनार्थः कृञिति अध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातुनां 'गन्धनावक्षेपणसेवन साहसिक्य प्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः।' (अष्टा० ७।३।७७) इत्यात्मनेपद प्रीतपादने गन्धादीनर्थान् कृञादर्शयति॥

(का० सं० पृ०)

अर्थात्—मन्त्रकृत् शब्द से मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। मन्त्र रचे नहीं जाते। अन्यथा उनकी अनित्यता प्राप्त होगी। इसलिये कृञ् धातु दर्शनार्थक माननी चाहिये। धातुओं की अनेकार्थता देखी जाती है। सूत्रकार पाणिनि ने ही 'गन्धनावक्षेपण' आदि सूत्र द्वारा कृञ् को अनेकार्थकता दिखाई है।

इसी प्रकार अन्य भी कई प्रमाण दिये जा सकते हैं। किन्तु यहाँ इतने ही पर्याप्त हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कृञ्' धातु का अर्थ ऐसे स्थलों में 'दर्शन' ही होता है।

(२) मन्त्रार्थाध्यापक

ताण्ड्य ब्राह्मण वाले द्वितीय प्रमाण का पूरा पाठ इस प्रकार है—

शिशुर्ह वा आङ्गिरसो मन्त्रकृदासीत्, सपित्दन्

पुत्र का इत्यामन्त्रयत्। तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषीति, यो नः पितॄँस्तन्नः पुत्रका इत्यामन्त्रयस इति। सोऽब्रवीदहं वाव पिता यो मन्त्रकृदस्मि। ते देवेष्वपृच्छन्त। ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति॥

ताण्ड्य ब्राह्मण की इस कथा का अभिप्राय मनुस्मृति में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अध्यापयामास पितॄन्शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्र का इति हो वाच ज्ञानेन परिगृह्यतान्
॥१०१॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचु र्न्याय्यं वः शिशु
रुक्तवान्॥१५२॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पित इत्येव तु मन्त्रदम्
॥१५३॥ (मनु० अ० २)

अर्थात्—किसी समय अङ्गिरा मुनि का विद्वान् पुत्र अङ्गिरस अपने बड़ों को पढ़ा रहा था पढ़ाते हुए उसने 'हे बालकों' ऐसा

सम्बोधन किया । इससे क्रुद्ध हो कर उन्होंने इसका अभिप्राय देवों = विद्वानों से पूछा । विद्वानों नेउत्तर दिया कि अङ्गिरस ने उचित ही कहा है कि अज्ञ = अविद्वान् ही बालक होता है तथा मन्त्र-दाता—वेद पढ़ाने वाला ही पिता होता है । अन्यों ने भी ऐसा ही कहा ।

यहाँ स्पष्ट रूपेण 'एष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति' पदों का भाव 'पिता भवति मन्त्रदः' पदों द्वारा खोला गया है । 'मन्त्रदः' का अर्थ मन्त्र देने वाला अर्थात् मन्त्राध्यापक ही होता है । अतः 'एष वाव पिता यो यन्त्रकृदिति' का अर्थ भी 'यही मन्त्राध्यापक पिता है' करना उचित है । अतः इस संपूर्ण प्रमाण वाक्य का अर्थ इस प्रकार हुआ—

बालक आङ्गिरस वेदाध्यापकों में श्रेष्ठ वेदाध्यापक था । उसने अपने बड़ों के लिये 'हे बालकों' ऐसी सम्बोधन किया । इस पर बड़ों ने कहा कि हम बड़ों को तू बालक कहता है, अधर्माचरण करता है । वह (आङ्गिरस) बोला—मैं ही मन्त्राध्यापक पिता हूँ । बड़ों ने इसका अभिप्राय देवों—विद्वानों से पूछा उन्होंने कहा यही तुम्हारा पिता है जो कि मन्त्राध्यापक है ।

इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि 'कृञ्' धातु का अर्थ 'अध्यापन' भी है ।

सम्भवतः इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर कुमारिल भट्ट

अपने तन्त्रवार्त्तिक ग्रन्थ में उपर्युक्त ताण्डव ब्राह्मण के पाठ को उद्धृत कर लिखता है—

शिशुर्वै आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः ॥
(तं० वा० पृ० २३१ पूना सं०)

अर्थात्...यहाँ मन्त्रकृत् शब्द मन्त्र प्रवचन कर्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सायणाचार्य्य ताण्ड्य ब्राह्मण का भाष्य करता हुआ यहाँ पर भी 'मन्त्रकृत्' का अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' ही करता है।

३—मन्त्र विनियोजक।

हम ऊपर कृञ् धातु के 'दर्शन' तथा 'अध्यापन' ये दो अर्थ सप्रमाण दिखा चुके, एतदतिरिक्त भी कई अर्थों में इस का प्रयोग होता है यह पाणिनीय अष्टाध्यायी प्रथमाध्याय तृतीयपाद के सूत्र ३२ से ३५ तक देखने से स्पष्ट सिद्ध है। वैयाकरण शिरोमणि पतञ्जलि मुनि ने भी "भूवादयो धातवः" (१।३।१) सूत्र की व्याख्या करते हुए 'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति' लिख कर कृञ् धातु के भी कई अर्थ दर्शाये हैं। पाठ इस प्रकार है—

करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मली करणे चापि दृश्यते-पृष्ठं कुरु पादौ कुरु—उन्मृदान इति-

गम्यते । निक्षेपणे चापि वर्तते—कटे कुरु घटे कुरु-स्थापयतीति गम्यते ॥

अर्थात्—करोति (कृञ्) धातु अभूत प्रादुर्भाव (बनाना) मात्र अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होती अपितु 'पृष्ठं कुरु पादौ कुरु' इन प्रयोगों में निर्मली करण (साफ करना) तथा 'कटे कुरु घटेकुरु' इत्यादि स्थलों में स्थापन (डालने) अर्थ में भी देखी जाती है।

जब महाभाष्यकार के वचनानुसार 'कृञ्' धातु का अर्थ 'स्थापन' भी है तब मन्त्रकृत् शब्द का अर्थ—"यज्ञादौ कर्मण्यनेन मन्त्रेणेदं कर्म कर्त्तव्यमित्येवं रूपेण यो मन्त्रान् करोति व्यवस्थापयति स मन्त्रकृत्" अर्थात्—'यज्ञादि कर्मों में इस मन्त्र से इस कर्म को करना चाहिये। ऐसी व्यवस्था जो करता है वह 'मन्त्रकृत् कहाता है' हो सकता है। हमारा अपना विचार है कि "इन ऊर्ध्वान् मन्त्रकृतो वृणीते" इत्यादि श्रौत प्रयोगों में 'मन्त्रकृत्' का यही अभिप्राय है कि जो मन्त्र विनियोग को भली भाँति जानता हो वही यज्ञ में वरण करने योग्य होता है।

वेङ्कटेश्वर मुद्रित रघुवंश के सम्पादक गोविन्द शास्त्री ने 'मन्त्रकृत्' (५।४) शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"अत्र न मन्त्रान कुर्वन्तीति मन्त्रकृत इति व्युत्पत्तिर्गरीयसी वेदापौरुषेयत्व भङ्गात्। किन्तु मन्त्रान कुर्वन्ति प्रयोग विधिनेष्ट लाभाय प्रयुञ्जते इति मन्त्रकृतः......" (सं० १९६९ मुद्रित) अर्थात्—यहाँ मन्त्रों को बनाते हैं' ऐसी व्युत्पत्ति उचित नहीं क्यों कि इस से वेद का

अपौरुषेयत्व नष्ट होता है। अतः जो मन्त्रों को प्रयोग विध्यनुसार इष्ट फल की प्राप्ति के लिये प्रयोग करते हैं वे मन्त्रकृत् कहाते हैं ऐसा अर्थ ही युक्तियुक्त है।

इस प्रकार हमने संक्षेप से मन्त्रकृत् शब्द के तीन अर्थ (मन्त्रार्थ द्रष्टा, मन्त्रार्थाध्यापक मन्त्र विनियोजक) सप्रमाण सिद्ध कर दिये। सम्भवतः यह शब्द अन्य भी कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ हो तथापि इतना निश्चय अवश्य है कि समस्त वैदिक वाङ्मय में 'मन्त्रकृत्' शब्द 'मन्त्ररचयिता' अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ।

उपर्युक्त जितने अर्थों में 'मन्त्रकृत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है उतने ही अर्थों में 'मन्त्रकार' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इसमें केवल प्रत्यय मात्र का भेद है।

अब केवल सर्वानुक्रमणीकार के "यस्य वाक्यं स ऋषिः" सूत्र का अर्थ करना शेष है। हम ऊपर सप्रमाण सिद्ध कर चुके कि कात्यायन मुनि ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते थे। अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ—'यस्य यद् वाक्यं द्रष्टृत्व सम्बन्धेन स तस्य ऋषिः' अर्थात् द्रष्टा संबन्ध से जिस ऋषि का जो वाक्य=मन्त्र है उसका वह ऋषि कहाता है। अभिप्राय यह हुआ कि मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि होता है। षड्गुरुशिष्य ने यहाँ प्रमाण भी दिया है—'उक्तं च ऋषिर्दर्शनात्' अर्थात् निरुक्त में भी मन्त्र द्रष्टा को ही ऋषि कहा है।

अब हम ऋषि मन्त्र द्रष्टा ही होते हैं। इस विषय में कुछ एक

प्राचीन ग्रन्थकारों के प्रमाण उद्धृत करते हैं जिनसे इस प्रकृत विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा ।

[१] तैत्तिरीयादि संहिता ग्रन्थ तथा ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों जो कि वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं में भी ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही लिखा है । यथा—

(१) स एतं [भूमि र्भूम्ना ...] कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत् । (तै० सं० १।५।४)

(२) स [पूषा] एतमन्त्रमपश्यत् 'सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रति पश्यामीति । (तै० सं० २।६।८)

(३) शुनः शेपमाजिगर्त्तिं वरुणोऽगृह्णात् स एतां वारुणीमपश्यत् ...... उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदिति । (तै० सं० ५।२।१)

(४) उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदिति शुनः शेपो वा एतामाजिगर्त्तिर्वरुणगृहीतोऽपश्यत् ।(का०सं १९।११)

(५) स वामदेवः ...... एतं सूक्तमपश्यत् 'कृणुष्वपाजः प्रसितिं न पृथ्वीमि'ति । (का० सं० १०।५)

(६) जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय इति गौरिवीति र्ह वैशाक्त्यो ... एतत् सूक्तमपश्यत् । (ऐ०ब्रा० ३।१९)

(७) एतत् कवषः सूक्तमपश्यत् पञ्चदशर्चं—'प्रदेवत्राब्रह्मणेगातुरेतु' इति। (कौ० ब्रा- १२।१)

(८) इन्द्रक्रतुमाभर इति···वसिष्ठो वा एतं हत पुत्रोऽपश्यत्! (तां० ब्रा० ४।७।३)

(९) ऋषिर्दर्शनात् । (निरुक्त २।११)

(१०) स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः ।
(निरुक्त ३।११)

[२] मन्त्रों के ऋषि देवता तथा छन्द आदि के निर्देश करने वाले अनुक्रमणीकार भी ऋषियों को मन्त्र द्रष्टा ही मानते थे। यथा—

(१) ·······गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत् ॥
(सर्वा: २।१)

(२) ·······गाथिनो विश्वामित्रः स तृतीयं मण्डलमपश्यत् ॥ (सर्वा ३।१)

(३) वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत् ॥
(सर्वा ४।१)

(४) इमामू पूषात्यां घोरोऽपश्यत् ·······॥
(सर्वा ३।३६)

(५) बार्हस्पत्यो भारद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत् (सर्वा ६।१)

(६) सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्॥ (सर्वा ७।१)

(७) एते कुमार आग्नेयोऽपश्यत् वसिष्ठ एव वा वृष्टिकामः ॥ (सर्वा ७।१०२)

(८) ....आद्यं द्वयृचं प्रगाथोऽपश्यत् ॥ (सर्वा ८।१)

(९) यत्स्थः षट् प्रगाथोऽपश्यत्.... ॥ (सर्वा ८।१०)

(१०)....अन्त्यं वा तृचमाश्विनमनुष्टुभमपश्यत् (सर्वा ८।४२)

(११) मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्य समाम्नायानुपूर्वशः।
सूक्तमर्धर्चपादानामृक्षु वक्ष्यामि दैवतम् ॥
(वृहद्देवता १।१)

(१२) ऋग्वेदमखिलं ये हि द्रष्टारो मुनि पुंगवाः ॥
(आर्षानु १।१)

(१३) मधुच्छन्द प्रभृतिभि ऋषिभिर्हि तपोबलात्।
दृष्टानामनुवाकाना मृक्षु वाक्ष्याम्यतन्द्रितः॥
(अनुवाकानु २)

(१४) शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकम् .... ॥

(अनुवाकानु ३९)

(१८) यत्काम ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा वा भवति .... ॥

(अथर्व बृहत्सर्वा १।१)

आश्चर्य का विषय यह है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर ऋषियों को मन्तरचयिता सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की जाती है वे ही ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दों में ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही लिख रहे हैं अतः ऋषियों को मन्त्ररचयिता कहना दुराग्रह मात्र है।

हमने इस लेख में अति संक्षेप से ऋषियों के मन्त्ररचयितृत्व वाद पर विचार करते हुए निम्न बातों पर प्रकाश डाला है।

(१) ऋषि मन्त्र बनाने वाले नहीं हो सकते क्योंकि वे मन्त्र उन ऋषियों से जिन्हें पूर्व पक्षी मन्त्र रचयिता मानता है पूर्व वर्तमान थे। इसमें क्रमशः शुनःशेप, विश्वामित्र की कथाएँ उद्धृत की हैं।

(२) 'मन्त्रकृत्' शब्द वैदिक साहित्य में मन्त्ररचयिता के लिये कहीं पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ। हमने इस शब्द के क्रमशः मन्त्राध्यापक तथा मन्त्र विनियोजक ये तीन अर्थ सप्रमाण दिखाये हैं।

(३) वेदों के व्याख्याकार तित्तिरि कठ ऐतरेय यास्क आदि

महर्षि वृन्द ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते थे। इस में तैत्तिरीय संहितादि कई ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये हैं।

(४) मन्त्रों के ऋषि देवता आदि लिखने वाले शौनक तथा कात्यायनादि आचार्य भी ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में ऋषियों के लिये 'दृश' धातु का ही प्रयोग किया है।

अब उपर्युक्त विषय में आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती की धारणा को अन्त में उद्धृत कर उन्हीं के शब्दों में इस लेख को समाप्त करता हूँ—

"जिस जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिससे पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया और दूसरों को पढ़ाया भी इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है।"

जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें, वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं।"

[सत्यार्थप्रकाश समु० ७ पृ० २१२]

॥ इति शुभम् ॥

—:o:—

मुद्रक—यो० जयनाथ शर्म्मा, शिशु-प्रेस, प्रयाग

वैदिक सिद्धान्तों में अनुसंधान मे सहायता देने वाली सार्वदेशिक सभा की प्रसिद्ध पुस्तकें

स्वाध्याय प्रेमी आर्य्यों तथा लाइब्रेरियों के लिए अमूल्य रत्न !

यम पितृ परिचय

इस पुस्तक में यम और पितृ प्रकरण वाले वेद-मन्त्रों के विद्वत्तापूर्ण अर्थ किये गए हैं। इन वेद-मन्त्रों में विविध उपयोगी विषयों का समावेश है। उनमें से कुछेक इस प्रकार हैं:—

ईश्वर का सृष्टि कर्तृत्व, सृष्टि क्रम, जीवात्मा का नित्यत्व, पुनर्जन्म, शरीर रचना, वैद्यक शास्त्र, सूर्य्य विज्ञान, ज्योतिष आदि विद्याएं, कला-कौशल, यंत्र आदि का लाभ, विविध उपमाओं और नाना अलङ्कारों द्वारा प्राकृतिक जगत का चित्रण। वैय्यक्तिक, पारिवारिक और सामूहिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने के साधन, कुटुम्ब सहवास, ग्राम, नगर तथा देश के प्रति निज कर्त्तव्य आदि सुचरित्रों का आदेश इत्यादि इत्यादि।

ग्रन्थ प्रत्येक व्यक्ति के पढ़ने और व्यावहारिक जीवन में काम आने योग्य है। लाइब्रेरियों के लिये अमूल्य रत्न है।
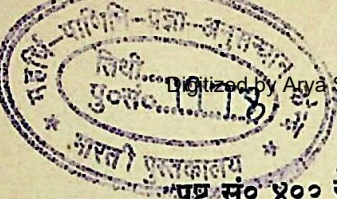
पृष्ठ सं० ४०० से ऊपर। छपाई-सफ़ाई उत्तम, कागज़ बढ़िया आकार-प्रकार आकर्षक। मूल्य लागत मात्र—अजिल्द २) सजिल्द २॥)।

दयानन्द सिद्धान्त भास्कर

पुस्तक की विशेषता यह है कि भिन्न-भिन्न महत्वपूर्ण विषयों और सिद्धान्तों पर श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की भिन्न-भिन्न पुस्तकों व पत्र-व्यवहार तक के वर्णित मत को एक जगह संग्रह किया गया है। यह पुस्तक सम्पादक के ११ वर्ष के कठिन परिश्रम का फल है। जिस किसी विषय में भी ऋषि दयानन्द की सम्मति जानना चाहो वही प्रकरण इस पुस्तक में देख लो।

यह पुस्तक प्रत्येक आर्य परिवार और आर्यसमाज के पुस्तकालय में रहनी चाहिये।

पृष्ठ सं० २०० से ऊपर, छपाई-सफ़ाई बढ़िया, आकार-प्रकार आकर्षक। मूल्य १)।

संस्कृत सत्यार्थ प्रकाश

यह महर्षि दयानन्द कृत हिन्दी सत्यार्थ प्रकाश का संस्कृत अनुवाद है। अनुवादक गुरुकुल वृन्दावन के संस्कृत विभाग के मुख्याध्यापक श्री० पं० शङ्करदेव पाठक हैं। अनुवाद की भाषा मधुर एवं सरल है। महर्षि का आशय ज्यों का त्यों प्रगट किया गया है। मूल्य अजिल्द २) सजिल्द २॥)।

आर्य्य पर्व्वपद्धति

आर्य जगत में ठीक से त्यौहार मनाने तथा उनके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करा देने के लिए इस पुस्तक की रचना की गई है। इस पुस्तक का प्रत्येक आर्य्य परिवार और आर्य्यसमाज में रखना जरूरी है। मूल्य ।||)।

आर्य्य-समाज क्या है ?

यह पुस्तक श्री० पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० प्रयाग द्वारा लिखी गई है। पुस्तक में आर्य्य-समाज का संक्षिप्त इतिहास मौजूद है। संस्थाओं और आर्य्य विद्वानों आदिकों के १९ चित्र हैं। मूल्य ।||)।

वैदिक सिद्धान्त

इस पुस्तक में आर्य्य विद्वानों द्वारा लिखित भिन्न-भिन्न विषयों पर अत्युत्तम संग्रह है। मूल्य १|) सजिल्द १||)।

सत्य निर्णय

इस पुस्तक द्वारा महात्मा गांधीजी के आर्य्य-समाज पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने पर कहीं भी यह नहीं खटकता कि लेखक ने उस समाज की अवहेलना की है जिसके महात्माजी अधिकारी हैं विद्वान लेखक ने तर्क, युक्ति, प्रमाणों और स्वयं महात्मा

गांधी के अपने लेखों से सिद्ध कर दिया है कि महात्मा जी ने आर्य्य-समाज की जो आलोचना की थी वह निराधार थी तथा सत्य और औचित्य की सीमा के बाहर चली गई थी। पुस्तक का मूल्य १।) ।

योग रहस्य

लेखक—श्रीनारायण स्वामी जी। इस पुस्तक में योग के अनेक रहस्यों को प्रगट करते हुए उन विधियों को भी बतलाया गया है, जिनसे कोई भी नया आदमी जिसे रुचि हो योग के अभ्यासों को कर सकता है। आत्मिकोन्नति के जिज्ञासुओं को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। मूल्य ॥) ।

विद्यार्थी जीवन रहस्य

लेखक—श्री महात्मा नारायण स्वामी जी। इस पुस्तक में श्रीस्वामी जी महाराज ने बालक और बालिकाओं के लिये प्रायः सब ही आवश्यक बातों का निर्देश कर दिया है। यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये जीवन में मार्ग-प्रदर्शक का काम देगी। मूल्य ॥) ।

मिलने का पता—

सार्वदेशिक सभा कार्यालय, देहली।

—:o:—